प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रातदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नही, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज बन गया। उन्होने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्बोधनो के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा मे आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियो के जीवन–वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम मे सम्यक्त्वपराक्रम भाग 1–2 किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेगे।

युगद्रष्टा युगपवर्तक ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का महाप्रयाण भीनासर मे हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग मे जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण [illegible] आदर्श समाजसेवी स्व सेठ चम्पालालजी बाठिया का चिरस्मरणीय, उल्लेखनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासो और समाज के उदार सहयोग से

धर्मनिष्ठ सुश्राविका श्रीमती राजकुवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ म समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन क लिए 60,000 रु एक मुश्त प्रदान किय गय थ जिसस पूर्व म लगभग सभी किरणावलियॉ उनक सोजन्य स प्रकाशित की गई थी। सत्साहित्य–प्रकाशन क लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला सस्करण श्रीमान् चन्दनमलजी कटारिया एव गातमचन्दजी कटारिया हुबली के साजन्य से प्रकाशित किया गया ओर प्रस्तुत किरण 7 (सम्यक्त्वपराक्रम भाग 1–2) के अर्थ सहयोगी श्री रिखबचदजी जेन (बेद) नई दिल्ली/गगाशहर हैं। सस्था सभी अर्थ–सहयोगियो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती ह।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	थादला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	श्री जीवराजजी कवाड
माता	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	लिमडी (म प्र)
दीक्षा तिथि	वि स 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	रतलाम (म प्र)
युवाचार्य पद तिथि	वि स 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	वि स 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	भीनासर (राज)
स्वर्गवास तिथि	वि स 2000, आषाढ शुक्ला अष्टमी

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

+ विपत्तियो की तमिस्र गुफाओ के बीच जिसने सयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
+ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।
+ सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
+ उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।
+ परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव–गाव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
+ शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस मे खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
+ अल्पारभ–महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
+ स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन मे गहरे चितन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
+ महात्मा गाधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय–समय पर लाभ उठाया।
+ जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
+ सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू–मडल पर विचरण करते थे।

"हुक्म संघ के आचार्य"

1 आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा – दीक्षा वि स 1870, स्वर्गवास वि स 1917

ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।

2 आचार्य श्री शिवलालजी म सा – दीक्षा वि स 1891, स्वर्गवास वि स 1933

प्रतिभा-सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।

3 आचार्य श्री उदय सागरजी म सा – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि स 1954

विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तो के आदर्श, विलक्षण।

4 आचार्य श्री चौथमलजी म सा – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि स 1957

महान क्रियावान, सागर सम गभीर, सयम के सशक्त पालक, शात–दात, निरहकारी, निर्ग्रन्थ शिरोमणि।

5 आचार्य श्री श्रीलालजी म सा – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि स 1977

सुर–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।

6. आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स 2000

ज्योतिर्धर, महान क्रातिकारी, क्रातदृष्टा, युगपुरुष।

7 आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि स 2019

शात क्राति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।

8 आचार्य श्री नानालालजी म सा – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स 2056

समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यानयोगी।

9 आचार्य श्री रामलालजी म सा – दीक्षा 2031, आचार्य वि स. 2056 से

आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशातमना।

अर्थ–सहयोगी परिचय
विकास भारत की उदीयमान प्रतिभा
श्री रिखबचदजी जैन (बैद)
नई दिल्ली/गगाशहर

गगाशहर–बीकानेर निवासी उदारमना, शास्त्रज्ञाता, जीवन–साधक स्व श्री जेसराजजी बैद के कनिष्ठ पुत्र श्री रिखबचदजी बैद का जन्म 24 अगस्त, 1944 को मरुनगरी बीकानेर मे मातुश्री श्रीमती सुगनीदेवीजी की रत्नकुक्षि से हुआ था। मौलिक प्रतिभा के धनी श्री रिखबचदजी ने कक्षा दस, बी कॉम सहित एफ सी एम, एम बी ए व डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधिया प्रतिभा सूची मे स्थान प्राप्त करके अर्जित की। इस शिक्षायात्रा मे आपने बीकानेर कोलकाता, यू के और वेस्टइडीज के प्रतिष्ठित सस्थानो मे अध्ययन किया। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कला जैन हैं। आपके एक पुत्री ज्योति जैन है। ज्योति जैन ने बी कॉम तक शिक्षा प्राप्त की और गारमेन्ट टैक्नोलॉजी मे दक्षता अर्जित की। ज्योति जैन का विवाह श्री सजय जैन एम बी ए से हुआ है। आपके बडे भाई श्री झवरलालजी बैद भी समाजसेवी हैं। दोनो अग्रज प्रतिष्ठित व्यवसायी हैं।

इस प्रकार समृद्ध पारिवारिक परिवेश प्राप्त श्री रिखबचदजी जैन व्यापारिक क्षेत्र मे विशद अनुभव के साथ सप्रति टी टी इण्डस्ट्रीज के स्वामी है तथा टी टी लिमिटेड, नई दिल्ली के चैयरमैन हैं। समाजसेवा और अन्य लोक–कल्याणकारी कार्यो के क्षेत्र मे आपने शत–शत प्रतिष्ठित सस्थाओ के माध्यम से सेवा प्रदान की है व कर रहे हैं। इन सस्थाओ मे से कुछ विशेष उल्लेखनीय निम्न प्रकार है– नॉर्दर्न इडिया टैक्सटाइल इण्डस्ट्री रिसर्च एसोसिएशन, धर्मयात्रा महासघ दिल्ली, भगवान महावीर विकलाग सहायता समिति जयपुर सेवा भारती अशोक विहार मडल नई दिल्ली, अहिसा इन्टरनेशनल मानव सेवा फाउन्डेशन दिल्ली, श्री अ भा साधुमार्गी समता युवा सघ रतलाम, श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ बीकानेर, सुगनीदेवी–जेसराज बैद हॉस्पीटल एव रिसर्च केन्द्र बीकानेर, बीकानेर मातृ मगल प्रतिष्ठान, मास्टर पृथ्वीनाथ बास्केट बॉल क्लब, करौल बाग श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ दिल्ली महावीर भवन दिल्ली, भगवान महावीर 2600वी जन्म कल्याणक समिति दिल्ली अहिसाप्रिय समाज दिल्ली, फैडरेशन ऑफ इण्डियन, देहली होजियरी उद्योग मडल होजियरी एक्सपोर्ट पैनल व कौसिल स्वाध्याय सघ दिल्ली जैन महासभा दिल्ली रिषभदेव फाउन्डेशन, एस एस जैन सभा

अशोक विहार हनुणमल पारख धर्मशाला (समता भवन) गगाशहर, श्री साधुमार्गी जैन सघ बीकानेर, सेवा सदन बीकानेर।

आप निम्न सस्थाओ मे कार्यसमिति सदस्य के रूप मे सेवाए दे रहे है अथवा दे चुके है। जैन विश्व भारती लाडनू, जैन स्कूल दिल्ली, महावीर इटरनेशनल, विश्व जैन काग्रेस, अहिसा फाउण्डेशन, महासती मोहिनीदेवी शिक्षण सस्थान, ओसवाल पचायती ट्रस्ट गगाशहर, वर्ल्ड वेजिटेरियन काग्रेस, महावीर मैमोरियल, महाराजा उग्रसेन हॉस्पीटल, पजाबी बाग जवाहर विद्यालय उदयपुर, जवाहर विद्यापीठ भीनासर, जवाहर जैन शिक्षण सस्थान कानोड, प्राकृत भारती एकेडमी जयपुर, दिल्ली व केन्द्रीय सरकार की अनेक जनसेवी सस्थाओ मे सहभागिता सहित आप सेवा–क्षेत्र मे हजार हाथो से समर्पित है। विश्व–स्तरीय अनेक सस्थाओ मे भी आपका मानद प्रतिनिधित्व है जिस पर भारत को गर्व है।

इसी प्रकार की शताधिक सस्थाओ के माध्यम से आप लोक–कल्याण और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के उत्कर्ष हेतु समर्पित है। वाणिज्य क्षेत्र मे आपकी तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। ये पुस्तके राष्ट्रपति श्री आर वेकटरमन और लोकसभा अध्यक्ष श्री पी ए सगमा जैसे दिग्गज और विद्वान राष्ट्रनायको द्वारा समादृत है। आप अनेक पत्रो के सम्पादक है। विश्व की प्रतिष्ठित व्यावसायिक मैगजीनो मे आपके लेख छपते रहते है। आपको राजस्थान विभूषण सहित अब तक 19 अखिल भारतीय और प्रतिष्ठित क्षेत्रीय पुरस्कारो से सम्मानित किया जा चुका है।

श्री रिखबचदजी बैद विकासमान भारत की उदीयमान प्रतिभा हैं। एक पवित्र हृदय और आध्यात्मिक सवेदना से युक्त श्री जैन सरस्वती और लक्ष्मी के वरदपुत्र हैं। प्रतिभा, श्रम और निष्ठा से विकास के आप एक जीवन्त प्रतिमान हैं। दूरद्रष्टा और साध्य–साधन की पवित्रता मे साक्षात् प्रतिरूप श्री जैन की व्यावसायिक प्रामाणिकता आदर्श है। उच्च नैतिक चरित्र के धनी, गाधीवादी जीवन–दर्शन के अध्येता और साधक, सार्वजनिक जीवन मे शुचितापूर्ण सेवा और समर्पणा के पर्याय श्री रिखबचदजी बेद (जेन) बहुमुखी प्रतिभा के धनी है। इस निश्छल समाजसेवी और शिक्षाविद् उद्योगपति से देश और समाज को बहुत आशाए हैं। आपने समय–समय पर साधुमार्गी जेन सघ की अनेक प्रवृत्तियो मे मुक्तहस्त दान दिया है। इसी कडी मे आपने आचार्यश्री ... जा म सा के प्रवचन साहित्य 'जवाहर किरणावली' के इस भाग ... अर्थ–सहयोग देकर सस्था को गौरवान्वित किया है।

अनुक्रम

सम्यक्त्व–पराक्रम भाग–2

सूत्र परिचय (क)

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के "सम्यक्त्वपराक्रम" नामक 26वे अध्ययन के विषय मे यहा कहना है। इस अध्ययन का अर्थ बहुत विस्तृत और विशाल है। मगर पहले यह देख लेना चाहिए कि श्री उत्तराध्यनसूत्र किस प्रकार बना है? यह बात जानने से इस पर प्रीति और रुचि उत्पन्न होगी।

परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है। विचार करने पर यह कथन सत्य प्रतीत होता है क्योकि समग्र सूत्र के अर्थ के कर्त्ता अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान ही माने जाते है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख पाया जाता है कि—

अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गुत्थइ गणहरा।

अर्थात्—अर्हन्तो की अर्थ रूप प्ररूपणा को ही गणधर सूत्र के रूप मे गूथते है।

अतएव यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन सूत्र के अर्थकर्त्ता भगवान् महावीर ही है। उसके पाठ के कर्त्ता कोई महास्थविर और सूत्र के पारगामी महानुभाव है। भद्रबाहु स्वामी ने इस सूत्र पर निर्युक्ति रची है। अत यह सब कथन युक्तिसगत ही प्रतीत होता है।

भद्रबाहु स्वामी द्वारा निर्युक्ति की रचना होने से यह भी प्रकट है कि प्रस्तुत सूत्र भद्रबाहु स्वामी से पहले की रचना है और वह उसे प्रमाणभूत मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हे इस सूत्र के प्रति प्रेमभाव भी था, इसी कारण उन्होने इस पर निर्युक्ति की रचना की और अपना सूत्रप्रेम प्रकट किया है। अलबत्ता भद्रबाहु स्वामी के विषय मे मतभेद है कि किन भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति की रचना की है? लेकिन अगर इस सूत्र के निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के धारक हो और उपलब्ध निर्युक्ति उनकी ही रचना हो तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होने भी यह सूत्र प्रमाणभूत माना है। इससे

यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रो मे से उद्धृत ओर महा पुरुषो की वाणी का सकलन है।

निर्युक्ति के पश्चात् इस सूत्र पर चूर्णि और अनेक सस्कृत टीकाए भी रची गई हैं। सुना जाता है कि इस सूत्र की 59 टीकाए लिखी गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि भद्रबाहु के परवर्त्ती आचार्यो ने भी इसे प्रमाणभूत माना है और इसे जनता के लिए विशेष उपयोगी तथा उपकारक समझ कर ही इस पर इतनी टीकाए लिखी है। इन सब बातो पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र प्रमाणभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत सूत्र का नाम 'उत्तराध्ययन' क्यो पडा ? यह भी विचारणीय है। 'उत्तर' शब्द अनेकार्थवाचक है, परन्तु यहा 'क्रम' अर्थ मे विवक्षित है। एक कार्य के बाद जो दूसरा कार्य किया जाता है वह उत्तर कार्य कहलाता है अर्थात् पिछले कार्य को 'उत्तर' कार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र आचारागसूत्र के बाद पढाया जाता है, अत इसे उत्तराध्ययनसूत्र कहते हैं। इस प्रकार मूल आचाराग रहा और उत्तरतदनन्तर का उत्तराध्ययन ठहरा। इस प्रकार आचाराग सूत्र के बाद पढाया जाने के कारण इस सूत्र का नाम उत्तराध्ययन पडा है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु उत्तराध्ययनसूत्र से पहले श्री आचारागसूत्र पढने का क्रम शय्यभव आचार्य से पहले का है।

जब शय्यभव आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र ग्रथित किया ओर वह थोडे मे ही विशेष ज्ञान कराने वाला सूत्र मान लिया गया, तब उत्तराध्ययनसूत्र से पहले आचारागसूत्र के पठन–पाठन के बदले दशवैकालिकसूत्र के पठन–पाठन का क्रम चालू हो गया। चार मूल सूत्रो के दशवैकालिक भी एक मूल सूत्र गिना गया है और उसके पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन–अध्यापन होता है, इस कारण भी इसे उत्तराध्ययन कहते हैं। मतलब यह हे कि दशवैकालिकसूत्र मूल है और वह पहले पढा–पढाया जाता है और उसके उत्तर–अनन्तर इस सूत्र का अध्ययन किया जाता है, अतएव इसे 'उत्तर–अध्ययन' कहते हैं।

'उत्तराध्ययन' शब्द पर थोडा विचार और करे। 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'प्रधान' भी होता है। मगर यहा 'प्रधान' अर्थ की अपेक्षा 'क्रमप्रधान' अर्थ करना अधिक सगत प्रतीत होता है। अगर 'उत्तर' शब्द का 'प्रधान' अर्थ ही किया जाये तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सूत्र किस प्रकार प्रधान ह ओर किससे प्रधान है? अगर यह सूत्र किसी अन्य सूत्र की अपेक्षा प्रधान हे तो क्या कोई सूत्र अप्रधान भी है? ऐसा मानना सदोष हे। अतएव यही कहना उचित है कि यह सूत्र क्रम से अन्य सूत्र से प्रधान है अर्थात् क्रमप्रधान हे।

प्रस्तुत सूत्र के 'उत्तराध्ययन' नाम का रहस्य समझाने के लिए टीकाकार कहते है। 'उत्तर' शब्द के अनेक निक्षेप होते है।, परन्तु मूल निक्षेप नाम, स्थापना, दव्य और भाव–यह चार ही है। अतएव यहा उन्ही के आधार पर विचार किया जाता है। इन चार निक्षेपो मे से भी नाम–निक्षेप और स्थापनानिक्षेप सुगम और थोडे अर्थ वाले होने से छोड देते हैं। शेष दो–द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप के आधार पर ही विचार किया जाता है।

'उत्तर' शब्द के दव्य अर्थ मे जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम भेद होते है। जघन्य का अर्थ 'छोटा' होता है। छोटा कहने से यह भी मानना पडता है कि कोई उससे बडा भी है, क्योकि बडे की अपेक्षा ही छोटा हो सकता है। बडा न हो तो छोटा नही हो सकता। अर्थात् छोटे से कोई उत्तर–बडा होना ही चाहिये। किसी चीज को उत्कृष्ट कहने का अभिप्राय यह कि दूसरी चीज उससे बडी नही है। इस प्रकार जघन्य स–उत्तर है और उत्कृष्ट अनुत्तर है। तीसरा भेद मध्यम है, जो सउत्तर भी है और निरुत्तर भी है। उदाहरणार्थ–एक, दो और तीन के अको मे दो का अक मध्यम है। दो का यह अक एक की अपेक्षा उत्तर है और तीन के अक की अपेक्षा अनुत्तर है। एक का अक स–उत्तर ही है। जघन्य अर्थात् छोटे से छोटा बडे की अपेक्षा रखता है और किसी के बडा होने से ही कोई छोटा होता है, इसलिए वह स–उत्तर है। परन्तु जो उत्कृष्ट होता है वह जघन्य की अपेक्षा तो रखता है पर उत्कृष्ट की उपेक्षा नही रखता। इस प्रकार जघन्य मे स–उत्तर गुण रहता है और उत्कृष्ट मे स–उत्तर गुण नही वरन् अनुत्तर गुण रहता है। मध्यम मे दो के अक की तरह स–उत्तर और अनुत्तर–दोनो गुण पाये जाते है।

यह हुई द्रव्य–उत्तर की बात। द्रव्य–उत्तर की अपेक्षा इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम ठीक ही है, क्योकि 'उत्तराध्ययन' नाम अनुत्तर की अपेक्षा रखता है और इसका अनुत्तर सूत्र आचाराग है। इस सूत्र से पहले आचारागसूत्र पढाया जाता है, अतएव यह उत्तराध्ययनसूत्र स–उत्तर है।

भाव–उत्तर की अपेक्षा उत्तराध्ययनसूत्र, पाच भावो मे से क्षायोपशमिक भाव मे है। क्षायोपशमिक भाव मे जो सूत्र हैं उनमे भी क्रम है। जैसे–आचारागसूत्र भी क्षायोपशमिक भाव मे है और उत्तराध्ययन भी क्षायोपशमिक भाव मे है। किन्तु आचारागसूत्र पूर्ववर्त्ती है और उत्तराध्ययन उसका उत्तरवर्त्ती है। इसी कारण इसे उत्तराध्ययन कहते है। आचारागसूत्र को अगर क्षायोपशमिक भाव मे न गिना जाये तो दोष आएगा। अतएव यह तो मानना ही चाहिये कि दोनो सूत्र क्षायोपशमिक भाव मे है तथापि आचारागसूत्र अनुत्तर है और उत्तराध्ययन

स–उत्तर है क्योकि आचाराग सूत्र को पढने के पश्चात् ही उत्तराध्ययनसूत्र पढाया जाता है। इस कथन की साक्षी मे निर्युक्तिकार की निम्नलिखित गाथा उपस्थित की जाती है–

कम उत्तरेण पगय आयारस्सेव उवरियाण तु।
तम्हाउ उत्तरा खलु अज्झयणा होंति णयव्वा।।

साराश यह है कि इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम पडने का कारण यह है कि यह सूत्र क्रमप्रधान है। क्रम का तात्पर्य यहा भावक्रम है ओर भाव मे भी क्षायोपशमिक भाव से अभिप्राय है।

कहा जा सकता है कि यह सूत्र क्षायोपशमिक भाव मे ही क्यो है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है – अनुयोग–द्वारसूत्र मे बतलाया गया है कि चार ज्ञान स्थापना रूप हैं। लेना, देना, समझना, समझाना वगैरह कार्य श्रुतज्ञान से ही होते हैं और श्रुतज्ञान का समावेश क्षायोपशमिक भाव मे है। इसलिए यह सूत्र भी क्षायोपशमिक भाव मे है। क्षायोपशमिक भाव मे भी क्रम हे। इस क्रम मे आचारागसूत्र प्रथम है और यह उत्तराध्ययनसूत्र उससे पीछे है और इसी कारण आचारागसूत्र के पश्चात् ही यह सूत्र पढाया जाता ह। इस कारण इसे 'उत्तराध्ययन' सूत्र कहते हैं।

यद्यपि क्रम यही है किन्तु ऊपर उद्धृत की हुई गाथा मे निर्युक्तिकार ने 'तु' पद का जो प्रयोग किया है, उससे पूर्वोक्त क्रम से भिन्न क्रम का भी बोध होता है। आचाराग को पढाने के पश्चात् ही उत्तराध्ययन को पढाने का क्रम शय्यभव आचार्य तक ही चला। जब शय्यभव आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की तब दशवैकालिकसूत्र पहले और उत्तराध्ययनसूत्र उसके बाद पढाया जाना आरम्भ हो गया। इस प्रकार आचाराग का स्थान दशवेकालिक ने ले लिया। फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र अपने स्थान पर ही रहा। इस क्रम–परिवर्तन से ज्ञात होता हे कि उत्तराध्ययनसूत्र दशवेकालिक से पहले की रचना है।

दशवैकालिकसूत्र की रचना के विषय मे एक कथा प्रसिद्ध हे कि शय्यभव आचार्य के निकट उनका पुत्र भी सयम का पालन करता था अर्थात् मुनि था। उन्होने किसी साधु को नही बतलाया था कि यह साधु ससार–पक्ष का मेरा पुत्र है। शय्यभव आचार्य को यह मालूम हो गया कि इस साधु की उम्र सिर्फ छह महीना शेष है। उन छह महीनो मे ही वह मुनि अपनी आत्मा का कल्याण कर सके, इस उद्देश्य से शय्यभव आचार्य ने दशवेकालिक सूत्र की रचना की थी।

शय्यभव आचार्य के ससार–पक्ष के पुत्र का नाम मणिकपुत्र था। मणिकपुत्र के कालधर्म पाने पर शय्यभव आचार्य को कुछ खेद हुआ। यह देखकर साधुओ ने उनसे पूछा–'महाराज! जब अन्य मुनि कालधर्म पाते हैं तब आपको इतना खेद नही होता, फिर इस शिष्य के वियोग से इतना खेद क्यो हो रहा है?' आचार्य ने साधुओ से कहा–'यह शिष्य मेरा अगजात ही था।' यह सुनकर साधुओ ने कहा–'आपने हम लोगो को पहले यह बात क्यो नही बतलाई?' आचार्य बोले–'अगर यह बात तुम्हे पहले बता दी होती तो तुम उसे लाड लडाते और उसको आत्म–कल्याण मे बाधा उपस्थित होती। उसकी आयु छह महीना शेष है, यह बात मुझे मालूम हो गई थी। इस अल्पकाल मे ही वह आत्मकल्याण कर सके, इस उद्देश्य से मैने पूर्व अगो मे से उद्‌धृत करके दशवैकालिकसूत्र की रचना की थी। अब वह कालधर्म पा चुका है, अत इस सूत्र को जिस शास्त्रसागर से सकलित किया गया है, उसी मे फिर मिलाये देता हू।

इस कथानक से विदित होता है कि शय्यभव आचार्य की इच्छा दशवैकालिक सूत्र को सूत्रो मे ही मिला देने की थी, मगर उस समय का सघ सगठित था। सघ ने आचार्य से प्रार्थना की–'भगवन् ! वह शिष्य आपका पुत्र था तो क्या यह सघ आपका पुत्ररूप नही है ? काल धीरे–धीरे विषम होता जा रहा है और विषमकाल मे विशाल और गम्भीर सूत्रो का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतएव आत्मार्थी भद्रपुरुषो के लिए यह सूत्र अतीव उपकारक होगा। अनुग्रह कर इसे इसी रूप मे रहने दीजिए।'

शय्यभव आचार्य ने कहा–'इस सूत्र मे जो भी कुछ है, भगवान् की ही वाणी है। इसमे मेरा अपना कुछ भी नही है।' इस प्रकार कहकर उन्होने दशवैकालिकसूत्र स्थविरो के समक्ष रख दिया। सूत्र देखकर स्थविरो ने उसे बहुत पसन्द किया और फिर तो उसने आचाराग का स्थान ग्रहण कर लिया। पहले पहल यही सूत्र पढाया जाने लगा।

पानी मे किसी प्रकार का भेद नही होता। जिनवाणी के विषय मे भी यही बात है। जिनवाणी भी सबके लिए समान है। पानी चाहे तालाब मे हो चाहे कूप मे हो आता सब एक ही जगह से है, अर्थात् वर्षा होने पर ही सब जगह पहुचता है। इसलिए पानी मे किसी प्रकार का भेद नही होता। परन्तु जब लोग तालाब या कुए से पानी का घडा भर लाते हैं तो उसमे अहकार का मिश्रण हो जाता है। यह पानी मेरा है यह तेरा है इस प्रकार का भेदभाव उत्पन्न हो जाता है। परन्तु वास्तव मे पानी मे कुछ भी भेद नही होता। प्रकृति

सब के लिए पानी बरसाती है। प्रकृति समान रूप से सबका जैसा पोषण करती है, वैसा पोषण दूसरा कोई नही कर सकता।

जिस प्रकार सरोवर या कूप मे से घडा भर लेने से जल अपना माना जाता है, तथापि जहा से पानी लाया गया है, वह जलाशय सबको पानी देता है। इसी प्रकार जिनवाणी सरोवर के समान हे। जिनवाणी के इस शीतल सुधामय सरोवर मे से अपनी बुद्धि द्वारा सूत्ररूपी घट भर लिया जाये तो कोई हानि नही, परन्तु यह वाणी तो भगवान् की ही है।

कहने का आशय यह है कि निर्युक्तिकार ने जो 'तु शब्द का प्रयोग किया है, वह इस बात को स्पष्ट करता है कि आचारागसूत्र पढाने के पश्चात् उत्तराध्ययन पढाने का क्रम पहले से चला आता था, परन्तु जब दशवैकालिक सूत्र की रचना हुई और उसने आचाराग का स्थान ग्रहण कर लिया, तब भी उत्तराध्ययनसूत्र तो दशवैकालिक के बाद ही पढाया जाता रहा। इस प्रकार क्रम मे किचित् परिवर्त्तन होने पर भी प्रस्तुत सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम सार्थक ही बना रहा। पहले दशवैकालिक और पीछे इस सूत्र का पठन–पाठन होने के कारण यह उत्तर ही रहा।

दशवैकालिकसूत्र के पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन– अध्यापन होने की दृष्टि से भी 'उत्तराध्ययन' नाम सार्थक ही है और सूत्र प्रधान नही किन्तु क्रमप्रधान होने के कारण भी 'उत्तराध्ययन' नाम उचित है। जिनवाणी मे सभी सूत्र प्रधान है, अत उत्तर शब्द का अर्थ क्रमप्रधान मानना ही सगत प्रतीत होता है।

यहा एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र, आचाराग का अनन्तरवर्त्ती क्यो कहा गया है? क्या आचारासूत्र के कर्त्ता ही उत्तराध्ययनसूत्र के भी कर्त्ता हे? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि ऐसा नही है। आचारागसूत्र सुधर्मास्वामी का अत्तागम– आत्मागम–कहलाता है और यह उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरो का अत्तागम–आत्मागम कहा गया हे।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस सूत्र के कुछ अध्ययन सम्वादात्मक है, कुछ अध्ययन प्रत्येकबुद्ध द्वारा कथित है और कुछ अध्ययन जिनवाणी मे से सकलित है। ऐसी दशा मे उत्तराध्ययनसूत्र को स्थविरा का आत्मागम कहना कहा तक सगत हो सकता हे? इस कथन के अनुसार इस सूत्र क अनेक कर्त्ता सिद्ध होते हे। इसका समाधान यह हे कि इस सूत्र के विषय मे यही प्रसिद्ध है कि यह स्थविरो का बनाया हुआ हे आर नदीसूत्र मे इस कथन का समर्थन किया गया हे।

फिर प्रश्न खडा होता है कि नन्दीसूत्र के कथनानुसार भगवान् के जितने शिष्य होते है, उतने ही उनके पइन्ना (प्रकीर्णक) बनते है, और उत्तराध्ययनसूत्र की गणना प्रकीर्णक मे होती है। ऐसी स्थिति मे कौन–सी बात ठीक समझी जाये?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह सभी बाते ठीक है। यद्यपि यह सूत्र पूर्व–अग मे से उद्धृत तथा अग के उपदेश मे से सग्रह करके बनाया गया है फिर भी इसे स्थविरो की रचना कहना गलत नही है। उदाहरणार्थ–एक महिला रोटी बनाती है मगर उसने रोटी बनाने का सामान नही बनाया है। अगर उस महिला से पूछा जाये तो वह यही कहेगी कि मैने रोटी का सामान तो नही बनाया है सिर्फ सामान का उपयोग करके रोटी तैयार कर दी है। इस पकार उस महिला ने रोटी के सामान से रोटी बनाई है, फिर भी कोई यह कहता है–'यह रोटी उस महिला की है' तो कोई कहता है–'यह रोटी आटे की है।' इन दोनो बातो मे से कौन–सी बात सही मानी जाये? दोनो बाते ठीक माननी होगी।

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरो ने रचा है या जिनवाणी मे से सगृहीत और अगो मे से उद्धृत है, यह दोनो ही कथन सही है। वस्त्रो और बटनो को आप अपना बतलाते है, परन्तु उनमे आपका क्या है? फिर भी आप अपना तो कहते ही हैं। इसी प्रकार इस उत्तराध्ययनसूत्र के कर्त्ता के विषय मे भी अनेक दृष्टियो से विचार करने पर उक्त दोनो ही कथन सत्य प्रतीत होगे।

यह उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरो ने पूर्व अग मे से उद्धृत करके और जिनवाणी के उपदेश का तथा सम्वाद आदि का सग्रह करके बनाया है। अब यह देखना चाहिये कि इस सूत्र का सार क्या है? इस सूत्र का सार है– बध और मोक्ष का स्वरूप बतलाना। कल्पना कीजिये, एक मनुष्य भयानक जगल मे फस गया है। जगल मे पद–पद पर सापो और सिहो का भय है। ऐसे विकट समय मे दूसरा मनुष्य आकर उससे कहता है–तुम मेरे साथ चलो, मै तुम्हे इस भयकर जगल से बाहर निकाल कर सुरक्षित नगर मे पहुचा दूगा। ऐसी दशा मे जगल मे फसा हुआ मनुष्य आगन्तुक मनुष्य का रूप देखेगा या उसके भाव पर विचार करेगा? वह रूप न देखकर उसके कहने के भाव पर ही विचार करेगा? वह यही सोचेगा कि जब यह मनुष्य मुझे जगल मे से बाहर निकाल कर सुखपूर्वक नगर मे पहुचाए देता है तो मुझे इस विषय मे तर्क–वितर्क करने की आवश्यकता ही क्या है?

इस उदाहरण को ध्यान मे लेकर इस सूत्र के सार पर विचार कीजिये कि इस सूत्र का सार क्या है? यह सूत्र जब ससार रूपी जगल से बाहर निकाल कर मोक्ष–नगर मे सुखपूर्वक पहुचा देता है तो फिर इसके विषय मे व्यर्थ तर्क–वितर्क करने से क्या लाभ है? इस सूत्र मे आजकल की अनेक पुस्तको के समान भाषा का आडम्बर नही है और जो सूत्र इतना प्राचीन है, उसमे भाषा का आडम्बर हो भी कहा से? भाषा का आडम्बर न होते हुए भी यह सूत्र कैसा है? और जिन पुस्तको मे भाषा का आडम्बर है, वह कैसी हैं? उनमे कितना विकार भरा हुआ है, इस बात पर विचार करना चाहिये। अतएव इस सूत्र से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य बातो मे न उलझे रहकर यही देखो कि यह सूत्र परमात्मा की शरण मे ले जाने वाला है या नही?

अमुक वाणी, सूत्र या ग्रथ भगवान् की शरण मे ले जाने वाले हैं या नही, इस बात की परीक्षा करना आप सीख लेगे तो फिर कभी किसी के धोखे मे न आएगे। हृदय मे अशुद्ध भावना तो जागृत ही रहती है। उसे जागृत करने की आवश्यकता नहीं होती। कहावत है–'सन्त जागे धर्म–ध्यान के लिए, चोर जागे चोरी के लिए।' इस प्रकार अशुभ भावना तो जागृत ही रहती है, मगर मुख्य काम तो शुभ भावना का जागृत करना है और वह काम भगवान् की वाणी और महात्माओ की शरण गहने से ही हो सकता है। भगवान् की वाणी जागृत और बलवान् बनाती है। भगवान् की वाणी जागृत, प्रेरित करने वाली और बल देने वाली है, इस बात की परीक्षा करने के लिए कहा गया है –

ज सोच्चा पडिवज्जति तवं खतिमहिसय।

–उत्तराध्ययन, 3, 8

अर्थात्–जिस वाणी को सुनकर तप, क्षमा ओर अहिसा की इच्छा जागृत हो, वही वास्तव मे भगवद्वाणी (सूत्र) है और जिसके श्रवण से भोग, क्रोध तथा हिसा की इच्छा जागृत हो वह शास्त्र नही, शस्त्र है। शास्त्र के विषय मे इस बात का ध्यान रक्खोगे तो कभी ओर कही भी ठगे नही जा सकोगे। जिसके द्वारा अहिसा, तप तथा क्षमा की जागृति होती हो, ऐसी वस्तु कही से भी लेने मे हानि नही है, परन्तु जिसके द्वारा हिसा, भोग तथा क्रोध की इच्छा जागृत हो, ऐसी वस्तु कही से भी मत लो। फिर वह चाहे किसी के नाम पर ही क्यो न मिलती हो।

अब देखना चाहिए कि तप, क्षमा और अहिसा का अर्थ क्या है? कुछ लोग उपवास को ही तप कहते है, परन्तु उपवास तो तप का एक अग मात्र है। बारह प्रकार के तपो मे उपवास भी एक तप है। परन्तु उपवास मे ही तप की समाप्ति नही हो जाती। अगर किसी मे उपवास करने का सामर्थ्य नही है तो वह तप के दूसरे अग द्वारा भी तप कर सकता है। तप से आत्मा को शान्तिलाभ होता है। जब आत्मा को शान्ति मिले तो समझना चाहिए कि यह तप का ही प्रभाव है। इसी प्रकार क्षमा और अहिसा के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

सूत्र परिचय (ख)

उत्तराध्ययनसूत्र के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने पर विदित होता है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रो मे से उदधृत किया गया है और इसमे अनेक महापुरुषो की वाणी का सग्रह किया गया है। इस कथन के लिए प्रमाण क्या है? निर्युक्तिकार कहते हैं –

अगप्पमवा जिणमासिया य पत्तेयबुद्धसवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीस उत्तरज्झयणा।।

अर्थात्–इस उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो मे से कुछ अध्ययन अगो मे से है अर्थात् पूर्व अग मे से उदधृत हैं। अग का अर्थ यहा दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद मे भी पूर्व के भाग मे से उदधृत किये गये हैं। जैसे–परिषह नामक दूसरे अध्ययन के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह अध्ययन 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व के सत्रहवे अध्ययन मे से उदधृत किया गया है। कुछ अध्ययन जिनभाषित है, जैसे–गौतम स्वामी को सम्बोधन करके भगवान् ने उपदेश दिया है। यद्यपि भगवान् ने गोतम स्वामी को सम्बोधन करके उपदेश दिया है तथापि वास्तव मे वह उनके सभी शिष्यो के लिए हे। कुछ अध्ययन प्रत्येकवुद्ध द्वारा कहे गये है, जैसे कपिल मुनि द्वारा कहा हुआ अध्ययन। कपिल मुनि प्रत्येकवुद्ध थे। उन्होने जो अध्ययन कहा वह प्रत्येकवुद्ध द्वारा कथित अध्ययन है। कुछ अध्ययन सम्वाद रूप मे कहे गये हैं, जेसे नमिराज–इन्द्र तथा केशी–गोतम के बीच हुए सम्वादो का कथन करने वाले अध्ययन।

इन सब अध्ययनो का कथन इस प्रकार करना चाहिए, जिससे बध और मोक्ष का सम्बन्ध प्रकट हो। क्योकि इनमे यही बतलाया गया है कि कर्म किस प्रकार बधते है और कर्मबन्धन से मोक्ष किस प्रकार होता हे? पहले बध का ठीक–ठीक स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझा जा सकता हे, क्योकि जिसका वध हे, उसी को मोक्ष मिलता हे। जव तक वः

। का स्वरूप न समझ लिया जाय तब तक मोक्ष का स्वरूप भी नही समझा जा सकता। कुछ लोगो का कहना है कि मोक्ष स्वयसिद्ध वस्तु है, परन्तु जैनशास्त्र ऐसा नही मानते। मोक्ष को सिद्ध करने वाला बध ही है और कर्मबध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस पकार बध होने से ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध करने के लिए विनीतता और अविनीतता का कारण बतलाया जाता है। विनीतता मोक्ष का कारण है और अविनीतता बध का कारण है। मोक्ष का सामान्य अर्थ है–छूटना। बधनो से छूटना–मुक्त होना ही मोक्ष है। अतएव मोक्ष का स्वरूप समझने के लिए सर्वपथम बध का स्वरूप समझने की आवश्यकता है।

आजकल लोगो मे विनय बहुत कम देखा जाता है। आस्तिकता, नम्रता और विनयशीलता की न्यूनता होने से ही कर्मबध होता है, ऐसा शास्त्रकारो का कथन है।

यहा तो केवल यही बतलाना है कि उत्तराध्ययनसूत्र बध और मोक्ष का स्वरूप पतिपादन करता है। इस सूत्र के प्रथम अध्ययन मे विनय का स्वरूप बतलाया गया है और अट्ठाईसवे अध्ययन मे मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। मोक्ष के मार्ग मे प्रयाण करने के लिए पराक्रम की आवश्यकता होती है और इसीलिए 29 वे अध्ययन मे 'सम्यक्त्व पराक्रम' का प्रतिपादन किया गया है। इस 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक अध्ययन मे क्या बतलाया गया है इसी बात का यहा वर्णन किया जायगा।

'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक 29वे अध्ययन का वर्णन करने से पहले यह देखना है कि इस अध्ययन का 'मोक्षमार्ग' नामक अट्ठाईसवे अध्ययन के साथ क्या सम्बन्ध है? पूर्वापर सम्बन्ध समझे बिना कही जाने वाली बाते ठीक नही होती। नीति मे भी कहा – 'सहित श्रेयसी' अर्थात् एक का दूसरे के साथ सम्बध जोडने मे कल्याण है और पारस्परिक सम्बन्ध न जोडने मे कल्याण नही है। शरीर के अगोपाग यो भले ही अलग–अलग दिखाई देते है, मगर वास्तव मे यह सब परस्पर सम्बद्ध है। अगोपागो के पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव मे काम नही चल सकता। दाहिना और बाया हाथ जुदा–जुदा है, मगर दोनो के सहकार के बिना काम नही चल सकता। एक हाथ मे अगूठी पहनने के लिए दूसरे हाथ की सहायता चाहिए ही। यह बात दूसरी है कि खुद का दूसरा हाथ बेकाम हो और कोई दूसरा मनुष्य अगूठी पहना दे, फिर भी दूसरे हाथ की आवश्यकता तो रहती ही है। इस तरह जैसे शरीर के विभिन्न अगो मे सगति की आवश्यकता है उसी प्रकार सूत्र मे भी सगति की आवश्यकता

सूत्र परिचय (ख)

उत्तराध्ययनसूत्र के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने पर विदित होता है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रो मे से उद्धृत किया गया है और इसमे अनेक महापुरुषो की वाणी का सग्रह किया गया है। इस कथन के लिए प्रमाण क्या है? निर्युक्तिकार कहते है –

अगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसवाया।
बधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा।।

अर्थात्–इस उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो मे से कुछ अध्ययन अगो मे से है अर्थात् पूर्व अग मे से उद्धृत है। अग का अर्थ यहा दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद मे भी पूर्व के भाग मे से उद्धृत किये गये हैं। जैसे–परिषह नामक दूसरे अध्ययन के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह अध्ययन 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व के सत्रहवे अध्ययन मे से उद्धृत किया गया हे। कुछ अध्ययन जिनभाषित है, जैसे–गौतम स्वामी को सम्बोधन करके भगवान् ने उपदेश दिया है। यद्यपि भगवान् ने गौतम स्वामी को सम्बोधन करके उपदेश दिया है तथापि वास्तव मे वह उनके सभी शिष्यो के लिए हे। कुछ अध्ययन प्रत्येकबुद्ध द्वारा कहे गये है, जैसे कपिल मुनि द्वारा कहा हुआ अध्ययन। कपिल मुनि प्रत्येकबुद्ध थे। उन्होने जो अध्ययन कहा वह प्रत्येकबुद्ध द्वारा कथित अध्ययन है। कुछ अध्ययन सम्वाद रूप मे कहे गये हैं जेसे नमिराज–इन्द्र तथा केशी–गोतम के बीच हुए सम्वादो का कथन करने वाले अध्ययन।

इन सब अध्ययनो का कथन इस प्रकार करना चाहिए, जिससे बध ओर मोक्ष का सम्वन्ध प्रकट हो। क्योकि इनमे यही बतलाया गया हे कि कर्म किस प्रकार बधते हें और कर्मबन्धन से मोक्ष किस प्रकार होता हे? पहले बध का ठीक–ठीक स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझा सकता है, क्योकि जिसका बध हे, उसी को मोक्ष मिलता है। जब तक व्

। का स्वरूप न समझ लिया जाय तब तक मोक्ष का स्वरूप भी नही समझा जा सकता। कुछ लोगो का कहना है कि मोक्ष स्वयसिद्ध वस्तु है, परन्तु जैनशास्त्र ऐसा नही मानते। मोक्ष को सिद्ध करने वाला बध ही है और कर्मबध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस पकार बध होने से ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध करने के लिए विनीतता और अविनीतता का कारण बतलाया जाता है। विनीतता मोक्ष का कारण है और अविनीतता बध का कारण है। मोक्ष का सामान्य अर्थ है–छूटना। बधनो से छूटना–मुक्त होना ही मोक्ष है। अतएव मोक्ष का स्वरूप समझने के लिए सर्वप्रथम बध का स्वरूप समझने की आवश्यकता है।

आजकल लोगो मे विनय बहुत कम देखा जाता है। आस्तिकता, नम्रता और विनयशीलता की न्यूनता होने से ही कर्मबध होता है, ऐसा शास्त्रकारो का कथन है।

यहा तो केवल यही बतलाना है कि उत्तराध्ययनसूत्र बध और मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करता है। इस सूत्र के प्रथम अध्ययन मे विनय का स्वरूप बतलाया गया है और अट्ठाईसवे अध्ययन मे मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। मोक्ष के मार्ग मे प्रयाण करने के लिए पराक्रम की आवश्यकता होती है और इसीलिए 29 वे अध्ययन मे 'सम्यक्त्व पराक्रम' का प्रतिपादन किया गया है। इस 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक अध्ययन मे क्या बतलाया गया है इसी बात का यहा वर्णन किया जायगा।

'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक 29वे अध्ययन का वर्णन करने से पहले यह देखना है कि इस अध्ययन का 'मोक्षमार्ग' नामक अट्ठाईसवे अध्ययन के साथ क्या सम्बन्ध है? पूर्वापर सम्बन्ध समझे बिना कही जाने वाली बाते ठीक नही होती। नीति मे भी कहा – 'सहित श्रेयसी' अर्थात् एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध जोडने मे कल्याण है और पारस्परिक सम्बन्ध न जोडने मे कल्याण नही है। शरीर के अगोपाग यो भले ही अलग–अलग दिखाई देते है, मगर वास्तव मे यह सब परस्पर सम्बद्ध है। अगोपागो के पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव मे काम नही चल सकता। दाहिना और बाया हाथ जुदा–जुदा है, मगर दोनो के सहकार के बिना काम नही चल सकता। एक हाथ मे अगूठी पहनने के लिए दूसरे हाथ की सहायता चाहिए ही। यह बात दूसरी है कि खुद का दूसरा हाथ बेकाम हो और कोई दूसरा मनुष्य अगूठी पहना दे, फिर भी दूसरे हाथ की आवश्यकता तो रहती ही है। इस तरह जैसे शरीर के विभिन्न अगो मे सगति की आवश्यकता है उसी प्रकार सूत्र मे भी सगति की आवश्यकता

है। इसी कारण यह देखना आवश्यक है कि अट्ठाईसवे और उनतीसवे अध्ययनो मे सगति है या नही? अगर सगति है तो किस प्रकार की?

अट्ठाईसवे अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उनतीसवे का नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' है। इस तरह दोनो मे नाम का अन्तर होने पर भी भाव की दृष्टि से दोनो के बीच सगति है। दोनो अध्ययनो का आशय एक ही है। अट्ठाईसवे अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उसमे मोक्ष के मार्ग का निरूपण किया गया है। उनतीसवे अध्ययन मे जिन 73 बोलो की चर्चा की गई, उनमे पहले–पहल 'सवेग' है और अन्तिम बोल 'अकर्म' है। सवेग और अकर्म–दोनो मोक्ष के ही साधन हैं, इस प्रकार इन दोनो अध्ययनो का आपस मे सम्बन्ध है और इस प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण ही निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का 'अप्रमत्त अध्ययन' नाम प्रकट किया है। निर्युक्तिकार ने यह मध्यवर्ती नाम अपनाया है। इस अध्ययन का आदि नाम 'सम्यक्त्व–पराक्रम' है, मध्यनाम 'अप्रमत्तअध्ययन' है और अन्त का नाम 'वीतरागसूत्र अध्ययन' हैं। निर्युक्तिकार आचार्य ने इन तीन नामो मे से मध्य का नाम ग्रहण कर लिया है, जिससे कि आदि और अन्त के नामो का भी ग्रहण हो जाये। सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम अप्रमाद से ही होता है और वीतरागता की प्राप्ति भी अप्रमाद से ही होती है। इसी कारण आचार्य ने इस अध्ययन का नाम 'अप्रमाद–अप्रमत्त अध्ययन' रक्खा है।

समकित–पराक्रम और वीतरागता की प्राप्ति अप्रमाद से ही होती है, इसलिए आचार्य ने मध्य द्वार मे रखे हुए दीपक की भाति इस मध्य–नाम को ग्रहण किया है। मध्य द्वार मे रखे दीपक का प्रकाश भीतर भी होता है और बाहर भी, इसी प्रकार 'सम्यक्त्वपराक्रम' और 'वीतरागता' के ऊपर प्रकाश डालने वाला होने के कारण आचार्य श्री ने यह मध्य नाम 'अप्रमाद' स्वीकार किया है। अप्रमाद पर प्रकाश डालने से सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागता पर किस प्रकार प्रकाश पडता है, यह बात यथासमय आगे बतलाई जायगी।

अप्रमाद की व्याख्या चार अनुयोगद्वारो से की जाये तो यह बात स्पष्ट रूप से समझी जा सकेगी कि प्रमाद किसे कहना चाहिए? चार अनुयोगद्वारो द्वारा व्याख्या करने का अभिप्राय क्या है? इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है– जैसे किसी नगर मे द्वार की मार्फत ही प्रवेश किया जा सकता है। द्वार ही न हो तो नगर मे प्रवेश नही हो सकता और यदि किसी महानगर मे एक–दो ही द्वार हो तो प्रवेश करने वालो को कठिनाई उठानी पडती है। इसलिए नगर के चारो ओर चार द्वार बनाये जाते हैं। इससे प्रवेश करने

मे सरलता होती है। इसी प्रकार शास्त्र की व्याख्या करने मे तथा समझने मे चार द्वारो की व्यवस्था की गई है जिन्हे अनुयोगद्वार कहते है।

उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय– यह चार अनुयोग द्वार हैं। उपक्रम की व्याख्या इस पकार की गई है– 'उपक्रम्यतेऽनेन इति उपक्रम ।' अर्थात् दूर की वस्तु को जो समीप लावे वह उपकम कहलाता है। वस्तु को यथास्थान स्थापित करने वाला निक्षेप कहलाता है। कल्पना कीजिए किसी को घर बनाना है। घर बनाने के लिए दूर–दूर का लकडी–पत्थर आदि सामान नजदीक लाया जाता है। इसे उपकम समझना चाहिए। पश्चात् यह सामान यथास्थान रखा जाता है, यह निक्षेप समझिए। अगर सामान नजदीक न लाया जाये अर्थात् उपक्रम न किया जाये और उपक्रम करके भी अगर निक्षेप न किया जाये अर्थात् वस्तुओ को यथास्थान स्थापित न किया जाये तो मकान कैसे बन सकता है ? इस प्रकार दूर की वस्तु को पास मे लाना उपक्रम है और पास मे लाई वस्तु को यथास्थान रखना निक्षेप है।

उपक्रम के दो भेद हैं – (1) सचित्त उपक्रम और (2) अचित्त उपक्रम। सचित्त उपक्रम के द्विपद, चतुष्पद और अपद के भेद से तीन प्रकार है अर्थात् द्विपद चतुष्पद और अपद जीवो का उपक्रम करना सचित्त उपक्रम है। बहुत–से लोग भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, परन्तु शास्त्र तो उपक्रम करने के लिए कहता है। अगर भाग्य–भरोसे बैठे रहना ही ठीक होता तो शास्त्रकार उपक्रम करने के लिए क्यो कहते? सचित्त के ही समान अचित्त अर्थात् निर्जीव वस्तु का भी उपक्रम होता है।

सचित्त वस्तु का उपक्रम किस प्रकार होता है, यह समझाने के लिये एक द्विपद मनुष्य या बालक का उदाहरण दिया जाता है। अगर किसी बालक का उपक्रम न किया जाये अर्थात् उसे शिक्षा के सस्कार न दिये जाए तो वह कैसा बन जायेगा? यह दूसरी बात है कि आजकल उपक्रम करने मे भी, शिक्षा–सस्कार के नाम पर बहुत कुछ खराबिया हो रही हैं और फिर भी उसे उपक्रम का नाम दिया जाता है। इस बात को ध्यान मे रखकर उपक्रम के दो भेद किये गये है – (1) परिक्रम और (2) वस्तुविनाश। किसी वस्तु के गुणो की वृद्धि करना अथवा उसका विकास करना परिक्रम है और वस्तु के गुणो का नाश करना या उसके गुणो का ह्रास करना वस्तु विनाश है। किसी वस्तु के गुणो का विकास करना या ह्रास करना दोनो ही उपक्रम हैं। पर विकास करना परिक्रम और ह्रास करना वस्तु विनाश है। अतएव बालक के गुणो का विकास किस प्रकार करना चाहिए इस विषय मे खूब विवेक रखना आवश्यक है।

शास्त्र को समझने के लिए पहले उपक्रम करने की आवश्यकता होती है। जो वस्तु दूर हो उसे उपक्रम करके समीप लाओ और फिर उसे यथास्थान रखकर उसका निक्षेप करो। वस्तु को यथास्थान स्थापित करना ही निक्षेप कहलाता है। निक्षेप चार प्रकार का हे – (1) नाम (2) स्थापना (3) द्रव्य और (4) भाव।

वस्तु का निक्षेप करने के पश्चात् उसका अनुगम करो अर्थात् रचना करो। ह्रास्व–दीर्घ, उच्चारण–घोष तथा सूत्र के अन्यान्य अतिचारो को दूर करके सूत्र की जैसी रचना करनी चाहिए वैसी ही रचना करना अनुगम कहलाता है। अनुगम करने के अनन्तर नय की सहायता से सूत्र को समझना चाहिए। नय की सहायता के बिना सूत्र समझ मे नही आ सकते।

शास्त्र–नगर मे प्रवेश करने के लिए सिद्धान्त मे चार अनुयोगद्वार बतलाये गये हैं। जहा इन चार अनुयोगद्वारो मे अपूर्णता होती है वहा शास्त्रनगर मे प्रवेश करने मे कठिनाई उपस्थित होती है। अर्थात् जहा यह चार अनुयोगद्वार नही है वहा प्रथम तो शास्त्रनगर मे प्रवेश ही नही हो सकता, कदाचित् होता भी है तो उन्मार्ग से होता है। कई लोग कहते है कि शास्त्र हमारी समझ मे नही आते। मगर चार अनुयोगद्वारो के अभाव मे शास्त्रनगर मे किस प्रकार प्रवेश हो सकता है? कोई मनुष्य नगर के द्वार मे प्रवेश न करे किन्तु नगर मे प्रवेश करना चाहे तो वह कैसे प्रवेश कर सकता है? ओर वह कैसे जान सकता है कि अमुक नगर मे क्या हे? इसी प्रकार शास्त्ररूपी नगर मे प्रवेश करने के लिए चार अनुयोगद्वार, चार द्वारो के समान हें। इन्ही के द्वारा शास्त्रनगर मे प्रवेश हो सकता है और शास्त्र मे क्या है, यह बात जानी जा सकती है।

प्राचीनकाल के लोग महात्माओ के पास से शास्त्र वाचते थे ओर उनका रहस्य समझते थे। परन्तु आजकल यन्त्रो द्वारा शास्त्र छपाये जाते हे और कुछ लोग शास्त्रो का ऊपरी वाचन करके समझने लगते हे कि हम भी शास्त्रो के ज्ञाता है। परन्तु महात्माओ की शरण मे गए बिना न तो शास्त्र ठीक–ठीक समझे जा सकते हैं और न उनके विषय मे सम्यक विचार ही हो सकता है। अतएव महात्माओ की शरण मे जाकर शास्त्र समझो। ऐसा किये बिना शास्त्र भलीभाति नही समझे जा सकते।

किसी भी सामग्री के सम्बन्ध मे अनुकूल विचार किया जाये तो कार्य भी अनुकूल होता है और विरुद्ध विचार किया जाये तो विरुद्ध कार्य होता हे।

उदाहरणार्थ विचार कीजिये कि आपका शरीर मूल्यवान् है या यह वस्तुए मूल्यवान् है? इस शरीर की चमडी महगी है या कपडे महगे ? डॉक्टरो के कथनानुसार चमडी मे अनेक गुण है। शरीर की चमडी मे जो गुण है, उन्ही के कारण हमारा जीवन टिका हुआ है। शरीर की चमडी मे शीत और उष्णता सहन करने की क्षमता है। लोह का पिड गरम किया जाये तो अग्नि मे से निकलने के पश्चात् थोडे समय तक ही वह गरम रह सकता है और फिर ठण्डा पड जाता है। पर यह शरीर ही ऐसा है जो ठण्ड के दिनो मे गरम रहता है और मुह मे भाप निकलता है, परन्तु गर्मी के दिनो मे ठण्डा रहता है। यह शरीर की त्वचा का ही विशिष्ट गुण है।

ऐसी विशिष्ट गुण वाली चमडी कुदरत की कैसी सेवा करने पर मिली होगी, इस बात पर तुमने किसी दिन विचार किया है? तुम इस चमडी को बडी वस्तु मानते हो या वस्त्रो को? इस विशिष्ट गुण वाली चमडी को भूलकर लोग वस्त्रो के प्रलोभन मे पड जाते है। वे इस बात का विचार ही नही करते कि ठूस–ठूस कर कपडे पहनने से चमडी को कितनी हानि पहुचती है? वस्त्र तो वास्तव मे लज्जानिवारण के लिए ही थे और है, परन्तु लोगो ने इन्हे श्रृगार की वस्तु समझ लिया है। इस भूलभरी समझ के कारण सर्दी न होने पर भी लोग इतने अधिक अनावश्यक वस्त्र शरीर पर लाद लेते है कि बेचारी चमडी बेहाल हो जाती है। लोग वस्त्रो के द्वारा अपना झूठा बडप्पन दिखलाना चाहते है। इस भ्रम के कारण भी इतने अनावश्यक वस्त्र पहनते है कि भीतर पसीना पैदा होता और वह शरीर मे ही समा जाता है। अन्त मे इसका दुष्परिणाम यह होता है कि चमडी के विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते है और इस कारण भावी सतति भी दिन–प्रतिदिन कमजोर हो जाती है।

शहर के लोग जितने कपडे पहनते हैं उतने ग्रामीण या जगल मे रहने वाले नही पहनते। लेकिन अधिक बीमार कौन होता है? ग्रामीणजन या नागरिक लोग? लोग इस पर विचार कर अपनी भूल सुधार ले तो अब भी गनीमत है। सामाजिक–प्रतिक्रमण करते समय वस्त्र उतार देने की पद्धति मे भी गभीर रहस्य छिपा हुआ है। हम साधुओ के लिए भगवान् ने लज्जा की रक्षा करने के लिए ही विधान किया है और वस्त्रो के शौकीन बनने का निषेध ही किया है। इस प्रकार त्वचा का महत्व भूल कर कपडे के ममत्व मे पड जाना और त्वचा को निर्बल बनाना हानिकारक है।

खाने–पीने मे भी इसी प्रकार की भूल हो रही है। पाचन शक्ति चाहे कितनी ही कम क्यो न हो तथापि उसकी परवाह न करके मिठाई मिल जाये

तो खाने से नही चूकते। गरिष्ठ और मिष्ट पदार्थ खाने और पचाने के लिए पाचनशक्ति तैयार है या नही, इस बात का विचार कोन करता है? जीभ स्वाद बतलाने वाली है, मगर लोगो ने उसे चटोरी बना दिया है। इस प्रकार का चटोरपन अस्वाभाविक और हानिप्रद है। अगर किसी मनुष्य को एक महीने तक मिठाई पर ही रखा जाये, मिठाई के सिवा और कोई चीज खाने को न दी जाये तो क्या वह सिर्फ मिठाई पर ही रह सकेगा? इसके विरुद्ध किसी को सादी दाल–रोटी पर रखा जाये तो वह सरलतापूर्वक रह सकेगा या नहीं? मिठाई पर लम्बे समय तक नही रहा जा सकता, यही बात सिद्ध करती है कि मिठाई शरीर के लिए अनुकूल नही है। फिर भी लोग रसलोलुपता के वशवर्त्ती होकर मिठाई के दोने चाटा करते हैं। आप लोग इस भूल को समझ ले और अपनी जिह्वा को रसलोलुप न बनने दे। उसे काबू मे रखे।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय आदि के विषय मे भी देखो कि आप इन इन्द्रियो का उपयोग किस ओर कर रहे हैं? भोगोपभोग मे इन्द्रियो का उपयोग करना धर्म नही है। जो लोग इन्द्रियभोग मे धर्म बतलाते हैं, वे भूल मे हैं। धर्म तो इन्द्रियो को जीतने मे हैं। इस 29वे अध्ययन मे भी यही बतलाया गया है कि इन्द्रियो को जीतने मे ही धर्म है। आप लोग इस अध्ययन को समझो और यदि एकदम अपनी आदत नही बदल सकते तो धीरे–धीरे सुधारने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी आदतो की दिशा बदल लोगे तो माना जायेगा कि तुम सुधर रहे हो।

कहने का आश्य यह है कि जब अपनी शक्ति पर बराबर विचार नही किया जाता तब उसी शक्ति से विपरीत कार्य हो जाता है और जब बराबर विचार किया जाता है तो अनुकूल कार्य होने लगता है। जैसे शरीर का महत्व न समझने के कारण शरीर हित के विरुद्ध कार्य होने लगता है, उसी प्रकार शास्त्र का मर्म न समझने के कारण उसके विरुद्ध कार्य हो जाना स्वाभाविक है। अतएव महात्माओ द्वारा शास्त्र का मर्म समझो तो कल्याण होगा।

सम्यक्त्वपराक्रम

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वे अध्ययन का पहला नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' अध्ययन, दूसरा नाम 'अप्रमत्त सूत्र' अध्ययन और तीसरा नाम 'वीतरागसूत्र' अध्ययन है।

इन तीन नामो मे से मध्यम नाम की व्याख्या करने से तीनो नामो की व्याख्या हो जाती है। इसी अभिप्राय से निर्युक्तिकार ने 'अप्रमत्त अध्ययन' नाम की ही व्याख्या की है। इस नाम की व्याख्या समझ लेने से विदित होगा कि एक नाम की व्याख्या मे ही शेष दो नामो की व्याख्या का समावेश किस प्रकार हो जाता है।

अप्रमत्त का अर्थ है – प्रमाद को जीतना। इसके भी चार निक्षेप है–नाम, स्थापना द्रव्य और भाव। नाम और स्थापना निक्षेप सुगम है। इनका विवेचन करते हुए शास्त्रकार द्रव्य और भाव निक्षेपो का विवेचन करते हुए कहते है कि द्रव्य अप्रमत्त का बोध तो सभी को होता है। दुश्मन चढाई कर दे और तुम मजे उडाते रहो तो कैसी दशा होगी? तुम यहा बैठे हो। इसी समय कोई 'साप आया' चिल्लाने लगे तो कितने जहा के तहा बैठे रहेगे? इस प्रकार द्रव्य–अप्रमाद को तो सभी जानते है। द्रव्य–भय से मुक्त होने के लिए जो उद्योग किया जाता है वह द्रव्य–अप्रमाद कहलाता है।

यह आत्मा द्रव्य–अपमत्त अनेको बार हुआ है और होता ही रहता है। दूसरो की बात जाने दीजिये रेशम का कीडा भी द्रव्य–अप्रमाद का सेवन करता रहता है। रेशम का कीडा अपने शरीर की रक्षा के लिए अपना घर साथ–साथ ही लिये फिरता है। इस पकार वह क्षुद्र कीडा भी अपने शरीर की रक्षा का उद्योग करता है। इसका अर्थ यह नही है कि मै आपको अपने शरीर की रक्षा न करने का उपदेश दे रहा हू। मेरे कथन का आशय यह है कि [illegible]

द्रव्य–अप्रमाद सर्वानुभव सिद्ध है और ऐसा अप्रमाद तो मामूली कीडा भी सेवन करता है।

शरीर, कुटुम्ब, घर–द्वार तथा धन–दौलत आदि वस्तुओ मे से कोई भी वस्तु साथ मे परलोक नही जाती। उनसे आत्मा का कल्याण भी नही होता। फिर भी शास्त्रकार उन चीजो के प्रति उपेक्षा करने का उपदेश नहीं दे रहे है। वह सिर्फ यही कहते हैं कि इनकी रक्षा के लिये किये जाने वाले प्रयत्न या उद्योग को द्रव्य–अप्रमाद ही समझो। इसे भाव–अप्रमाद मत मानो। द्रव्य–अप्रमाद अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ है, फिर भी उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। प्रार्थना मे कहा है –

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण, ज्यो चौतरफ दियौ घेरो।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी, अरियन होय प्रकटै चेरो।।

जब दुष्ट लोग तलवार लेकर घेर ले और मस्तक पर प्रहार करना चाहे, तब ऐसे सकट के समय भी अगर परमात्मा का स्मरण किया जाये तो शत्रु भी नम्र बन जाता है। वे शत्रुता का त्याग कर दास की भाति आज्ञाकारी हो जाते है। दुष्ट का नाश न चाहते हुए दुष्ट की दुष्टता का नाश करने के उद्देश्य से, सच्चे हृदय से परमात्मा की प्रार्थना करने पर दुष्ट की दुष्टता नष्ट हो जाती है। जैसे द्रव्य–रक्षा के लिए दूसरे की शरण ली जाती है, उसी प्रकार परमात्मा या धर्म की शरण लेने से द्रव्यरक्षा के साथ ही साथ भावरक्षा भी हो सकती है। मगर यह भूलना नही चाहिए कि अगर तुम द्रव्य की रक्षा करोगे तो वह द्रव्य के लिये ही होगी और भाव की रक्षा करोगे तो भाव के लिये होगी।

यह हुई द्रव्यनिक्षेप की बात। किन्तु इस अप्रमत्तसूत्र मे भाव–अप्रमाद की चर्चा की जायेगी। जैसे द्रव्य–अप्रमाद मे शरीर, धन आदि के भय को दूर करने की सावधानी की जाती है, वैसे ही भाव–अप्रमाद मे आत्मिक भय को निवारण करने के लिये सावधानी रखी जाती है। अज्ञान, कषाय आदि विकारो पर विजय प्राप्त करने के लिये जो उद्योग–प्रयत्न किया जाता है वह भाव–अप्रमाद है।

अज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'न ज्ञानम अज्ञानम' यह नञ् समास है। नञ् समास के दो भेद है। कहा भी है –

नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ, पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदास सदृशग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्।।

अर्थात्–नञ् समास के दो भेद है–एक पर्युदास, दूसरा प्रसज्य। पर्युदास सदृश अर्थ को ग्रहण करता है और पसज्य केवल निषेध अर्थ का ग्राहक है।

यहा आशय यह है कि ऊपर जो 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' कहा गया है सो उसका अर्थ यह नही है कि न जानना ही अज्ञान है। एकान्त ऐसा अर्थ करने से अनेक अनर्थ हो सकते हैं। ससार मे ऐसे अनेक विद्वान् होते है जिनके एक शब्द से ही ससार मे खलबली मच जाती है। किन्तु शास्त्र के अनुसार जिन्होने कषाय पर विजय पाप्त नही किया है और जिनमे सम्यग्ज्ञान नही है, उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल ज्ञान भी विपरीत ज्ञान ही है। वह विपरीत ज्ञान अज्ञान रूप है। ऐसे स्थानो पर 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' जो कहा गया है सो यह नञ् समास पर्युदास रूप है। पर्युदास सदृश अर्थ को ग्रहण करता है। यहा पर्युदास नञ् समास न स्वीकार करके प्रसज्य पक्ष स्वीकार करना उचित नही है। प्रसज्य नञ् समास मे 'अज्ञान' शब्द से ज्ञान का सर्वथा निषेध होता है और यहा ज्ञान का निषेध करना अभीष्ट नही है। वास्तव मे यहा 'अज्ञान' शब्द से 'ज्ञान का अभाव' अर्थ अभीष्ट नही किन्तु ज्ञान के सदृश "विपरीत ज्ञान" की गणना अज्ञान मे की गई है। अतएव न जानना ही अज्ञान नही किन्तु सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि भी अज्ञान रूप ही है।

इस प्रकार के अज्ञान को हटाने के लिये जो उद्योग किया जाता है, वह भाव अप्रमाद है। ऐसा अज्ञान सम्यग्ज्ञान से ही मिट सकता है। अगर कोई मनुष्य लाठी मार–मार कर अन्धकार को हटाना चाहे तो क्या अन्धकार हट जायेगा ? नही। हा यदि प्रकाश किया जाये तो अन्धकार अवश्य मिट जायेगा। इसी पकार अज्ञान–अन्धकार ज्ञान के प्रकाश से ही दूर हो सकता है। प्रकृत अध्ययन मे ज्ञान के प्रकाश का ही मार्ग बतलाया गया है। अतएव यह अध्ययन भाव–अप्रमाद से ही सम्बन्ध रखता है।

इस अध्ययन मे ज्ञान का मार्ग पकाशित करने के साथ ही कषाय को जीतने का भी मार्ग बतलाया गया है। आत्मा के असली स्वरूप को [illegible] पर पदार्थ मे आनन्द मानना आस्रव है। इस अध्ययन मे आस्रव को [illegible] लिए अप्रमत्त रहने का मार्ग पतिपादन किया गया हे। यो तो चौथे [illegible] से ही अप्रमाद गुणस्थान आरम्भ हो जाता है परन्तु शास्त्र मे सातवे [illegible] अप्रमाद स्वीकार किया गया है क्योकि चौथे आदि गुणस्थानो [illegible] दूर–दूर [illegible] रहती है। यद्यपि सातवे गुणस्थान मे भी [illegible] मौजूद रहता है फिर भी वह इतना हल्का होता है

कि उसकी गणना नही की गई। तनिक भी असावधानी न रखते हुए आश्रव को जीतने का प्रयत्न करना अप्रमत्तता है इस प्रकार की अप्रमत्तता सातवे गुणस्थान पर आरूढ होने से ही प्राप्त होती है।

राग—द्वेष को उत्पन्न करना प्रमाद है और जीतना अप्रमाद है। अगर तुम अप्रमाद प्राप्त करना चाहते हो तो राग—द्वेष को जीतो। पूछा जा सकता है कि राग—द्वेष को किस प्रकार जीतना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि इस अध्ययन मे राग—द्वेष को नही जीत सके हो तो न सही, मगर इतना तो मानो कि राग—द्वेष प्रमाद हैं और इन्हे जीतना अप्रमाद है। तुम्हे यह स्वीकार करना चाहिए कि राग—द्वेष त्याज्य है परन्तु अपनी निर्बलता के कारण मैं अभी तक उन पर विजय प्राप्त नही कर सका हू। इस प्रकार राग—द्वेष का स्वरूप समझो। राग और द्वेष से आत्मा का पतन होता है। अगर तुम आत्मा का पतन नही चाहते तो राग—द्वेष का स्वरूप समझकर उन्हे त्याज्य समझो।

राग—द्वेष के अनेक रूप हैं। कई बार ऐसा होता है कि बाहर से राग—द्वेष प्रतीत होते है किन्तु भीतर और ही कुछ होता है। इसी प्रकार कभी—कभी बाहर से राग—द्वेष प्रतीत नही होते फिर भी भीतर राग—द्वेष भरे रहते हैं। ऐसी स्थिति मे राग—द्वेष हैं या नही, इस बात का निश्चय ज्ञानी ही कर सकते हैं। फिर भी व्यवहार द्वारा जिस राग—द्वेष को पहचाना जा सकता है, उन्हे पहचानने का प्रयत्न तुम्हे करना चाहिए और पहचान कर छोडने का उद्योग करना चाहिए।

जो आत्मा को पतित करे और साथ ही जगत् का भी अकल्याण करे वह राग—द्वेष है। इन लक्षणो से राग—द्वेष की पहचान हो जाती हे। अतएव जिन कार्यो से जगत् को हानि पहुचे और आत्मा पतित हो, ऐसे कार्य त्याज्य समझने चाहिए। इसी प्रकार वही कार्य राग—द्वेष रहित हें जिनसे अपनी आत्मा उन्नत हो और जगत् का भी कल्याण हो।

कदाचित् कोई यह दावा करे कि मुझमे विशेष ज्ञान हे ओर अमुक कार्य या क्रिया किये बिना ही सिर्फ ज्ञान द्वारा ही मैं आत्मा का कल्याण कर लूगा, तो शास्त्र बतलाता है कि उसका यह दावा सही नही है। मान लिया जाये कि कोई ज्ञान द्वारा अपना कल्याण कर सकता हे यद्यपि अकेले ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नही हो सकती, तो भी लोकहित की दृष्टि से श्रेयस्कर कार्यो का त्याग कर देना ठीक नही। मतलब यह है कि जिससे आत्मा का भी

कल्याण हो और जगत् का भी हित हो, वह व्यावहारिक दृष्टि से राग–द्वेष को जीतना कहलाता है। अप्रमत्तता प्राप्त करने के लिए राग–द्वेष को जीतना ही चाहिए।

अब इस अध्ययन के नाम के सम्बन्ध मे विचार करे। कोई–कोई नाम सिर्फ लोकव्यवहार के लिए ही होता है। उसमे गुण की अपेक्षा नही रहती और कोई नाम गुणनिष्पन्न भी होता है। इस अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुणनिष्पन्न है। पहले के लोग गुणनिष्पन्न नाम रखते थे, आजकल की तरह खोटे नाम नही। कदाचित् तुम खोटा भी नाम रख सकते हो मगर शास्त्र ऐसी भूल किस पकार कर सकता है? अतएव प्रकृत अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुणनिष्पन्न ही है।

खोटा नाम कैसा होता है और गुणनिष्पन्न नाम मे उससे क्या अन्तर होता है, यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए –

एक सेठ का नाम ठनठनपाल था। नाम ठनठनपाल होने पर भी वह बहुत धनवान था और उसकी बहुत अच्छी प्रतिष्ठा भी थी।

प्राचीनकाल के श्रीमन्त, श्रीमन्त होने पर भी अपना कोई काम छोड नही बैठते थे। आज जरा–सी लक्ष्मी प्राप्त होते ही लोग सब काम छोडछाडकर बैठे रहते है और ऐसा करने मे ही अपनी श्रीमन्ताई समझते है।

ठनठनपाल सेठ की पत्नी सेठानी होने पर भी पानी भरना, आटा पीसना कूटना आदि सब घरेलू काम काज अपने हाथो करती थी। अपने हाथ से किया हुआ काम जितना अच्छा होता है, उतना अच्छा दूसरे के हाथ से करवाया काम नही होता। परन्तु आजकल बहुत से लोग धर्मध्यान करने के बहाने हाथ से घर का काम करना छोड देते है। उन्हे यह विचार नही आता कि धर्मध्यान करने वाला व्यक्ति क्या कभी आलसी बन सकता है? जो कार्य अपने ही हाथ से भलीभाति हो सकता है, शास्त्रकार उसके त्याग करने का आदेश नही देते। तुम स्वय जो काम करोगे, विवेकपूर्वक करोगे, दूसरे से ऐसे विवेक की आशा कैसे रखी जा सकती है? इस प्रकार अपने हाथ से विवेकपूर्वक किये गये काम मे एकान्त लाभ ही है। स्वय आलसी बनकर दूसरे से काम कराने मे विवेक नही रहता और परिणामस्वरूप हानि होती है।

आजकल बिजली द्वारा चलने वाली चक्किया बहुत प्रचलित हो गई है और हाथ की चक्किया बन्द होती जा रही है। क्या घर की चक्किया बन्द होने के कारण यह कहा जा सकता है कि आश्रव थोडा हो गया है? घर की

चक्किया बन्द करने से तुम निराश्रवी नही हुए हो परन्तु उलटे महापाप मे पड गये हो। घर की चक्की और बिजली की चक्की का अन्तर देखोगे तो अवश्य मालूम हो जायेगा कि तुम किस प्रकार महापाप मे पड गये हो। विचार करोगे तो हाथ की चक्की और बिजली की चक्की मे राई ओर पहाड जितना अन्तर प्रतीत होगा। बिजली से चलने वाली चक्की से व्यवहार और निश्चय–दोनो की हानि हुई है और साथ ही साथ स्वास्थ्य की भी हानि हुई और हो रही है। पुराने लोग मानते हैं कि डाकिनी लग जाती है और जिस पर उसकी नजर पड जाती है उसका वह सत्व चूस लेती है। डाकिनी की यह बात तो गलत भी हो सकती है परन्तु बिजली से चलने वाली चक्की तो डाकिनी से भी बढकर है। वह अनाज का सत्व चूस लेती है यह तो सभी जानते हैं। बिजली की चक्की से पीसा हुआ आटा कितना ज्यादा गरम होता है, यह देखने पर विदित होगा कि आटे का सत्व भस्म हो गया है।

दक्षिण मे उरण नामक एक गाव समुद्र के किनारे बसा है। वहा मछली पकडने का काम खूब चलता है। वहा का एक भाई मुझसे कहता था–'मैं एक दिन आटा पिसवाने के लिए फ्लोर मिल मे गया। मैंने वहा देखा कि मच्छीमारो की स्त्रिया जिस टोकरी मे मछलिया बेचती थी, उसी टोकरी मे अनाज भरकर पिसवाने आई थी।' अब विचार करो कि तुम भी उसी चक्की मे आटा पिसवाते हो तो मछलियो की टोकरी मे भरे अनाज के दानो का थोडा बहुत आटा तुम्हारे आटे मे नही आता होगा ? तुम और बातो मे तो सावधान रहते हो, परन्तु ऐसी बातो पर ध्यान नही देते। तुम्हारा कोई स्वधर्मी भाई, जो गरीब होने के कारण कपडे की फेरी करता है या खेती करता है, वह तुम्हारी ही जाति का हो तो भी उसे साथ जिमाने मे परहेज करते हो, परन्तु फ्लोर–मील मे सेलभेल हुए आटे का उपभोग करने मे कोई परहेज नही करते। यह कितना अन्धेर है।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के मुखारविद से मेने सुना हे कि वीकानेर मे वैद मुहता हिन्दूसिहजी दीवान थे। वह स्थानकवासी जेन थे। वीकानेर मे उनकी खूब प्रतिष्ठा थी और राजदरबार मे भी वडी इज्जत थी। एक बार दीवान साहब भोजन करने वैठे ही थे कि एक घी की फेरी करने वाला वणिक् आया। उसने दीवान साहव से कहा–'क्या आप घी खरीदेंगे'? हिन्दूसिहजी ने उसे देखकर अनुमान किया कि यह कोई महाजन ही हे। इस

पकार अनुमान करके उसे अपने पास बुलाया और पूछा–'भाई, कहा रहते हो?' घी बेचने वाले ने अपना गाव बतला दिया। दीवान ने कहा–'उस गाव मे तो हमारा भाई भी रहता है। वहा वैद मुहता का घर है न? दीवान का यह प्रश्न सुनकर घी–विक्रेता कुछ लज्जित हुआ और कहने लगा–आप इतने बडे आदमी होकर भी हमे याद रखते है, यह बडे ही आनन्द की बात है। हिन्दूसिहजी समझ गये कि यह घी–विक्रेता भी वैद मुहता गोत्र का ही है। तब दीवान ने उससे कहा–'अच्छा भाई, आओ थोडा भोजन कर लो।' घी वाला उनके साथ मे भोजन करने मे सकोच करने लगा, पर उन्होने कहा–'अरे भाई, इसमे लजाने की क्या बात है? तुम तो मेरे भाई हो। आखिर दोनो ने एक ही थाल मे भोजन किया और दीवान ने आग्रह करके उसे बढिया–बढिया भोजन जिमाया।

दीवान के इस कार्य से उसका महत्व घटा या बढा? सुना जाता है कि यहा (जामनगर में) अपने सहधर्मी भाइयो के साथ भेदभाव रखा जाता है। सहधर्मी भाइयो मे भेद डालने वाले किसी भी विधान को स्वीकार करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? खेती करने वाले गरीब सहधर्मी भाइयो के साथ इस तरह का भेदभाव रखा जाता है परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न किये अनाज के साथ कोई भेदभाव नही किया जाता। गरीब भाइयो द्वारा उत्पन्न किया अनाज खाना छोड दो तो पता चलेगा कि उनके प्रति भेदभाव रखने का क्या नतीजा होता है। आज दूसरे लोग तो अस्पृश्यो को भी स्पृश्य बनाते जा रहे है और तुम अपने ही जाति भाइयो को दुरदुरा रहे हो ! तुम उनके साथ भी परहेज करते हो। वह तो जैन हैं, तुम्हारी ही जाति के है और यहा आकर धर्मक्रिया भी करते है। परन्तु वह भी तुम्हारे साथ भोजन करने नहीं आ सकते। भला वे लोग इस प्रकार का अपमान कैसे सहन कर सकते है ? ऐसी स्थिति मे अपने सहधर्मी के लिए या अपने धर्म के लिए कष्ट सहन करना पडे तो सह लेना उचित है, किन्तु इस विधान को बदलना आवश्यक है। इस प्रथा को मिटाने के लिए अगर कुछ कष्ट भी सहना पडे तो ऐसा कष्ट–सहन कोई बुरी बात नही है।

सारांश यह है कि लोग अपने हाथ से काम न करके दूसरो से काम कराने में अपनी महत्ता मानते है। उन्हे इस बात का विचार ही नही है कि अपने हाथ से और दूसरे के हाथ से काम करने–कराने मे कितना ज्यादा [illegible]

ठनठनपाल श्रीमान् था, फिर भी उसकी पत्नी पीसना, कूटना आदि काम अपने ही हाथ से करती थी। किन्तु जब वह अपनी पडोसिनो से मिलती तो पडोसिने उसकी हसी करने के लिए कहतीं–'पधारो श्रीमती ठनठनपालजी!' ठनठनपालजी की पत्नी को यह मजाक रुचिकर नही होता था।

एक दिन इस मजाक से उसे बहुत बुरा लगा। वह उदास होकर बैठी थी कि उसी समय सेठ ठनठनपाल आ गये। अपनी पत्नी को उदास देखकर उन्होने पूछा–'आज उदास क्यो दिखाई देती हो?' सेठानी बोली–तुम्हारा यह नाम कैसा विचित्र है! तुम्हारे नाम के कारण पडोसिने मेरी हसी करती हैं। तुम अपना नाम बदल क्यो नही डालते? ठनठनपाल ने कहा–मेरे नाम से सभी लेनदेन चल रहा है। अब नाम बदल लेना सरल बात नही है। कैसे बदल सकता हू? उसकी पत्नी बोली–'जैसे बने तैसे तुम्हे यह नाम तो बदलना ही पडेगा। नाम न बदला तो मैं अपने मायके चली जाऊगी।' ठनठनपाल ने कहा–मायके जाना है तो अभी चली जा मगर मैं अपना नाम नही बदल सकता। तेरी जैसी हठीली स्त्री मायके चली जाये तो हर्ज भी क्या है?

ठनठनपाल की स्त्री रूठ कर मायके चली। वह नगर के द्वार पर पहुची कि कुछ लोग एक मुर्दे को उठाये वहा से निकले। सेठानी ने उनसे पूछा–'यह कौन मर गया है?' लोगो ने उत्तर दिया–'अमरचन्द भाई का देहान्त हो गया है।' यह सुनकर सेठानी सोचने लगी–'अमरचन्द नाम होने पर भी वह मर गया!' उसके पैर वही भारी हो गये, फिर भी वह हिम्मत करके आगे बढी। कुछ आगे जाने पर उसे एक ग्वाला (गाय चराने वाला) मिला। सेठानी ने उसका नाम पूछा। उत्तर मिला–मेरा नाम धनपाल है। सेठानी सोचने लगी–यह धनपाल है या पशुपाल? सोच–विचार मे डूबी सेठानी थोडी और आगे बढी। वहा एक स्त्री छाणा (कडा) बीनती दिखाई दी। सेठानी ने उससे पूछा–बहिन, तुम्हारा क्या नाम है? उसने उत्तर दिया–'लक्ष्मीबाई।' यह नाम सुनकर सेठानी को बडा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगी–नाम हे इसका लक्ष्मीबाई और बीनती फिरती है कडा!

यह सब विचित्र घटनाए देखकर सेठानी का दिमाग ठिकाने आया। वह घर लौट आई। सेठ ने कहा–'आज तो कुछ समझ आ गई दीखती है। मगर कल जैसा तूफान तो नही मचाओगी? सेठानी बोली–अब मैं समझ गई हू। सेठ के पूछने पर वह बोली –

अमर मरंता मैने देखे, ढोर चरावे धनपाल।
लक्ष्मी छाणा बीनती, धन धन ठनठनपाल।।

कहने का आशय यह है कि लोक मे इस प्रकार के अर्थहीन नाम भी पाये जाते है। इस आधार पर नाम के विषय मे इस प्रकार चौभगी बन जाती है –

(1) नाम सुन्दर हो मगर गुण सुन्दर न हो।
(2) गुण सुन्दर हो पर नाम सुन्दर न हो।
(3) नाम भी सुन्दर हो और गुण भी सुन्दर हो।
(4) नाम भी सुन्दर न हो और गुण भी सुन्दर न हो।

यह अध्ययन तीसरे भग मे गर्भित होता है। इस अध्ययन का नाम भी सुन्दर है और गुण भी सुन्दर है। इसका नाम गुणनिष्पन्न है। सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागसूत्र, यह दोनो नाम भी अप्रमत्त अध्ययन नाम के समान ही गुणनिष्पन्न है। क्योकि अप्रमत्तता से ही सम्यक्त्वपराक्रम होता है और वीतरागता भी उसी से प्राप्त होती है। अतएव यह दोनो नाम भी निष्पन्न ही है।

यद्यपि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीनो ही नाम सगत है, तथापि निर्युक्तिकार ने इसे विशेषत अप्रमत्त अध्ययन ही कहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्व मे पराक्रम करना या अप्रमत्त बनना एक ही बात है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करने का उद्योग करना भी एक ही बात है। इस प्रकार की अप्रमत्तता प्राप्त करने का क्या फल है, यह बात इस अध्ययन के 73 बोलो मे बतलाई गई है। यहा सिर्फ यही कहना पर्याप्त है कि उक्त तीनो नाम सगत है। भव्य जीव जो उद्योग करते है वह वीतरागता प्राप्त करने के ही उद्देश्य से करते है। अतएव वीतरागसूत्र नाम भी सार्थक ही है।

साधारणतया ससार के सभी जीव कोई न कोई उद्योग करते ही रहते है। एक छोटे से छोटा एकेन्द्रिय जीव भी, जितने समय मे एक सामायिक की जाती है उतने समय मे (48 मिनिट मे) ही 65536 बार जन्म लेता है और मरता है और उद्योग करता ही रहता है। किन्तु वह उद्योग वीतरागता प्राप्त करने के लिये नही है। प्रमाद का त्याग करके जो उद्योग किया जाता है, वही वीतरागता प्राप्त करने के लिए किया हुआ उद्योग कहलाता है। इस प्रकार इस अध्ययन का 'वीतरागसूत्र अध्ययन' नाम भी ठीक है।

अध्ययन का आरम्भ

इस अध्ययन को आरम्भ करते हुए कहा गया है –

सूय मे आउस! तेण भगवया एयमक्खाय, इह खलु सम्मतत्तपरक्कम्मे नामज्झयणं समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवइय।

यह सूत्रपाठ है। इस सूत्रपाठ मे मगलवचन क्या है, यह देखना चाहिये। साधारण रूप से सूत्र की आदि मे, मध्य मे और अन्त मे मगलाचरण करने का नियम है, परन्तु यह अध्ययन स्वय ही मगल रूप है अर्थात् भगवान् की वाणी ही है। अतएव यहा अलग मगलाचरण करने की आवश्यकता नही है। इस सूत्रपाठ मे सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं–'हे आयुष्मान्! मैंने भगवान् महावीर से जो सुना है, वह तुझे सुनाता हू।'

सुधर्मास्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धनी थे, फिर भी उन्होने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहा है कि भगवान् महावीर से मैंने जो सुना है वही सुनाता हू। जब सुधर्मास्वामी स्वयमेव इतने ज्ञानी थे तो उन्हे ऐसा कहने की क्या आवश्यकता पडी? क्या वह स्वय ऐसा कथन नही कर सकते थे? या स्वय सूत्र नही रच सकते थे? वह सूत्र भी रच सकते थे ओर कह भी सकते थे। फिर भी उन्होने एक लघु व्यक्ति की तरह क्यो कहा कि मैने भगवान् से जो सुना है वही सुनाता हू? यह लघुता उन्होने किसलिए धारण की? यद्यपि ठीक–ठीक यह नही कहा जा सकता कि ऐसा करने का उद्देश्य क्या था, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार की नम्रता ओर निरभिमानता रखने वाला कभी दु ख मे नही पडता। अभिमान ही ससार मे लोगो को खराब करता है। सुधर्मास्वामी मे ऐसा अभिमान ही नही रहता था।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा– मैंने भगवान् महावीर से सुना है, वही तुझे सुनाता हू।' इस कथन का उद्देश्य यह बतलाना भी हो सकता कि भगवान् की पाटपरम्परा किस प्रकार चली आ रही हे।

शास्त्रो द्वारा हमे ज्ञात है कि चौदह हजार साधुओ मे गौतमस्वामी सब से बडे थे और सुधर्मास्वामी उनसे छोटे थे। ऐसा होने पर भगवान् के पाट पर गौतमस्वामी विराजमान नही हुए। इसका कारण यही मालूम होता है कि भगवान् का निर्वाण होते ही गौतमस्वामी केवलज्ञानी हो गये थे। केवलज्ञानी होने के कारण गौतमस्वामी की योग्यता कुछ कम नही हो गई थी, फिर उन्ही को पाट पर क्यो नही बिठलाया गया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाट पर बिठलाने मे योग्यता का प्रश्न नही था किन्तु पाट–परम्परा का प्रश्न था। पाट–परम्परा तभी चल सकती है जब गुरु–शिष्य की परम्परा बराबर चलती रहे और शिष्य सूत्रादि के सम्बन्ध मे यह कहता रहे कि 'मैने अपने गुरु से इस पकार सुना है,' अगर गौतमस्वामी इस प्रकार कहते कि मैंने गुरु से ऐसा सुना है तो उनके केवलीपन मे बाधा उपस्थित होती। केवली को अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करना चाहिए अर्थात् अपना ही निर्णय देना चाहिए। कदाचित् गौतम स्वामी अपनी ही तरफ से कहते और भगवान् महावीर से सुनने का उल्लेख न करते तो ऐसा करने से भगवान् की परम्परा भग हो जाती। इसी कारण सुधर्मास्वामी को पाट पर विराजमान किया गया था। इस प्रकार सुध् र्मास्वामी ने भगवान् के पाट पर बैठ कर जो कुछ कहा, वह सब भगवान् के ही नाम पर कहा है।

उस समय के सघ का प्रबन्ध कितना उत्तम था और गुरुपरम्परा कायम रखने के लिए कितना ध्यान दिया जाता था ! यह ध्यान देने योग्य है। सुधर्मास्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के स्वामी थे और भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके पाट पर बैठकर इच्छानुसार कर सकते थे, पर उन्होने ऐसा कुछ भी नही किया, वरन् गुरुपरम्परा सुरक्षित रखी। ऐसे युगप्रधान महापुरुष ही अपना और पराया कल्याण कर सकते है।

हम और आप आत्मा का कल्याण करने के लिए ही यहा एकत्र हुए है परन्तु आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम अहकार को तिलाजलि देने की आवश्यकता है। अहकार का त्याग किये बिना आत्मा का कल्याण नही हो सकता। अहकार का त्याग करने के लिए सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा कि 'मैने भगवान् महावीर से जो सुना है वही तुझे सुनाता हू।' सुधर्मास्वामी के यह वचन सुनकर जम्बूस्वामी के मन मे कैसा भाव उत्पन्न हुआ होगा? उनके हृदय मे प्रथम तो सूत्र के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ होगा कि यह सूत्र

भगवान् द्वारा प्रतिपादित है। दूसरे, सुधर्मास्वामी के प्रति भी ऐसा सद्भाव उत्पन्न हुआ होगा कि मेरे गुरु अपने गुरु की पाटपरम्परा का कैसा विचार–विवेक रखते हैं । और उनमे कैसी नम्रता और निरभिमानता है।

'मैंने भगवान् से इस प्रकार सुना।' सुधर्मास्वामी के इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता है कि सुधर्मास्वामी छद्मस्थ थे। छद्मस्थ से किसी बात मे भूल भी हो सकती है परन्तु केवलज्ञानी भगवान् की वाणी मे तो किसी भूल की सम्भावना ही नही है। छद्मस्थ की बात पर सदेह भी किया जा सकता है किन्तु भगवान् की बात पर सदेह करने का कोई कारण नही। इसी अभिप्राय से सुधर्मास्वामी ने कहा है कि 'मैंने भगवान् से जो सुना है, वही तुझे सुनाता हू।' इस कथन से किसी प्रकार के सदेह की गुजाइश ही नही रहती।

मान लीजिये, एक मनुष्य अपनी जीभ से सौ बाते कहता है ओर दूसरा आदमी एक ही बात कहकर उसके प्रमाण मे शास्त्र–वचन बतलाता है। ऐसी स्थिति मे किसकी बात प्रामाणिक मानी जायगी? श्रावक तो वही बात मान सकता है जो शास्त्र–सम्मत हो। शास्त्र के विरुद्ध मानने वाला श्रावक तो क्या सम्यग्दृष्टि भी नही हो सकता। इसी प्रकार सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से जो कुछ कहा है, वह भगवान् के नाम पर कह कर उसे प्रमाणभूत बना दिया है। अर्थात् सुधर्मास्वामी ने कहा कि मैं अपनी ओर से कुछ भी नही कहता। मै जो कुछ कहता हू, भगवान् का कहा ही कहता हू। ऐसा कह कर सुध र्मास्वामी ने अपना कथन प्रामाणिक सिद्ध कर दिया है।

आज कहा भगवान् महावीर! कहा सुधर्मास्वामी ! कहा जम्बूस्वामी! ! और कहा आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पहले सुनाये गये शास्त्रवचन! ! फिर भी आज जो शास्त्रवचन हमे सुनने को मिलते है, यह हम लोगो का कितना सद्भाग्य है ! न जाने कितने जन्म–मरण करने के पश्चात् हम लोगो को यह मनुष्यजन्म मिला है और इसमे भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल ओर जैनधर्म प्राप्त करने का सुयोग मिला है। आज हम लोगो को जिनवाणी सुनने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। यह क्या कम सौभाग्य की बात हे?

सुधर्मास्वामी ने कहा है –'मैंने भगवान् से ऐसा सुना हे।' इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता हे कि उस सूत्रवचन पर आदरभाव उत्पन्न हो और सूत्रश्रवण करना सोभाग्य की बात समझी जाये। सुधर्मास्वामी के यह वचन सुनकर शिष्य को अवश्य ही कर्त्तव्य का भान हुआ होगा। उसने सोचा होगा–चार ज्ञान और चौदह पूर्व के स्वामी होते हुए भी यह महानुभाव अपनी

बात नही सुनाते वरन् गुरुपरम्परा ही सुनाते है, तो मेरा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए? इन गुरु महाराज का मुझ पर अनन्त उपकार है, अतएव मुझे भी ऐसा ही कहना चाहिए कि–मैने भी अपने गुरु से इस पकार सुना है।

इस पकार गुरु द्वारा सुनी हुई बात कहने से और गुरुपरम्परा सुरक्षित रखने से ही यह सूत्रा आज हम लोगो को इस रूप मे उपलब्ध हो सका है। भगवान् से सुधर्मास्वामी ने यह सूत्र सुना, सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी ने सुना और जम्बूस्वामी से पभवस्वामी ने यही सूत्र सुना। इस प्रकार क्रमश गुरुपरम्परा से चलती आने के कारण ही भगवान् की यह वाणी आज भी विद्यमान है।

यह भगवान् की वाणी है, ऐसा कहने का एक कारण और भी है। पहले के ज्ञानीजन यह जानते थे कि आगे पचमकाल आ रहा है और वह अत्यन्त विषम है। पचमकाल मे ससार मथन के कारण अनेक प्रकार के विष निकलेगे। ऐसा जानकर उन्होने पचमकाल को किचित् सरल बनाने के उद्देश्य से सूत्र का यह मार्ग खोल दिया है। किन्तु सूत्र का मार्ग खोलते हुए उन्होने स्पष्ट कह दिया है कि यह मार्ग हमारा बतलाया नही है, वरन् जगत् का कल्याण करने वाले भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित यह मार्ग है। उन करुणासागर महावीर प्रभु की यह कैसी असीम करुणा है ! इस पचमकाल मे यो तो अनेक किवदन्तिया प्रचलित होगी, परन्तु जगत् का कल्याण करने वाली बात की निशानी याद रखना कि जो बात भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से कही थी, सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कही थी, वही बात कल्याणकारिणी है। यह बात स्मरण रखने से तुम कभी किसी के धोखे मे नही आओगे।

जैसे राजमार्ग विश्वास के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार भगवान् का बतलाया हुआ यह राजमार्ग भी विश्वास के योग्य है। भगवान् का यह राजमार्ग कल्याण का मार्ग है, ऐसा विश्वास रख कर उसी पर चलते चलो तो अवश्य ही तुम्हारा कल्याण होगा।

सुधर्मास्वामी ने कहा है 'मैने भगवान् से ऐसा सुना है, तो सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हे कि भगवान् कौन है? और भगवान् का अर्थ क्या है? भगवान् शब्द 'भग्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'भग्' का अर्थ इस प्रकार है–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशस श्रिय ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णा भग इतीरना।।

अर्थात– जिसने सम्पूर्ण ऐश्वर्य धर्म, यश श्री वैराग्य और मोक्ष, यह छह गुण हो वह भगवान् कहलाता हे।

जिस व्यक्ति मे उपर्युक्त छह गुण हो वह भगवान् कहलाता है। भगवान् महावीर मे यह सब गुण विद्यमान थे, इसी कारण उन्हे भगवान् कहते हैं। ऐसे भगवान् की वाणी अपनी आत्मा का कितना उपकार करने वाली है, इस बात का विचार करो और यह वचन सुनकर आत्मा को जागृत करो, प्रेरित करो और बलवान् बनाओ। ऐसा अवसर बार–बार मिलना कठिन है।

'भज कलदार भज कलदार भज कलदारं मूढमते।'

अर्थात्–आजकल कलदार (रुपया) का बल माना जाता है, परन्तु कलदार के बल मे क्या दु ख समाया हुआ नही है? मान लीजिए, आपके जेब मे पचास हजार के नोट है। आप इन नोटो के बल पर अपने को सशक्त मानते है। आपके इन नोटो का पता किसी दूसरे को चल गया। उसने विचार किया–पाप किये बिना तो पैसा आता नही है, फिर इस नोट वाले को मार करके उसके नोट क्यो न ले लू? दूसरे मनुष्य ने इस प्रकार विचार किया। उसी समय तीसरा मनुष्य आता है और दूसरे से कहता है–'अगर तुझे पैसे की आवश्यकता है तो और कोई उद्योग कर।' पैसे छीनने के लिए उसे मारने का विचार मत करो।' अब आपको इन दोनो मे से कौन मनुष्य भला मालूम होगा? जो तुम्हे मार कर पैसा छीन लेना चाहता है, वह तुम्हे अच्छा लगेगा या तुम्हे न मारने के लिए कहने वाला और पैसे के लिए अन्य उद्योग करने का उपदेश देने वाला अच्छा लगेगा? तुम्हे मारने की नाही करने वाला ही अच्छा लगेगा। मार कर नोट छीनने का विचार करने वाला बुरा लगेगा। यह ठीक भी है।

मोह के प्रताप से ऐसा होता है कि जो बात अपने लिए देखी–सोची जाती है, वही बात दूसरो के लिए नही सोची जाती। तुम्हे तो नोट बचाने वाला अच्छा लगता है, परन्तु तुम स्वय क्या करते हो, यह भी तो देखो। हम साधु तुमसे यही कहते है कि तुम भी पराया धन मत लूटो और दूसरे के अधिकार की चीज पर जबरदस्ती अपना अधिकार मत जमाओ।

कहा जा सकता है कि गृहस्थो को तो पैसे का बल चाहिए ही। कदाचित् यह बात सत्य हो तो भी हमेशा ध्यान मे रखो कि पैसा तुम्हारा हो और तुम पैसे के ही रहो, यह दोनो बाते अलग–अलग हैं। पैसे को अपने अधीन रखना एक बात है और स्वय पैसे के अधीन हो जाना दूसरी बात है। अपने विषय मे विचार करो कि पैसा तुम्हारे अधीन है या तुम पैसे के अधीन हो? अगर तुम पैसे के अधीन न होओगे और पैसा तुम्हारे अधीन होगा तो तुम पैसे से सत्कार्य किये बिना रह ही नही सकते। अतएव गृहस्थो के लिए अगर पैसे का बल आवश्यक ही समझा जाता हो तो भी इतना अवश्य खयाल रखो कि

तुम स्वय पैसे के अधीन न बन जाओ। पैसे के कारण अभिमान धारण न करो। गाठ मे पैसा हो तो विचार करो कि मैंने न्याय–नीति और प्रामाणिकता से यह धन उपार्जन किया है, अत इसका उपयोग किसी सत्कार्य मे हो जाये तभी मेरा धनोपार्जन करना सार्थक है। आपके मन मे ऐसा विचार आए तो अच्छा है। इसके विपरीत कदाचित् आप यह विचार करने लगे कि –

पैसो म्हारो व्हालो भाई, पैसो म्हारो व्हालो भाई।
साची छे तारी सगाई, जगतमा बीजी वधी ठगाई।
तारा बिना तो लागे मुजने, सूनो सकल ससार।
तारा ऊपर बधो मारो, जीवननो छे आधार।
तू छे मोटो परमेश्वर, हुं छु तारो दास।
मरता मरता पण बाधीश गले, त्यारे थाशे हाश।

तुम्हारे हृदय मे पैसे के सम्बन्ध मे इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई तो निश्चय ही तुम पैसे के गुलाम बन जाओगे। पैसा तुम्हारा परमेश्वर बन जायेगा। तुम इस सम्बन्ध मे विचार करो और ससार की अन्यान्य वस्तुओ के विषय मे भी यही देखो। श्रीसूयगडागसूत्र मे कहा है–

चित्तमतमचितं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्न वा अणुजाणाई, एवं दुक्खा ण मुच्चइ।

अर्थात्–जब तक परिग्रह के दास बने रहोगे तब तक आत्मा का कल्याण नही कर सकोगे। इसलिए परिग्रह के दास मत बनो, परिग्रह को अपना दास बनाओ।

अगर तुम किसी वस्तु के प्रति ममत्व न रखो तो परिग्रह तुम्हारा दास बन जायेगा। ससार की वस्तुओ पर तुम भले ही ममता रखो मगर वह अपने स्वभाव के अनुसार तुम्हे छोड कर चलती बनेगी। ममत्व होने के कारण तब तुम्हे दुख का अनुभव होगा। अतएव तुम पहले से ही उन वस्तुओ सम्बन्धी ममत्व का त्याग कर दो। इस विषय मे एक जाट की कहानी तुम्हारी सहायता करेगी।

एक जाट की स्त्री हमेशा अपने पति को भाग जाने की धमकी दिया करती थी। एक दिन जाट ने सोचा–यह हमेशा की झझट ठीक नही। अगर यह जाना ही चाहती है तो जाने देने मे ही कुशल है। इस प्रकार विचार कर जाट ने अपनी पत्नी से कहा–'तू जाना चाहती है तो मेरे यह गहने, जो तूने पहन रखे है उतार दे। जाटिनी उस समय तैश मे थी ही। उसने सोच–विचार किये बिना ही गहने उतार दिये। जाट ने कहा–'यह तो ठीक हे, मगर घर मे

पानी नही है। तुझे जाना ही है तो आज एक घडा पानी तो ला दे।' जाटनी ने विचार किया—अगर एक घडा पानी भर देने से ही छुटकारा मिलता है तो भर देने मे क्या हर्ज है? ऐसा विचार कर वह पानी भरने गई। इधर जाट हाथ मे डडा लेकर चौराहे पर जा पहुचा। ज्यो ही जाटनी पानी का घडा लिए वहा पहुची कि जाट ने हो हल्ला मचा दिया। वह चिल्ला—चिल्ला कर कहने लगा—'बस, तू यही से लौट जा। घर की तरफ एक भी कदम मत रखना।' तमाशा देखने के लिए बहुतेरे लोग इकट्ठे हो गये। किसी—किसी ने पूछा—'भाई बात क्या है?' जाट ने स्पष्टीकरण किया—'मुझे ऐसी स्त्री नही चाहिए।' जाटनी ने कहा—'मैं तुम्हारे पास रहना ही कहा चाहती थी।' जाट बोला—'बस तू मेरे घर मे रहने लायक ही नही है। यहा से अब एक कदम भी घर की तरफ मत रख। जहा तेरा जी चाहे, चली जा।

मतलब यह है कि जाट की स्त्री तो जाना ही चाहती थी और गई भी सही, मगर लोगो मे यह प्रसिद्ध हो गया कि जाट ने स्वय अपनी स्त्री का परित्याग कर दिया है। ऐसा करके जाट अपमान से बच गया और उसका दु ख भी जाता रहा।

इस उदाहरण को सामने रखकर तुम अपने विषय मे विचार करो कि ससार की वस्तुओ के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है? ससार की वस्तुए तुम्हे छोडे और तुम उन वस्तुओ को छोडो, इन दोनो मे कुछ अन्तर है या नहीं? दोनो का अन्तर समझकर अपना कर्त्तव्य निर्धारित करो।

तुम्हारे काले बाल सफेद हो गये है। यह तुम्हारी इच्छा से हुआ या अनिच्छा से ही? तुम तो अपने बाल काले ही रखना चाहते थे, लेकिन ऐसा नही हुआ। वह सफेद हो गये। यह बाल तुम्हे चेतावनी दे रहे है कि जब तुम हमे ही अपने काबू मे नही रख सके तो और—और वस्तुओ पर क्या काबू रख सकोगे! सभी चीजे हमारी ही तरह बदलने वाली हैं।

इस कथन का आशय यह नही कि तुम अपना शरीर नष्ट कर दो। आशय यह है कि शरीर पर भी ममता मत रखो। जेसे गोतमस्वामी शरीर मे रहते हुए भी शरीर के प्रति ममत्वहीन थे, उसी प्रकार तुम भी निर्मम बनने का अभ्यास करो। गौतम स्वामी शरीर मे रहते हुए भी अशरीरी थे। तुम भी उन सरीखे बनो। कदाचित् उनके समान ऊची स्थिति प्राप्त नही कर सकते तो भी कम से कम इतना तो करो कि शरीर के लिए दूषित खान—पान का सेवन करना छोडो।

कितनेक लोग शरीर—पोषण के लिए धर्म को बाधा पहुचाने वाली

र्म से पतित क्यो होना चाहिए? अतएव तुम कम से कम ऐसा अनुचित कार्य तो न करो। सिद्धान्त भी शरीर के लिए अनुचित कार्य करने का निषेध करता है। सिद्धान्त की इस बात का तुम्हे खूब विचार करना चाहिए।

भगवान् महावीर के निकट रह कर गौतमस्वामी ने जो शक्ति सम्पादन की थी, वह उन्होने सुधर्मास्वामी को सौप दी। सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को और जम्बूस्वामी ने प्रभवस्वामी को वह शक्ति प्रदान की। इस प्रकार क्रमश चली आई सिद्धान्त की शक्ति हमारे पास भी आई है और उस शक्ति का सदुपयोग करने का उत्तरदायित्व हमारे मस्तक पर है। इसलिए मै तुमसे कहता हू–यह धर्म की नौका तैयार है। ससार के मोह मे न फसकर ध र्म–नौका पर आरूढ हो जाओ तो तुम्हारा कल्याण होगा और हमारे उत्तरदायित्व का भार हल्का होगा। हम लोग सहज ही तुम्हे मिल गये है, मगर सहज ही मिली हुई प्रत्येक चीज की कीमत कुछ कम नही होती। कान सहज ही मिले है, पर क्या कान की कीमत मोती से कम है ? नही। इसी प्रकार भले ही हम सहज ही तुम्हे मिल गये हैं, तथापि हमारे कथन का जो परम्परा से चला आया है, मूल्य समझो और अपना कल्याण करो।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है–

सुय मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खाय। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयण समणेण भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइयं। ज सम्म सद्दहित्ता, पत्तइत्ता रोयइत्ता, फासित्ता, पालइत्ता, तीरित्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिनिव्वायति, सव्वदुक्खाणमतं करेति।

श्री सुधर्मास्वामी ने इस सूत्र मे, जो कुछ कहने योग्य था सभी कुछ कह दिया है। परन्तु इस कथन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किये बिना यह सब की समझ मे नही आ सकता। अतएव इस विषय मे यहा कुछ विचार किया जाता है।

इस सूत्र मे सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा है–'हे आयुष्मान्! मैंने भगवान महावीर से इस प्रकार सुना है।

सुधर्मास्वामी जिन तो नही किन्तु जिन सरीखे थे। वह चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारण करने वाले तथा असदिग्ध वचन बोलने वाले थे। स्वय [illegible] ज्ञानवान् होते हुए भी वह कहते हैं कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना

है। सुधर्मास्वामी महान् विनयवान् और ज्ञानवान् थे। उनके विषय मे जीभ कहने के लिए समर्थ नही है। फिर भी जव प्रसग आ ही गया है तो कुछ शव्द कहता हू।

प्रथम तो सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को 'आयुष्मन्' कह कर सम्बोधन किया। जम्बूस्वामी मे धैर्य, गाभीर्य, त्याग, सेवाभाव आदि अनेक गुण थे फिर भी सुधर्मास्वामी ने उन्हे गुणसपन्न विशेषण से सम्बोधन न करके 'आयुष्मन्' शब्द से सम्बोधित किया, सो इसका क्या कारण है? यह बात यहा विचारणीय है।

ससार मे आयुष्य को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। आयुष्य मे क्या पडा है? उसे तो कीडे–मकोडे भी भोगते हैं। इस प्रकार कहकर लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु वास्तव मे आयु ऐसी उपेक्षा करने योग्य वस्तु नही है। बल्कि आयु के बराबर महत्वपूर्ण कोई दूसरी वस्तु नही है। इसी अभिप्राय से सुधर्मास्वामी ने 'आयुष्मन्' कहकर जम्बूस्वामी को सम्बोधित किया है।

समस्त गुण आयु पर अवलम्बित हैं। गुण सब आधेय हैं और आयु उनका आधार है। सुधर्मास्वामी ने इस आधार को ही पकडा है। आधार को ग्रहण करने से आधेय का ग्रहण स्वत हो जाता है। उदाहरणार्थ–यह स्थान आधार है और हम सब इसके आधेय है। हम इस स्थान पर बैठे है, इसने हमे आधार दिया है। ऐसी स्थिति मे आधार का महत्व अधिक है या आधेय का? यद्यपि आधार का महत्व आधेय के कारण ही है। आधेय न हो तो आधार ही नही माना जा सकता। फिर भी आधार का महत्व आधेय की अपेक्षा अधिक है क्योकि आधार के अभाव मे आधेय ठहर नही सकता। इस प्रकार आयु आधार है और शेष गुण आधेय है। जैसे–पृथ्वी सब जीवो का आधार हे मगर पृथ्वी के ऊपर मनुष्य आदि न रहते तो पृथ्वी को कौन पूछता? उसे किसका आधार माना जाता? इसी प्रकार अगर आयुष्य के साथ गुण न हो तो उसका भी कोई महत्व नही माना जा सकता। गुण साथ होने से ही आयु की महत्ता है, क्योकि वह अन्य गुणो का आधार है।

श्री आचारागसूत्र की टीका मे कहा है कि 'आयुष्मान्' विशेषण जेसे जम्बूस्वामी के लिए लागू होता है, उसी प्रकार भगवान् के लिए भी लागू पडता है। जव यह विशेषण भगवान् को लागू किया जाता हे तो यह अर्थ हाता हे कि 'हे जम्बू! मैंने आयुष्मान् भगवान् से इस प्रकार सुना हे।'

भगवान् को आयुष्मान् कहने का कारण यह हे कि भगवान् दो प्रकार के हैं। एक भगवान् आयुष्य–रहित हें, जो मोक्ष मे विराजमान हें ओर जिन्हे

सिद्ध कहते हैं। दूसरे भगवान् आयुष्मान् है, जो तेरहवे गुणस्थान मे विराजते है और जो अर्हन्त कहलाते है। 'आयुष्मान् भगवान् से मैने सुना है' ऐसा कहने का पयोजन यह है कि यह वाणी कुछ आकाश मे से उतर कर नही आई है किन्तु तेरहवे गुणस्थान मे विराजमान भगवान् के मुखारबिन्द से प्रसूत हुई है। कुछ दार्शनिक अपने दर्शन की बाते आकाश से उतरी हुई बतलाते है, मगर जैनशास्त्र इस कथन को उचित नही समझता। जैनशास्त्र स्पष्ट शब्दो मे घोषणा करते है कि यह वाणी तेरहवे गुणस्थान मे वर्तमान भगवान् की कही हुई है।

'आयुष्मान्' शब्द के साथ 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् शब्द का साधारण अर्थ पहले बतलाया जा चुका है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशस- श्रिय ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णा भग इतीरना।।

अर्थात्– सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री वैराग्य और मोक्ष की 'भग' सज्ञा है। यह जिसमे पाये जाते हो वह भगवान् है।

समग्र ऐश्वर्य होना यह पहली बात है। सामान्यतया थोडा–बहुत ऐश्वर्य सभी के पास होता है। वैज्ञानिक के कथनानुसार एक रज कण को भी किचित् ऐश्वर्य प्राप्त है। वैज्ञानिक का कथन है कि साधारण तौर पर परमाणु की कोई गिनती नही की जाती, पर परमाणु भी सूर्य की सत्ता धारण करता है। इस प्रकार थोडा–बहुत ऐश्वर्य सभी मे पाया जाता है, परन्तु ऐसे ऐश्वर्य के कारण कोई भगवान् नही कहला सकता। भगवान् तो वही हो सकता है जो समग्र ऐश्वर्य का स्वामी हो। भगवान् मानो अविकल ऐश्वर्य के ही पिड है।

सब प्रकार का सासारिक ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी अगर वह ऐश्वर्य विषयभोग मे लगा हो तो वह भगवान् होना तो दूर रहा, भगवान् होने का पूर्ण प्रयत्न भी नही कर सकता। भगवान् वही हो सकता है, जिसमे समग्र ऐश्वर्य के साथ ही साथ सम्पूर्ण यश भी होना चाहिए– ऐश्वर्य और धर्म की समग्रता के साथ सम्पूर्ण यश भी होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान् को यश से क्या मतलब है इसका उत्तर यह है कि सभी लोग यश की कामना करते हैं। लोग अपनी प्रशसा सुनकर प्रसन्न होते है और निन्दा सुनकर नाराज होते हैं। इनसे बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा स्वभावत यश ही चाहती है। काम भले ही कोई कैसा ही करे मगर कामना उसमे भी यश की ही होती है।

भगवान् पूर्णरूप से निष्काम होते हैं। उनमे लेशमात्र भी यश–कामना सम्भव नही है। फिर भी उनके लोकोत्तर महान् कार्यो से यश आप ही आप फैल जाता है। उनकी कोई भी प्रवृत्ति अपयशकारक नही होती। भगवान् अठारह दोषो से रहित होने के कारण पूर्ण रूप से यशस्वी हैं।

भगवान् मे चौथी बात होनी चाहिए–समग्र श्री। भगवान् मे आठ प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी होती है। अलौकिक लक्ष्मी के आगे ससार की लक्ष्मी तुच्छ, अति तुच्छ है। आठ प्रातिहार्य कौन–कौन से है ? इस सम्बन्ध मे कहा है –

अशोकवृक्ष· सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।।

भगवान् के आठ प्रातिहार्यो मे पहला अशोकवृक्ष है। अशोकवृक्ष भगवान् के ऊपर छाया किये रहता है। भगवान् जब चलते है तो आकाश मे रह कर अशोकवृक्ष उन पर छाया करता है। भगवान् जब किसी स्थान पर स्थित हो जाते है तो उनके पीछे जमीन पर स्थित रहकर छाया करता है।

दूसरा प्रातिहार्य यह है कि देव भगवान् के पास अचित्त पुष्पो को वर्षा करते है।

तीसरा प्रातिहार्य भगवान् की दिव्य वाणी है।

चौथा प्रातिहार्य चामरो का ढुरना है। भगवान् के ऊपर आप ही आप चामर ढुरते रहते हैं। भगवान् के चलने पर आकाश मे स्थित होकर चामर ढुरते है। भगवान् जब कही स्थित होते है तब जमीन पर स्थित होकर चामर ढुरते है।

पाचवा प्रातिहार्य–भगवान् जब चलते हैं तब उनके साथ आकाश मे सिहासन भी चलता है और जहा भगवान् विराजते है, वहा सिहासन भी स्थित हो जाता है और उस सिहासन पर भगवान् विराजते है, ऐसा जान पडता है।

छठा प्रातिहार्य–भगवान् के मुख–कमल के आस–पास प्रभामडल रहता है, जिससे भगवान् का तेज अत्यन्त बढ जाता है और भगवान् का दर्शन होते ही दर्शनकर्त्ता प्रभावित हो जाता है। आजकल के वैज्ञानिको का भी कथन है कि विशिष्ट पुरुषो के मुख के आसपास प्रभामडल रहता है। प्रभामडल उस विशिष्ट पुरुष की विशिष्टता के अनुसार ही प्रभावपूर्ण और तेजोमय होता है। प्रभामडल के कारण उस विशिष्ट पुरुष के मुख पर ऐसा तेज चमकने लगता है, जिससे उसके सामने बोलते भी लोग सहम जाते है।

विशिष्ट पुरुषो के मुखमडल के आसपास प्रभामडल होने की शोध आधुनिक शोध नही है। पाचीन चित्रो को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकारो को इसका भलीभाति ज्ञान था। प्राचीनकाल के राजा–रानी के चित्रो मे भी उनके मुख के आसपास पभामडल चित्रित किया हुआ देखा जाता है अर्थात् मुखमडल के आसपास एक तेजपूर्ण गोलाकार प्रदर्शित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन चित्रकारो को पभामडल का ख्याल था। जब साधारण राजा–रानी के मुखमडल के साथ भी प्रभामडल चित्रो मे दिखाई देता है तो भगवान् के मुखमडल के साथ प्रभामडल का होना कौनसी आश्चर्यजनक बात है? भगवान् के मुखमडल के आसपास जो प्रभामडल होता है वह इतना तेजपूर्ण होता है कि अनेक प्राणी भगवान् का दर्शन करते ही निष्पाप–पाप की भावना से रहित बन जाते है।

सातवा पातिहार्य–जहा भगवान् विचरण करते हैं वहा देवता आकाश मे दुन्दुभिनाद करते रहते हैं। दुन्दुभिनाद भगवान् के आगमन की सूचना देता है। इसके सिवाय भगवान् की वाणी भी मानो पाप को नष्ट करने के लिए दुन्दुभिनाद ही है।

लोग कृत्रिम ध्वनि के भुलावे मे पडकर अकृत्रिम ध्वनि को भूल रहे है। कोयल जब कूकती है तो इस बात की परवाह नही करती कि कौन उसकी प्रशसा करता है और कौन उसकी निन्दा करता है। वह तो कूकती ही रहती है। आजकल लोग फोनोग्राम बजाते है।, मगर उसके स्वर मे क्या कोयल सरीखी स्वाभाविकता है? गायक या गायिका, जो भी गाते हैं, या तो पैसे के लोभ से गाते है या सभा के प्रभाव से प्रभावित होकर, मगर कोयल न किसी से प्रभावित होती है, न उसे पैसे ही का लोभ छू गया है। इसलिए कोयल की कूक को कोई साधारण मनुष्य अपना नही सकता, महापुरुष ही उसकी कूक को अपना सकते है। जो लोग लोभ से प्रेरित होकर गाते है, उनका गान कोयल की मनोहर तान का मुकाबला कैसे कर सकता है? कोई कह सकता है कि गायिका के गाने से हमारा मनोरजन होता है, मगर ऐसा कहने वाला गायिका के समान विषय का भिखारी ही है। ऐसी स्थिति मे अगर उस गान से उसका मनोरजन होता है तो यह स्वाभाविक है। वास्तव मे।निरपेक्ष स्वतन्त्रता मे जो बात होती है वह परतन्त्रता मे नही हो सकती। कोयल के कूजन मे स्वाधीनता है–स्वाभाविक मस्ती है अतएव उसके कूजन की बराबरी महापुरुष की वाणी ही कर सकती है।

जब कोयल की स्वाधीन वाणी सुनकर ही लोग प्रभावित हो जाते

है, तो जिन्होने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है उन भगवान् की वाणी से अगर इन्द्र भी प्रभावित हो जाता है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? भगवान् की वाणी दुन्दुभिनाद के समान है। फिर भी भगवान् की यह इच्छा नही होती कि मेरी वाणी कोई सुने ही। उनकी वाणी सुनकर कोई बोध प्राप्त करे या न करे, वह तो उपदेश देते ही रहते हैं।

आठवा प्रातिहार्य–छत्र है। भगवान् जब विचरण करते हैं तो छत्र आकाश मे चलता रहता है।परन्तु जब भगवान् स्थित होते हैं तो छत्र भगवान् के ऊपर छाया किये रहता है।

कहा जा सकता है कि भगवान् को इन सब चीजो से क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि इन चीजो के लिए अगर भगवान् की इच्छा होती तो भगवान् के भगवान्पन मे दूषण आता। भगवान् स्वय इसकी इच्छा नही करते। यह सब चीजे तो उनकी पूर्वकृत बीस बोलो✻ की आराधना के फलस्वरूप तीर्थंकर पद की प्राप्ति के साथ–साथ स्वत प्राप्त हुई चीजे हैं, जो भगवान् के साथ रहती हैं और उन्हे अनुकूलता प्रदान करती हैं। ऐसी स्थिति मे इन चीजो के कारण भगवान् को दोष नही लगाया जा सकता। कहि मान लीजिए एक मनुष्य कही जाने के लिए घर से निकला। जब वह घर से निकला तो सख्त गर्मी थी। धूप भी बहुत थी। वह थोडी दूर गया कि अचानक बादल चढ आया और धूप के बदले छाया हो गई तथा ठडी हवा बहने लगी। इस स्थिति मे उस मनुष्य के लिए क्या कहा जायेगा? यही कि वह मनुष्य वास्तव मे पुण्यशाली है। वह स्वय नही जानता था कि धूप के बदले छाया हो जायेगी। लेकिन प्रकृति की कृपा से वह धूप से बच गया। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् नही चाहते कि मुझे छत्र–चामर आदि चीजे प्राप्त हो, फिर भी

✻ अरिहतसिद्धपवयणा–गुरुत्थेरबहुस्सुए तवस्सीयु।
वच्छलया य तेसि अभिक्खणाणोवओगे य।
दसविणयआवस्सए य सीलव्वए य निरअइआरे।
खणलव–तवच्चियाए वेयावच्च समाहीय।।
अपुव्वणाणगहणे सुयभती पवयणेप्पभावणया।
एएहि कारणोहि तित्थयरत्त लहइ जीवो।।
भावार्थ – (१) अरिहत (२) सिद्ध (३) प्रवचन (शास्त्र) (४) गुरु (५) स्थविर (६) बहुसूत्री (पडित) (७) तपस्वी–इन सातो का गुणानुवाद करने से (८) ज्ञान

पूर्वभव मे की हुई बीस बोलो की आराधना से उन्हे अष्ट महाप्रातिहार्य प्राप्त हो जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि जो समग्र 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी का स्वामी हो, वही भगवान है। भगवान् महावीर समग्र 'श्री' के स्वामी थे।

पाचवी बात यह है कि जिससे सम्पूर्ण वैराग्य हो वह भगवान् है। समग्र लक्ष्मी के साथ सम्पूर्ण वैराग्य का होना आवश्यक है– देखी या अनदेखी किसी भी वस्तु पर ममत्व न हो। कुछ वस्तुए ऐसी होती है कि देखते ही उन्हे प्राप्त करने का लालच हो जाता है और कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय मे सुनने मात्र से लोभ जागृत होता है। जैसे स्वर्ग देखा नही है, उसके विषय मे सिर्फ सुना है। उसका लालच होना अनदेखी किन्तु सिर्फ सुनी हुई चीज का लालच होना है। भगवान् तो वही है, जिसे समस्त वस्तुओ का साक्षात् ज्ञान तो हो मगर किसी प्रकार का लोभ–लालच न हो।

छठी बात यह है जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो, वह भगवान् है। यहा प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष तो शरीर का त्याग करके सिद्धिस्थान प्राप्त कर लेने पर होता है। शरीर मे रहते मोक्ष कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि सिद्धिस्थान तो ठहरने का एक स्थान ही है, वह स्वय मोक्ष नही है। वास्तव मे मोक्ष तो यही हो जाता है। निश्चयनय से यही मोक्ष है। वहा तो मोक्ष होने के पश्चात् रहना मात्र होता है। मुक्त होने के पश्चात् ही वह स्थान प्राप्त होता है, पहले नही। अतएव मोक्ष यही है। यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए –

कल्पना कीजिए, एक तूबे पर मिट्टी का लेप लगाया गया है। तूबे का स्वभाव पानी पर तैरने का है पर तूबे पर सात–आठ बार लेप लगाने से वह भारी हो गया है। पानी मे छोडने पर तैरने के बदले वह डूब गया। पानी मे पड़ा रहने से ऊपर की मिट्टी गल गई और हट गई। मिट्टी हटने से तूबा फिर हल्का हो गया और अपने स्वभाव के अनुसार ऊपर आ गया। इस प्रकार तूबा यद्यपि ऊपर आ गया है किन्तु मिट्टी के बन्धन से मुक्त तो वह पानी के नीचे ही हो गया था। अगर पानी के नीचे ही वह बन्धनमुक्त न हुआ होता तो ऊपर आ ही नही सकता था। इस एकदेशीय उदाहरण के अनुसार आत्मा [illegible] लेप से बद्ध है। जब आत्मा का यह कर्मलेप हट जाता है–आत्मा [illegible] रूप से निष्कर्म कर्ममुक्त हो जाता है तभी वह सिद्धिस्थान प्राप्त करता है। [illegible] यहा मुक्त न हुआ होता तो सिद्धि स्थान मे जा ही नही सकता था।

[illegible] के लिए यह शरीर आदि बन्धन रूप है। अनन्त केवलज्ञान का

प्रकट होना वन्धन से मुक्त होना ही है। फिर भले ही शरीर मे वास हो तो भी आत्मा मुक्त है। सिद्धान्त इस कथन का समर्थन करता है। शास्त्र मे कहा है –एव सिद्धा वदन्ति परमाणु' अर्थात् सिद्ध भगवान् परमाणु के विपय मे ऐसा कहते हैं। यहा यह विचारणीय है कि सिद्धगति मे गये हुए सिद्ध भगवान् तो बोलते नही हैं, फिर भी यहा कहा गया है कि सिद्ध कहते हैं। इससे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि यहा तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती अरिहन्त भगवान् को ही सिद्ध कहा है। इस प्रकार इस ससार मे ही मोक्ष है और केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर आत्मा शरीर मे रहता हुआ भी सिद्ध ही है।

साराश यह है कि जिनमे पूर्वोक्त छह वाते पाई जाती हैं, वह भगवान् है। आपने यह सुन लिया कि भगवान् कैसे होते हैं। मगर विचार करो कि यह सुनकर आप क्या लाभ उठाना चाहते हैं? भगवान् के यह गुण सुनकर आपको निश्चय करना चाहिए और समझना चाहिए कि अगर आत्मा, परमात्मा के इन गुणो को एक बार भी हृदय मे धारण कर ले तो वह भवबन्धन से सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। पूर्व भव मे आत्मा ने ऐसा नहीं किया, मगर हे आत्मा ! अब ऐसा कर। प्रभुता चाहना तो आत्मा का स्वभाव है, मगर भूल यह हो रही है कि आत्मा अपने भीतर विद्यमान प्रभुता को भूल रहा है और वाहरी प्रभुता मे फस गया है। इसी कारण उसे प्रभुता नहीं मिलती, यही नही वरन् वह बन्धन मे पडा हुआ है। इसलिए अब बाहर की प्रभुता के फेर मे न पडकर आन्तरिक ऐश्वर्य प्रकट करे तो उसका कल्याण होने मे विलम्ब नहीं लगेगा।

जगत् का कल्याण करने के लिए ही भगवान् ने यह वाणी फरमाई है। अतएव यह वाणी हृदय मे उतारना चाहिए। भगवान् महावीर ने साढे बारह वर्ष तक तीव्र तपश्चर्या करके और अनेक कष्ट सहन करके अपने समस्त आवरण दूर किये और तत्पश्चात् ही सिद्धान्त की वाणी उच्चारी। वही वाणी सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कही और आज परम सोभाग्य से हम लोगो को इसे सुनने का अवसर मिला। अतएव हमे आत्मा को सावधान करना चाहिए कि–हे आत्मा! तू इस सिद्धान्त–वाणी का त्याग करके कहा भटक रही हे! तुझे तो ऐसा दुर्लभ सुयोग मिल गया है तो फिर इसे क्यो गवा रहा हे! सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा–'हे आयुष्मन् जम्बू ! भगवान् ने इस प्रकार कहा हे।' अथवा 'हे जम्बू ! आयुष्मान भगवान् ने इस प्रकार कहा हे।'

आयुष् तो तुम्हे भी प्राप्त हे ओर भगवान् को भी प्राप्त था किन्तु दोनो के आयुष् मे कुछ अन्तर है या नही? तुम्हे जो समय होता हे ओर वकील को जो समय होता है, उसमे कुछ अन्तर हे या नही? जव वकील के ओर साधारण

आदमी के समय मे भी अन्तर होता है तो भगवान् के आयुष्य मे और साधारण मनुष्य के आयुष्य मे कितना अधिक अन्तर न होगा? इन्द्र आदि देवगण जिन भगवान् को नमस्कार करते है। उन भगवान ने जो वाणी सुधर्मास्वामी को सुनाई थी और सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सुनाई थी, वही सिद्धान्त–वाणी आज हम लोग सुन रहे है। इस सिद्धान्त–वाणी का महत्व और अपना सौभाग्य कितना महान् है, यह विचार करना चाहिए।

सुधर्मास्वामी कहते है–'हे जम्बू! भगवान् महावीर ने सुनाया है और मैने भगवान् से सुना है। क्या सुना है, इस सम्बन्ध मे वे कहते है कि 'यह'–'इदम्' यह कथन अगुली निर्देश के साथ किया गया है। जो वस्तु सामने होती है उसी के विषय मे ऐसा कथन किया जाता है। 'खलु का अर्थ निश्चय है' अतएव इस कथन का अर्थ यह हुआ कि–'हे जम्बू! मैने निश्चय रूप से भगवान् से सुना है अर्थात् यह सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन मैने निश्चय ही भगवान् से सुना है।'

पहले कहा जा चुका है कि इस अध्ययन के तीन नाम हैं, परन्तु सूत्र मे यह अध्ययन 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम से ही कहा गया है। जिस अध्ययन मे सम्यक्त्व के लिए किये जाने वाले पराक्रम का विचार किया गया है, वह 'सम्यक्त्व– पराक्रम–अध्ययन' कहलाता है।

ससार मे सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते है। मिथ्यादृष्टि कोई नही रहना चाहता है। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाये तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव मे यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिये कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है। यद्यपि सच्चा सम्यक्त्व अविपरीतता मे ही है पर शास्त्रकार यशस्वी कार्य भी समकित मे गिनते है।

विपरीत का अर्थ उल्टा और अविपरीत का अर्थ सीधा– जैसे का तैसा होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप मे देखना अविपरीतता है और उल्टे रूप मे देखना विपरीतता है। उदाहरणार्थ–किसी ने सीप देखी। वास्तव मे वह सीप है फिर भी अगर कोई उसे चादी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड मे विचरते समय मैने मृगमरीचिका देखी। वह ऐसी दिखाई देती थी मानो जल से भरा हुआ समुद्र हो। उस मे वृक्ष वगैरह की परछाई भी दिखाई देती है। ऐसा होने पर भी मृगमरीचिका को जल समझ लेना विपरीतता है।

जैसे यह विपरीतता वाह्य-पदार्थो के विषय मे है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय मे भी विपरीतता होती है। शास्त्रोक्त वचन समझ कर जो सम्यग्दृष्टि होगा वह विचार करेगा कि अगर मैंने वस्तु का जैसे का तेसा स्वरूप न समझा तो फिर मैं सम्यग्दृष्टि ही कैसा?

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमाहट देखकर चादी समझ ली जाती है। अगर उसके पास जाकर देखो तो कोई सीप को चादी मान सकता है? नही। इसी प्रकार ससार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे जाते हैं, तब तक वह जिस रूप मे माने जाते हैं उसी रूप मे दिखाई देते है, किन्तु अगर पदार्थो के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वह ऐसे नही प्रतीत होगे, बल्कि एक जुदे रूप मे दिखाई देगे। जब पदार्थो की वास्तविकता समझ मे आ जायेगी तब उसके सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाली विपरीतता मिट जायगी। जब पदार्थो की वास्तविकता का भान होता है और विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्दृष्टिपन प्रकट होता है। सीप दूर से चादी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप मे सीपपन तो पहले भी मौजूद था परन्तु दूरी के कारण ही सीप मे विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चादी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता जान पडने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भलीभाति परीक्षण करने से वस्तु के विषय मे ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती है और तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाति अन्य पदार्थो के विषय मे भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थो के विषय मे विपरीतता किस प्रकार हो रही हे इस विषय मे शास्त्र मे कहा है-'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना' अर्थात् जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना, इत्यादि दस प्रकार के मिथ्यात्व हे। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव को अजीव मानने वाले बहुत से लोग हैं। कुछ का कहना है कि जो कुछ हे, यह शरीर ही हे। शरीर से भिन्न आत्मा नही हे। यह शरीर पाच भूतो से बना हे और जब पाचो भूतो का सयोग नष्ट हो जाता हे तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव-आत्मा को न मानने वाले भी हैं। यह भी एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु हे यह मिथ्याज्ञान। जीव मे अजीव की स्थापना करने का कारण यही हे कि ऐसी स्थापना करने ।ले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर हैं। जब वह सम्यग्ज्ञान के समीप

आएगे तो, जैसे समीप जाने से सीप मे चादी का मिथ्याज्ञान मिट जाता है, उसी पकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय उन्हे आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नही हुए है, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रग मे रगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नही करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चादी मान ली जाती है, उसी प्रकार जीवत्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते है। अगर वह जीवत्व के निकट पहुचे तो उन्हे पतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नही जीव है।

'आत्मा नही है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ–अधेरे मे रस्सी साप जान पडती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि साप का अस्तित्व है। साप का कही अस्तित्व न होता तो साप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वही मृगजल मे जल की कल्पना कर सकता है, जिसने कभी कही जल का अनुभव नही किया वह मृगजल देखकर जल की कल्पना ही नही कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नही है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहा से आता? और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्या थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि ससार मे जितने भी समासहीन पद है, उन सब पदो के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते है। जो पद समासयुक्त है उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नही भी होता मगर जिस पद मे समास नही होता उस पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृग' पद बोला जाता है। 'शशशृग' का अर्थ है खरगोश का सीग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नही है। अगर 'शश' और 'शृग' शब्दो को अलग–अलग कर दिया जाये तो दोनो का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृग अर्थात् सीग, दोनो ही जगत् मे विद्यमान है। जैसे 'शशशृग' नही होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नही होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनो समस्त–समासयुक्त–पद अलग–अलग कर दिए जाए तो दोनो का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलीभाति सिद्ध

है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्‌भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोडा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं उन सब के वाच्यो का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यो नही होगा?

यह हुई जीव मे अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव मे भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ लोगो का कहना है कि आत्मा एक ही है और जेसे पानी से भरे हजारो घडो मे एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब मे व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। यहा उदाहरण मे बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारो घडो मे दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घडो मे पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सब मे दिखाई देगा। अगर एक ही आत्मा चन्द्रमा की तरह सब शरीरो मे व्याप्त होती तो जो विविधता दिखाई देती है, वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान दिखाई देता है, कोई बुद्धिहीन। कोई दु खी है, कोई सुखी है, अगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यो दिखाई देती?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीतता-भ्राति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

यह इस अध्ययन के नाम के एक भाग का विवेचन हुआ। अब यह विचार करना है कि यह सुनकर करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि सम्यक्त्व के लिए पराक्रम करना चाहिए।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते है कि निश्चय मे सभी का आत्मा समान है परन्तु व्यवहार करते समय मानो यह बात भुला ही दी जाती है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियो पर मेरा मैत्रीभाव है, इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीब, दु खी या भिखारी द्वार पर आता है तब इस सिद्धान्त का पालन कितना होता है, यह देखना चाहिए। तुम्हे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दु खी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे ओर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौडे जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिए प्रयत्न न करो तो कहा जायेगा कि अभी तुम्हारे अन्त करण ` सच्चा करुणाभाव उत्पन्न नही हुआ है। तुम्हारे हृदय मे सम्यक्त्व होगा तो

सब की रक्षा करने का दयाभाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नही कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नही है तो उससे यही कहा जायेगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नही है। इसी पकार जिसमे चिकनापन नही है वह घी नही है। वह और कोई चीज होगी। इसी प्रकार हृदय मे दयाभाव न हो तो यही कहा जायेगा कि अभी सम्यक्त्व पाप्त नही हुआ है। जिसमे सम्यक्त्व होगा उसमे दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाशी सबन्ध है। इसी कारण सन्त पुरुष ऐसा उपदेश देते है कि –

करिये भवि प्राणी धर्म सुखो की खान है
दया धर्म का मूल कहा है उसका भेद सुनावे,
अनुकपा जिस दिल मे प्रगटे माया ममता जावे रे। करिये।

क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सभी लोग दया को श्रेष्ठ मानते हैं। सभी लोग दयाधर्म–दयाधर्म चिल्लाते है। दया के विषय मे किसी का मतभेद नही है। नीतिग्रन्थो मे कहा है–

'परस्परविवदमानाना धर्मग्रंथानामहिसा परमो धर्म
इत्यत्रेकवाक्यता'

अर्थात्–धर्मग्रन्थो मे अनेक बातो मे मतभेद है किन्तु 'अहिसा श्रेष्ठ धर्म है इस विषय मे किसी का मतभेद नही है। अहिसा को धर्म मानने से कोई इन्कार नही कर सकता। अगर कोई व्यक्ति इन्कार करता है तो उसके मान्य धर्मग्रन्थो से अहिसा की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है।

इस प्रकार सभी दया मे विश्वास रखते हैं और अहिसा को धर्म मानते है। किन्तु जिस भारतवर्ष मे दया का इतना प्रचार है उसमे कोई दु खी नही है? आज दु खी मनुष्यो की सख्या भारत मे अधिक है या अमेरिका मे? यद्यपि अमेरिका आदि पाश्चात्य देशो मे सहारक नीति का प्रसार हो रहा है किन्तु अपने और अपने भाइयो के अधिकारो की रक्षा के लिये ही इस नीति का आश्रय लिया जा रहा है। अपने अधिकारो की रक्षा का प्रसग आने पर वहा के लोग चुपचाप नही बैठे रहते वरन् लड मरते हैं और उस समय वे यह नही करते कि हम किस प्रकार हिसा पर उतारू हो गये है। इतना होने पर भी वे लोग अपने देश के दु खियो की रक्षा करते ही हैं। तुम लोग 'दयाधर्म–दयाधर्म' कहते फिरते हो फिर भी भाई–भाई के बीच कितना द्वेष भरा हुआ है यह तो देखो। अगर तुम सच्चे दयाधर्मी हो तो तुम्हारा व्यवहार ऐसा नही होगा कि जिससे किसी का जरा भी दिल दु खी हो।

सच्चा दयाधर्मी कैसे वस्त्र धारण करेगा? वह चर्वी वाले वस्त्र

पहनेगा अथवा विना चर्वी के? कदाचित् विना चर्वी के वस्त्र महगे हो तो भी क्या पैसो के लिये दयाधर्म को त्याग कर देना चाहिये? वम्बई के विपय मे सुना गया है कि वहा तवेला की गायो का मास चार आने सेर विकता है और शाक–तरकारी आठ आने सेर। तो क्या कोई भी दयाधर्मी महगाई के कारण शाक–तरकारी खाना छोडकर उसके वदले सस्ता मास खाना पसन्द करेगा? मास का नाम कान मे पडते ही दयाधर्म याद आ जाता है, इसका कारण पैत्रिक सस्कार हैं। परन्तु वस्त्रो के विपय मे नहीं सोचते कि हम क्या कर रहे हैं ? सुना है शिकागो (अमेरिका) मे जो कत्लखाने हैं, उनमे का रक्त वाहर निकालने के लिये इतने मोटे नल लगाये गये हैं जैसे किसी शहर की बडी ... डी गटरे हो। इस प्रकार की घोर हिसा वाली चर्वी लगे वस्त्र पहनना क्या दयाधर्मी को शोभा देता है? जो सच्चा दयाधर्मी होगा वह तो यही कहेगा कि ऐसे वस्त्र मुझसे पहने ही नहीं जा सकते।

दयाधर्म की रक्षा के लिये ही तुमने मासभक्षण का त्याग कर रखा है। मास के प्रति तुम्हारे दिल मे इतनी तीव्र घृणा हे कि प्राण भले ही चले जाए मगर तुम मास का स्पर्श तक नहीं कर सकते। मास न खाने के विषय मे जिस युक्ति का उपयोग किया जाता है, उसी युक्ति का अन्य वातो मे अर्थात् कोन वस्तु उपादेय है और कोन हेय है, ऐसा विवेक करने मे उपयोग करने से ही दयाधर्म टिक सकता है। कदाचित् कोई कहे कि दयाधर्म की रक्षा करने मे कष्ट सहना पडता है तो उसे उत्तर देना चाहिये कि दयाधर्म की रक्षा के लिये कष्ट सहन करना ही उचित है। गजसुकुमार मुनि सयम का पालन करने के लिये ही निकले थे ओर वह सयम का पालन कर रहे थे, इसी कारण उनके सिर पर कष्ट पडे थे। पर कष्ट पडने के कारण उन्होने क्या सयम पालना छोड दिया था? तो क्या तुम दयाधर्म की रक्षा के लिये जरा सा भी कष्ट नही सहन कर सकते? यद्यपि पूर्ण दया का पालन तो चोदहवे गुणस्थान मे ही सभव है, फिर भी उससे पहले अपनी शक्ति के अनुसार तो दया का पालन करना ही चाहिये और दयाधर्म मे कितनी प्रवल शक्ति रही हुई हे ओर उसके द्वारा आत्मा का किस प्रकार कल्याण हो सकता हे, इस वात की परीक्षा करनी चाहिये।

अहिसा का पालन करने के कारण कभी दु ख हो ही नही सकता। आजकल नये रोग नजर आते हैं उनके लिये अहिसा उत्तरदायी नही हे वरन् हिसा की ही जवावदारी हे। शास्त्र कदापि नही कहता कि तुम मैले–कुचल रहो और गदगी भरे रखो। वस्तुत मैलेपन ओर गदगी के कारण ही रोग फलत

हैं। यह एक किस्म की हिसा ही है। इसी प्रकार रगडे–झगडे, रार–तकरार और क्लेश–कदाग्रह भी हिसा के ही फल हैं। अहिसा के कारण कभी झगडा नही होता। न्यायालय मे जाकर जाच करो तो मालूम होगा कि एक भी मुकदमा अहिसा के कारण नही हुआ है। अहिसा की महिमा बतलाते हुए कहा है –

गज भव सुसलो राखियो, कीनी करुणा सार।
श्रेणिक घर जइ अवतरयो, अंगज मेघकुमार।। रे जीवा।।
जिनधर्म कीजिये सदा, धर्मना चार प्रकार।
दान शील तप भावना पाली निर अतिचार।। रे जीवा.।।

इस प्रकार अहिसा तो सदैव सुखदायिनी है। हाथी द्वारा निर्मित मडल मे इतने ज्यादा जीव आ घुसे कि हाथी को पैर रखने की भी जगह न बची। ऐसे समय मे हाथी को क्रोध आ सकता था या नही? तुम्हे तो इतने मे ही क्रोध आ जाता है कि दूसरा तुम्हारे आगे क्यो बैठ गया? इसका क्या कारण है ? क्या दयाधर्मी होने के कारण तुम्हारा पारा ऊचा चढ जाता है? हाथी के मडल मे तो अनेक जीव आ घुसे थे और उन्होने थोडी–सी भी जगह खाली नही रहने दी थी। एक खरगोश को कही जगह नही मिल रही थी और वह परेशान होकर कष्ट पा रहा था। इतने मे ही हाथी ने अपना शरीर खुजलाने के लिए पैर ऊपर उठाया। पैर ऊपर होते ही खाली हुई जगह मे खरगोश बैठ गया हाथी चाहता तो खरगोश के ऊपर पैर रख सकता था और उसे मसल सकता था, पर खरगोश पर दयाभाव लाकर उसने पैर नीचा नही किया। हाथी भलीभाति समझता था कि वास्तव मे सच्चा घर वही है जहा किसी दु खी जीव को, थोडे समय के लिये ही सही, विश्राम मिल सकता हो। जिस घर मे आया कोई भी अतिथि दु ख न पाये वही सच्चा घर है। हाथी को तो ऐसा उदार विचार आया, पर तुम्हे ऐसा उदार विचार आता है या नही? नीतिशास्त्र मे कहा है –

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुस्कृत दत्वा पुण्यमादाय गच्छति।।

अर्थात जिसके घर आया हुआ अतिथि निराश होकर लौटता है, उसे अतिथि का पाप लगता है और अतिथि पाप देकर उस घर का पुण्य लेकर चला जाता है।

[illegible] सोच सकता था कि यह सब पशु मेरे मडल मे–मेरे घर मे क्यो

आये हैं? वह खरगोश पर क्रुद्ध होकर उसे कुचल भी सकता था, मगर न जाने प्रकृति की कौनसी अनूठी शिक्षा से वह बीस पहर तक एक पेर ऊचा किये ही खडा रहा। हाथी जैसे स्थल शरीर वाले प्राणी के लिए इतने लम्बे समय तक एक पैर ऊपर किये खडा रहना कितना कष्टकर था? मगर उसने ऐसा करने मे कष्ट के बदले आनन्द ही माना। इसका परिणाम यह हुआ कि वह हाथी के भव से तिर्यंच गति से निकल कर राजा श्रेणिक के घर पुत्र रूप मे पैदा हुआ और अन्त मे भगवान् महावीर का अन्तेवासी (शिष्य) बना।

जब इस प्रकार का दयाभाव हृदय मे प्रकट हो तो समझना चाहिए कि मुझमे सम्यक्त्व है। तुम्हे सदैव ध्यान रखना चाहिए कि हमारे मजा–मौज के खातिर कितने जीवो को किस प्रकार कष्ट पहुच रहा है। इस बात का विचार करके धर्म–अधर्म का विवेक करो। इसी मे तुम सब का कल्याण है।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा–'हे आयुष्मन् जम्बू! यह सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन मैंने भगवान् से सुना है।'

सम्यक्त्व कहो या समकित, अर्थ एक ही है। समयक्त्व गुणवाचक शब्द है, परन्तु गुण और गुणी के अभेद से यह पराक्रमसमकिती का पराक्रम समझना चाहिए। अथवा यह मानना चाहिये कि इस अध्ययन मे समकिती पराक्रम बतलाया गया है। शास्त्र मे कभी गुण को प्रधानता दी जाती है और कभी गुणी मुख्य होता है। परन्तु गुणी कहने से गुण का और गुण कहने से गुणी का ग्रहण हो जाता है। ससार–व्यवहार मे भी किसी का सम्बोधन करने के लिए कभी–कभी गुण का आश्रय लिया जाता हे और कभी–कभी गुणी का नाम लिया जाता है। इतना ही नही वरन् जब किसी की अधिक प्रशसा करनी होती है तब गुणी के नाम का लोप करके गुण को ही प्रधानता दी जाती हे और गुण का ही नाम लिया जाता है। व्यवहार मे कहा जाता हे–यह घी क्या है, आयु ही है। अन्न क्या है, प्राण ही है। यद्यपि घी ओर अन्न, आयु एव प्राण से भिन्न वस्तुए हैं, फिर भी वहा गुणी को गोण करके गुण को प्रधान पद दिया गया है। कदाचित् इन उदाहरणो मे भूल भी हो सकती हे परन्तु 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम के विषय मे किसी प्रकार की भूल नही हे। यहा गुणी को गोण करके गुण को प्रधानता दी गई है, यह स्पष्ट हे। अतएव यहा समकित का अर्थ समकिती समझना चाहिए। क्योकि समकित गुण हे ओर गुण कोई पराक्रम नही कर सकता। पराक्रम करना गुणी का ही काम हे। इस कारण समकिती जो पराक्रम करे वही पराक्रम यहा समझना चाहिए।

सुधर्मास्वामी ने सर्वप्रथम, समुच्चय रूप मे कहा–'मैंने भगवान से

सुना है।' परन्तु इस कथन मे यह जिज्ञासा हो सकती है कि किस भगवान् से सुना है? भगवान् तो ऋषभदेव भी थे और अन्य तीर्थङ्कर भी भगवान् थे। शास्त्रो मे अनेक स्थलो पर स्थविरो को भी भगवान् कहा है और गणधर भी भगवान् कहलाते हैं। ऐसी स्थिति मे भगवान् कहने से किसे समझा जाये? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए स्पष्ट किया गया है कि 'मैने भगवान् महावीर से यह सुना है।' भगवान् महावीर भी कैसे थे? इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है–'मैने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार सुना है।'

श्रमण का अर्थ है–तपस्या मे पराक्रम करने वाला या समस्त प्राणियो के पति समभाव रखने वाला। सामान्य रूप से साधुओ मे समभाव होता है परन्तु भगवान् महावीर सम्पूर्ण रूप से समभाव धारण करते थे। उपसर्ग देने वाले और जहरीला डक मारने वाले पर भी उनका भाव वैसा ही था, जैसा वन्दना करने वालो पर था। जो आपको घोर कष्ट पहुचा रहा है, जो आपको डक मारकर काट रहा है उस पर भी समभाव रखना कितना अधिक कठिन है, इस बात का विचार करोगे तो यह खयाल आये बिना नही रहेगा कि समभाव रखना कितना कठिन काम है! कितने लोग अपना मस्तक उतार कर देना तो पसन्द करते हैं, मगर उनसे कहा जाये कि समभाव रखकर एक जगह बैठ जावो तो उन्हे ऐसा करना कठिन जान पडता है। इसके विरुद्ध असीम शक्ति के स्वामी होते हुए भी भगवान् ने कैसे क्षमा धारण की! वह अपने को कष्ट देने वाले का प्रतिकार कर सकते थे, चाहते तो उसे दड भी दे सकते थे मगर उन्होने प्रतिकार करने के बदले प्रतिबोध देना ही अपना कर्त्तव्य समझा। जो भगवान् इस प्रकार समभाव की साक्षात् मूर्ति थे, उन्हे श्रमण न कहा जाय तो फिर किसे श्रमण कहा जायेगा?

जिन्होने इस सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन की प्ररूपणा की, वह श्रमण थे दीर्घतपस्वी थे भगवान् थे और महावीर थे। भगवान् का 'महावीर' नाम जन का नही किन्तु देवो का किया हुआ गुणनिष्पन्न नाम है। देवो ने भगवान् की अटलता, महावीरता देखकर उन्हे महावीर सज्ञा दी थी। भगवान् ने महावीर पद प्राप्त करने से पहले कितना पराक्रम किया था? जबकि तुम कितना आलस्य करते हो! इस पर विचार तो करो। अगर तुम भगवान् के बराबर पराक्रम नही कर सकते तो अन्तत उनका नाम ही अपने हृदय मे स्थापित करो। इस दशा मे भी तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। सभी लोग नदी पर पुल नही बधवा सकते फिर भी राजा द्वारा बधवाये हुए पुल पर से जैसे हाथी जा सकता है उसी प्रकार कीडी भी नदी पार कर सकती है।

पुल के अभाव मे हाथी को भी नदी पार करना कठिन हो जाता है। अतएव जैसा पराक्रम भगवान् ने किया था, वैसा पराक्रम तुम से न हो सके तो कम से कम उनका नाम तो अपने हृदय मे धारण कर ही सकते हो।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—ऐसे श्रमण भगवान् महावीर ने जब केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तब सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन की प्ररूपणा की और मैने उनसे यह सुना।

जनता के कल्याण के लिए इस अध्ययन मे भगवान् ने प्रश्न रूप मे एक—एक बात उपस्थित करके स्वय ही उस प्रश्न का उत्तर दिया है। इस प्रकार सब बातो का निर्णय किया है। अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो भगवान् की इस वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन मे स्थान दो। भगवान् की वाणी को अपने जीवन मे ताने—बाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा। भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है। इस सम्बन्ध मे भगवान् ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला है। भगवान् मर्यादा—पुरुषोतम थे। वह मर्यादा को भग नही कर सकते थे।। उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुचने पावे। ठोक—पीट कर समझने से सामने वाले को कष्ट पहुचता है। ऐसी स्थिति मे भगवान् किसी को जबर्दस्ती कैसे समझा सकते थे? भगवान् अभग अहिसा का परिपालन करते थे। किसी का दिल दु खाना भी हिसा है, इसीलिए भगवान् ने किसी पर जोर—जबर्दस्ती नही की। उन्होने समुच्चय रूप मे सभी को कल्याणकारी उपदेश दिया है। जिन्होने भगवान् का उपदेश माना उन्होने अपना कल्याण—साधन कर लिया। जिन्होने ऐसा नही किया, वे अपने कल्याण से वचित रह गये। कई—एक चीजे श्रेष्ठ तो होती हैं, परन्तु दूसरो को कष्ट न पहुचाने के विचार से बलात् नही दी जा सकती। भगवान् की यह वाणी कल्याणकारिणी होने पर भी किसी को जबर्दस्ती नही समझाई जा सकती अतएव भगवान् ने समुच्चय रूप मे ही उपदेश दिया है।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—'मैने भगवान् महावीर से इस प्रकार सुना है।' किन्तु इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर कौन से? इसका समाधान करने के लिए 'श्रमण विशेषण' लगाया मगर श्रमण भी अनेक प्रकार के होते हैं अतएव अन्य का व्यवच्छेद करने के लिए सुधर्मास्वामी ने 'कासवेण' विशेषण लगाया है। अर्थात् काश्यपगोत्र वाले श्रमण भगवान् महावीर से मैंने सुना है। भगवान् के पूर्वजो मे कोई कश्यप

नामक व्यक्ति प्रधान हुआ होगा और सभवत इसी कारण उन्हे काश्यपगोत्रीय कहा गया है।

सुधर्मास्वामी इस प्रकार सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन के प्ररूपक श्रमण भगवान् महावीर का परिचय देने के बाद इस अध्ययन का माहात्म्य बतलाते हुए आगे कहते है—

'इह खलु सन्मत्तपरिक्कमे नाम अज्झयणे समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइय, ज सम्मं सद्दहित्ता, पत्तइत्ता, रोयइत्ता, फासित्ता, तीरित्ता, कित्तइत्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, सव्वबुक्खाणमन्त करेन्ति।'

हे जम्बू! काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक जो अध्ययन प्ररूपण किया है, वह इतना महत्वपूर्ण है कि इस पर सम्यक् श्रद्धा करके, प्रतीति करके, रुचि करके, इसका स्पर्श करके, पार करके, कीर्ति करके, सशुद्धि करके, आराधना करके और आज्ञापूर्वक अनुपालन करके अनेक जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करते है और सब दु खो का अन्त करते है। सुधर्मास्वामी ने इस प्रकार कहकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का महामार्ग इस सूत्रपाठ मे प्रदर्शित किया है।

इस सूत्रपाठ मे जगत् के जीवो को धर्म का बोध देने की जो शैली स्वीकार की गई है वह कितनी सरल, अर्थयुक्त और प्रभावशालिनी है। इसका ठीक रहस्य वही समझ सकता है जो सूत्रपारगामी है। ऊपरी दृष्टि से देखने वाले को इस सूत्रशैली मे पुनरुक्ति दिखाई देती है, पर इस पुनरुक्ति मे क्या उद्देश्य छिपा हुआ है और पुनरुक्त प्रतीत होने वाले शब्दो मे कितनी सार्थकता एव अर्थगभीरता है इस विषय का गहरा विचार किया जाये तो मन की शका का समाधान हो जायेगा, अनेक अपूर्व बाते जानने को मिलेगी और सूत्ररचना—शैली पर अधिक आदरभाव उत्पन्न होगा। मगर आज सूत्ररचना के सम्बन्ध मे गहरे उतर कर नही वरन् ऊपरी दृष्टि से ही विचार किया जाता है। अगर प्रत्येक शब्द के अर्थगाभीर्य पर विचार किया जाये तो सूत्ररचना शैली की गभीरता प्रतीत हुए बिना नही रह सकती।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सिद्ध बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग बतलाया है उस मार्ग पर जाने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार है। श्रद्धा का अर्थ किसी बात को नि सदेह होकर मानना है। अमुक बात ऐसी ही है इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई बार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है मगर

ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नहीं चलता। अतएव सिद्धान्त–वचनो का हृदय पूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित् सिद्धान्त वचनो पर प्रतीति हो जाये तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नही होता। व्यवहार मे आये विना प्रतीति मात्र से सिद्धान्तवाणी पूर्ण लाभप्रद नही होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्तवाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

एक उदाहरण से वह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डॉक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई मगर प्रतीति नही। प्रतीति तब होती जव उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया जाये। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण देखने से प्रतीति उत्पन्न होती है। डॉक्टर निस्पृह और अनुभवी है, इस विचार से दवा पर श्रद्धा तो उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तव होती है जब उसी दवा से दूसरे का रोग मिट गया है, यह जान लिया जाये। मान लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई तो ऐसी दशा मे रोग कैसे नष्ट होगा? रोग का नाश करने वाली दवा पर रुचि रखकर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता है। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाये नियमोपनियम का पालन किया जाये और अपथ्य सेवन न किया जाये, दवा से लाभ होगा ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशसा की जाये तथा दवा सेवन करने मे किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूढ कर अपनी भूल सुधार ली जाये तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता हे। अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय हे?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हैं जिन्होने साढे वारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत–जीवो को जन्म–जरा–मरण आदि भव–रोगो से मुक्त करने के लिए अहिसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज करके महावेद्य वने थे। उन महावेद्य महावीर भगवान् ने जन्म–जरा–मरण आदि भव रोगो से पीडित जगत्–जीवो को रोगमुक्त करन के लिए यह प्रवचन रूपी अमोध ओषघ का आविष्कार किया हे। सवसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता हे। ऐसे महान् त्यागी

ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायेगा? भगवान् की सिद्धान्तवाणी को सब लोक विवेक की कसौटी पर नही कस सकते। सब लोग नही समझ सकते कि भगवान् की वाणी मे क्या माहात्म्य है? अतएव साधारण जनता के लिए एक मात्र लाभपद बात यही है कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करे। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी, तब तक लाभ भी नही हो सकता। इस कारण श्रद्धा को सब से अधिक महत्व दिया गया है। गीता मे भी कहा है–

श्रद्धामयोऽय पुरुषो, यो यच्छृद्ध स एव स।

अर्थात्–पुरुष श्रद्धामय है–श्रद्धा का ही पुज है और जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार से भी सिद्ध होती है। दर्जी के काम की श्रद्धा रखने वाला दर्जी बन जाता है और जो लुहार का काम करने की श्रद्धा रखता है वह लुहार बन जाता है। साधारण रूप से सिलाई का काम तो सभी कर लेते है परन्तु इस प्रकार का काम करने से कोई दर्जी नही बन जाता और न कोई अपने आपको दर्जी मानता ही है। इसका कारण यह है कि सिलाई का काम करते हुए भी हृदय मे उस काम की श्रद्धा नही है अर्थात् वह काम श्रद्धापूर्वक नही किया जाता। अगर वही सीने का काम श्रद्धापूर्वक किया जाये तो दर्जी बन जाने मे कोई सदेह नही किया जा सकता।

कहने का आशय यह है कि सर्वप्रथम भगवान्‌रूपी महावैद्य की वाणीरूपी दवा पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। सिद्धान्तवाणी के विरुद्ध विचार नही होना चाहिए और साथ ही वाणी के ऊपर प्रतीति विश्वास होना चाहिए। इस सिद्धान्तवाणी के प्रभाव से पापियो का भी कल्याण हो सकता है ऐसा विश्वास दृढ होना चाहिए। भगवद्‌वाणी के अमोघ प्रभाव से अर्जुन माली और चडकौशिक साप आदि पापी जीवो के कर्म–रोगो का नाश हुआ है। भगवान् की वाणी पर प्रतीति–विश्वास करने के बाद रुचि भी होनी चाहिए। कोई कह सकता है कि भगवान् की वाणी द्वारा अनेक पापी जीवो के पापो का क्षय हुआ है, यह तो ठीक है किन्तु उस वाणी पर रुचि लाना अर्थात उसे जीवन–व्यवहार मे उतारना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मगर यदि भगवान की वाणी पर रुचि उत्पन्न नही हो तो समझना चाहिये कि अभी तक श्रद्धा और विश्वास मे न्यूनता है। जो रोगी भय के कारण औषध का सेवन ही नही करता उसका रोग किस प्रकार मिट सकता है? सासारिक जीव भगवान की वाणी मे जीवनव्यवहार मे न लाने के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं।

यो तो अनादिकाल से ही जीव उन्मार्ग पर चलकर दु ख भुगत रहे हैं, मगर उनसे कहा जाये कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन कर लो तो सदा के लिये दु ख से छूट जाओगे तो वे ऐसा करने को तैयार नही होते और इसी कारण वाणी रूपी औषध की विद्यमानता मे भी वे कर्मरोगो से पीडित हो रहे है।

भगवान् की वाणीरूपी दवा पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करने के अनन्तर उसकी स्पर्शना भी करनी चाहिए। अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्तवाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने मे ही उनका उपयोग करना चाहिए। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भगवद्वाणी को जितने अश मे स्वीकार किया हो उतने अश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढते हुए भगवद्वाणी के पास पहुचना चाहिए।

आज बहुत–से लोग आरम्भशूर दिखाई देते हैं। लोग किसी कार्य को आरम्भ तो कर देते हैं किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोड बैठते हैं। ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नही कर सकते। महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ मे लेते ही नही हैं और जिस काम मे हाथ डालते है उसे भयकर से भयकर कष्ट आने पर भी अधूरा नही छोडते।

इस प्रकार सिद्धान्तवाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारगत होना चाहिए और फिर यह वाणी जैसी कही जाती है, वैसी ही है। मै इस वाणी का पालन करके पार नही पहुच सकता था किन्तु भगवान् की कृपा से पार पहुचा हू, इस प्रकार कहकर भगवद्वाणी का सकीर्तन करना चाहिये। भगवद्वाणी को आचरण मे उतारते किसी प्रकार का दोष हुआ हो तो उसका सशोधन करना चाहिए किन्तु दूसरे पर दोषारोपण नही करना चाहिए। तत्पश्चात् 'आज्ञा गुरूणा खलु धारणीया' इस कथन के अनुसार गुरुओ की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर भगवान् की वाणी का आज्ञानुसार पालन करना चाहिए।

इस प्रकार इस सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि स्पर्शना करने से उसका पालन करने से, पार पहुचने से, सकीर्तन करने से, सशोधन करने से, आराधना करने से और आज्ञानुसार अनुपालन करने से अनेक जीव सिद्ध, बुद्ध ओर मुक्त हुए हें, होते है ओर होंगे तथा सब दु खो का अन्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए हे, होते हैं ओर होगे।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से इस प्रकार कहा, परन्तु न यहा

सुधर्मास्वामी है, न जम्बूस्वामी ही है। यहा तो हम लोग है। अगर हम लोग सब दु खो से मुक्त होना और परम शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो सुधर्मास्वामी ने हम लोगो के कल्याण के हेतु भगवान् से सुने हुए जो वचन कहे है, उन्हे हृदय मे धारण करके पालन करना चाहिए।

अपनी बौद्धिक दृष्टि से देखने पर इस शास्त्र के कोई–कोई वचन समझ मे न आये यह सभव है, परन्तु शास्त्र के वचन अभ्रान्त है। इसलिए इन सिद्धान्त–वचनो पर दृढ विश्वास रखकर उनका पालन किया जाये तो अवश्य ही कल्याण होगा। कहा जा सकता है हमारे पीछे दुनियादारी की अनेक झझटे लगी हैं और इस स्थिति मे भगवान् के इन वचनो का पालन किस प्रकार किया जाये? ऐसा कहने वालो को सोचना चाहिए कि भगवान् क्या उन झझटो को नही जानते थे? इस पचमकाल को और इसमे उत्पन्न होने वाले दु खो को भगवान् भलीभाति जानते थे और इसी कारण उन्होने दु ख से मुक्त होने के उपाय बतलाये है। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम मे नही लाता और सिद्धान्त–वचनो पर श्रद्धा नही करता तो वह दु खो से किस प्रकार मुक्त हो सकता है?

हम लोग कई बार सुनते है कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषो ने विविध प्रकार के कष्ट सहन किये है, परन्तु वह महापुरुष कभी ऐसा विचार तक नही करते कि सत्य के कारण यह कष्ट सहने पडते हैं तो हमे सत्य का त्याग कर देना चाहिए। महापुरुषो का यह आदर्श अपने समक्ष होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करे तो यह हमारी कितनी बडी अपूर्णता कहलाएगी? अतएव भगवान् की वाणी को अभ्रान्त समझकर उस पर श्रद्धा प्रतीति तथा रूचि करो और विचार करो कि भगवान् का हमारे ऊपर कितना करुणाभाव है कि उन्होने हमारे कल्याण के लिए यह वचन कहे है भगवान अपना निज का कल्याण तो बोले बिना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए ही उन्होने यह सिद्धान्तवाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर हमे विश्वास करना ही चाहिए।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है मगर ससार मे चमत्कार के बिना नमस्कार नही देखा जाता। अतएव हमे कोई चमत्कार दिखलाना चाहिए। इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता हे कि [illegible] चमत्कार बतलाया जाये तो उपदेश ही हे और अगर व्यावहारिक [illegible] बतलाया जाये तो यह भी तभी माना जायेगा जबकि वह बुद्धि मे

उतर सके। अगर बुद्धि मे न उतरा तो वह भी अमान्य ही ठहरेगा। यह बुद्धिवाद का जमाना है। यह जमाना विचित्र है। जो लोग शास्त्र सुनने आते हैं उनमे से भी कुछ लोग ही सचमुच शास्त्र सुनने आते हैं और कुछ लोग यह सोचकर आते हैं कि वहा जाने से हमारे अवगुण दब जाएगे और हमारी गणना धर्मात्माओ मे होने लगेगी यह बात इस खोटे जमाने से ही नही वरन् भगवान् महावीर के समय से ही चली आती है। भगवान् के समवसरण मे आने वाले देवो मे भी कितनेक देव भगवान् के दर्शन करने आते थे और कितने ही देव दूसरे अभिप्राय से आया करते थे। दूसरे अभिप्राय से आने वाले देवो मे कुछ देव तो इसलिए आते थे कि भगवान् के पास जाकर अपनी शकाओ का समाधान कर लेगे, कुछ देव अपने मित्रो का साथ देने के लिए आते थे और कुछ देव भगवान् के पास अपना जिताचार–आचार–परम्परा समझ कर आते थे। इस प्रकार भगवान् के समय मे भी ऐसी घटनाए हुआ करती थी।

यह हुई परीक्षा की बात। प्रत्यक्ष मे भी व्याख्यान मे आने वाले लोग भिन्न–भिन्न विचार लेकर आते हैं। लोग किसी भी विचार से क्यो न आवे, अगर भगवान् की वाणी का एक भी शब्द उनके हृदय को स्पर्श करेगा तो उनका कल्याण ही होगा। भगवान् की वाणी का चमत्कार ही ऐसा है। पर विचारणीय तो यह है कि जब आये ही हो तो फिर शुद्ध भाव ही क्यो नही रखते? अगर शुद्ध भाव रखोगे तो तुम्हारा आना शुद्ध खाते मे लिखा जायेगा। कदाचित् शुद्ध भाव न रखे तो तुम्हारा आना अशुद्ध खाते मे लिखा जायेगा। तो फिर यहा आकर अशुद्ध खाते मे अपना नाम क्यो लिखाना चाहते हो? इसके अतिरिक्त भगवान् की वाणी सुनकर वह हृदय मे धारण न की गई तो भगवान् की वाणी की आसातना ही होगी। अतएव भगवान् की वाणी हृदय मे धारण करो और विचार करो कि मनुष्य अपना सुख आप ही नही देख सकता, इस कारण उसे आदर्श–दर्पण की सहायता लेनी पडती है। भगवान् की वाणी दर्पण के समान है। मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर उसे धो सकता है उसी प्रकार भगवान् की वाणी के दर्पण मे अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हे धो डालो। भगवान् की वाणी का यही चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है। अगर तुम अवगुण दूर करके गुणग्रहण की विवेकबुद्धि रखोगे तो भगवान् की वाणी का चमत्कार तुम्हे अवश्य दिखाई देगा। इसलिए भगवान् की वाणी पर दृढ विश्वास रखकर

उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

शास्त्र मे कही–कही इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है कि जैसे भगवान् से पश्न किये गये हो और भगवान् ने उनका उत्तर दिया हो और कही–कही ऐसा है कि भगवान् स्वय ही फरमा रहे हो। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि भगवान् ने जो बात अपने ज्ञान मे देखी है वही बात कही है और यह बात उन्होने कभी–कभी बिना पूछे भी कही है। मगर जो बात उन्होने अपने ज्ञान मे नही देखी वह पूछने पर भी नही कही।

उत्तराध्ययन के विषय मे कहा जाता है कि यह भगवान् की अन्तिम वाणी है। अत इस वाणी का महत्त्व समझ कर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचिपूर्वक हृदय मे उसे उतारा जाये तो अवश्य आत्मा का कल्याण होगा। भगवान् की इस वाणी को हृदय मे उतारने के लिए श्रद्धा, प्रतीति और रुचि समान होनी चाहिए और व्यवहार भी वैसा ही होना चाहिए अर्थात् जैसा विचार हो वैसा ही उच्चार भी हो और जैसा उच्चार हो वैसा ही आचार हो। विचार, उच्चार और आचार मे तनिक भी विषमता नही होनी चाहिए। विषमता होना एक पकार की कुटिलता है और कुटिलता से भगवान् की वाणी द्वारा लाभ नही उठाया जा सकता। भगवान् की यह वाणी जिस रूप मे समझी जाये उसी रूप मे कही जाये और व्यवहार मे लाई जाये तो उसके द्वारा अनेक जीव सिद्ध बुद्ध और मुक्त होते है और होगे। शास्त्र मे अनेक उदाहरण मौजूद है कि भगवान् की वाणी से अनेक पुरुष कषाय एव दु खरूपी अग्नि को सदा के लिए उपशात कर सके है। भगवान् की वाणी द्वारा एक बार जिन दु खो का अन्त किया जाता है वे दु ख फिर कभी नही सताते। भव्य जीव भगवान् की इस वाणी द्वारा दु ख–कषाय की अग्नि को तथा भवाकुर को समूल नष्ट कर डालते हैं।

सामान्य रूप से कहा गया है कि इस अध्ययन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि धारण करने से कल्याण होता है, किन्तु अब यह विचार करना है कि इस अध्ययन मे क्या कथन किया है ? इसके पश्चात् अध्ययन मे कही प्रत्येक बात के विषय मे पृथक्–पृथक् विचार किया जायेगा।

सुधर्मास्वामी सम्यक्त्वपराक्रम का अधिकार बतलाते हुए जम्बूस्वामी से इस प्रकार कहते है।

तस्स ण अयमट्ठे एवमाहिज्जइ तजहा –

(1) सवेगे (2) निव्वेए (3) धम्मसद्धा (4) गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया (5) आलोयणया (6) निदणया (7) गरहणया (8) समाइए (9) चउवीसत्थए (10) वदणे (11) पडिक्कमणे (12) काउसग्गे (13) पच्चक्खाणे (14) थवथुइमगले (15) कालपडिलेहणया (16) पायच्छित्तकरणे (17) खमावयणे (18) सज्झाए (19) वायणया (20) पडिपुच्छणया (21) पडियट्टणया (22) अणुप्पेहा (23) धम्मकहा (24) सुभस्स आराहणया (25) एगग्गमणसनिवेसणया (26) सजमे (27) तवे (28) वोदाणे (29) सुहसाए (30) अप्पडिबद्धया (31) विवित्तसयणासणसेवणया (32) विणियट्टणया (33) सभोगपच्चक्खाणे (34) उवहिपच्चक्खाणे (35) आहारपच्चक्खाणे (36) कसायपच्चक्खाणे (37) जोगपच्चक्खाणे (38) शरीरपच्चक्खाणे (39) सहायपच्चक्खाणे (40) भत्तपच्चक्खाणे (41) सब्भावपच्चक्खाणे (42) पडिरूवणया (43) वेयावच्चे (44) सव्वगुणसपुण्णया (45) वीयरागया (46) खन्ती (47) मुत्ती (48) मद्दवे (49) अज्जवे (50) भावसच्चे (51) करणसच्चे (52) जोगसच्चे (53) मणगुत्तया (54) वयगुत्तया (55) कायगुत्तया (56) मणसमाधारणया (57) वयसमाधारणया (58) कायसमाधारणया (59) नाणसपन्नया (60) दसणसपन्नया (61) चरितसपन्नया (62) सोइदियनिग्गहे (63) चक्खिदियनिग्गहे (64) घाणिदियनिग्गहे (65) जिब्भिदियनिग्गहे (66) फासिदियनिग्गहे (67) कोहविजए (68) माणविजए (69) मायाविजए (70) लोहविजए (71) पेज्जदोसमिच्छादसणविजए (72) सेलेसी (73) अकम्मया।

इस सूत्रपाठ मे भगवान् ने स्वय सम्यक्त्वपराक्रम के सवेग से लेकर अकर्म तक 73 बोल कहे हैं। इन 73 बोलो मे सभी तत्त्वो का निष्कर्ष निकाला गया है।

उपर्युक्त सूत्रपाठ मे 73 बोलो के नाम दिये गये है और आगे चलकर इनके विषय मे प्रश्नोत्तर के रूप मे स्फुट विचार किया गया हे। यद्यपि इस सूत्रपाठ मे पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु जैसे कोई माता अपने बालक को ठीक–ठीक समझाने के लिए पुनरुक्ति का विचार नही करती, उसी प्रकार शास्त्र मे भी बाल–जीवो को तत्वविचार समझाने के लिये पुनरुक्ति का विचार नही किया गया है और प्रत्येक बोल की प्रश्नोत्तर रूप मे चर्चा की गई हे।

पहला बोल

संवेग

प्रश्न–सवेगेण भते! जीवे किं जणयई?

उत्तर–सवेगेण अणुत्तर धम्मसद्ध जणयइ, धम्मसद्धाए सवेग हव्वमागच्छइ, अणन्ताणुबधि कोहमाणमायालोथे खवेइ, नव्व च कम्म न बधई, तप्च्चय चण मिच्छत्तविसोहि काऊण दसणराएह भगवइ दसणविसुद्धाएण अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ सीहिएण विसुद्धाए तच्च पुणो भवग्गहणण, नाइक्कमइ।।1।।

यह पहला बोल है। यहा प्रश्न किया गया है कि हे भदन्त! आपने सवेग को आत्मकल्याण का साधन बतलाया है, मगर सवेग क्या है और सवेग से जीव को क्या लाभ होता है।

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा–सवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही सवेग उत्पन्न होता है, जीव अनतानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है, नवीन कर्म नही बाधता और तत्कारणक मिथ्यात्व की विशुद्धि करके सम्यग्दर्शन का आराधक बन जाता है। दर्शनविशुद्धि से कोई–कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता है। कोई उस विशुद्धता से तीसरे भव को उल्लघन नही करता–दर्शनविशुद्धि की वृद्धि होने पर तीसरे भव मे सिद्धि मिलती है।

ऊपर के सूत्रपाठ पर विचार करते हुए देखना चाहिए कि सवेग का अर्थ क्या है? सवेग शब्द के सम+वेग इस प्रकार दो भाग होते हैं। व्युत्पत्ति [illegible] से सम्यक् प्रकार का वेग सवेग कहलाता है। हाथी घोडा मनुष्य, [illegible] सभी मे वेग होता है मगर वेग–वेग मे अन्तर है। कोई वेग गड्ढे

मे ले जाकर गिराने वाला होता है और कोई अभीष्ट स्थान पर पहुचाने वाला। जो वेग आत्मा को कल्याण के मार्ग पर ले जाता है वही वेग यहा अपेक्षित है। भगवान् तो कल्याण की बात ही कहते हैं। भगवान् सबको सबोधन करके कहते है—हे जगत् के जीवो! तुम लोग दु ख चाहते हो या सुख की अभिलाषा करते हो? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कौन कहेगा कि हम दु ख मे पडना चाहते है? सभी जीव सुख के अभिलाषी हैं। तब भगवान् कहते है—अगर तुम सुख चाहते हो तो आगे बढो, पीछे मत हटो। सुख चाहते हो तो पीछे क्यो हटते हो? सवेग बढाये जाओ और आगे बढते चलो।

इस समय तुम्हारी बुद्धि का, मन का तथा इन्द्रियो का वेग किस ओर बह रहा है? अगर वह वेग तुम्हे दु ख की ओर घसीटे लिए जाता हो तो इसे रोक दो और आत्मा के सुख की ओर मोड दो। अधोमुखी वेग को रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाओ। यदि वेग सम्यक् प्रकार बढाया जाये तो ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। सवेग की सहायता बिना आगे कुछ भी नही किया जा सकता। इसलिए सर्वप्रथम तो यह निश्चय कर लो कि तुम्हे सुखी बनना है या दु खी? अगर सुखी बनना है तो क्या दु ख के मार्ग पर चलना उचित है? मान लीजिए एक आदमी दूसरे गाव जाने के लिए रवाना हुआ। रास्ते मे उसे दूसरा आदमी मिला। उसने पूछा—भाई, तुम कहा जाते हो? देखो, इस मार्ग मे बाघ का भय है, इसलिये इधर से मत जाओ। ऐसा कहने वाला मनुष्य अगर विश्वसनीय होगा और जाने वाला अगर दु ख मे नही पडना चाहता होगा तो वह निषिद्ध मार्ग मे आगे बढेगा ? नही ! ऐसा होने पर भी अगर कोई उस मार्ग पर चलता है तो उसके विषय मे यही कहा जायेगा कि वह दु ख का अभिलाषी है—सुख का अभिलाषी नही है।

उदयपुर मे एक मुसलमान भाई कोठारी जी (श्री बलवन्तसिह जी) के साथ व्याख्यान सुनने आया था। पहले तो ऐसा मालूम होता था कि वह धर्म—विषयक बात करने मे डरता है, मगर कोठारी जी के साथ व्याख्यान मे आ पहुचा और सयोगवश उस दिन उसके हृदय की शका का समाधान हो गया। यद्यपि मैने उसे लक्ष्य करके व्याख्यान मे कोई बात नही कही थी फिर भी सहज भाव से व्याख्यान मे ऐसी बात का प्रसग आ गया कि उसकी शका का समाधान हो गया। उस समय मृगापुत्र का प्रकरण चलता था। मृगापुत्र के प्रकरण के आधार पर कहा जा सकता हे कि— माताजी,! कितनेक लोग परलोक के विषय मे कहते हैं कि स्वर्ग, नरक आदि किसने देखे हैं? कोन वहा जाकर आया है! परन्तु—

अद्धाण जो महत तु, अप्पाहिज्जो पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाए पीडिओ।।
एव धम्म अकाऊण, जो गच्छाई पर भव।
गच्छन्तो सो दुही होइ, बाहीरागेहिं पीडिओ।।
अद्धाण जो महत तु, सप्पाहिजो हवज्जइ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातन्हाविवज्जिओ।।
एव धम्म पि काऊण, जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो सुही होई, अप्पकम्मे अवेयणे।।

—उ सूत्र 19 अ 18—21 गा

माता! मान लो कि एक बडा और भयकर जगल है। उसमे व्याघ्र और साप वगैरह का बहुत भय है और वहा चोर तथा लुटेरे भी है। उस जगल का मार्ग भी कटीला है। रास्ते मे खाने—पीने की भी व्यवस्था नही है। उस जगल के मार्ग पर एक आदमी खडा है और जाने वाले से कहता है कि इस जगल मे कहा जाते हो? यह बडा ही विकट और भयानक है। इसमे अनेक प्रकार की दिक्कते है। फिर भी अगर इस मार्ग से जाना ही है तो मेरे कथनानुसार चलना। मैं इस जगल मे गया हू और जानता हू कि इस जगली रास्ते मे कितनी कठिनाइया और दिक्कत है। मै तुम्हे ऐसा साहित्य देता हू कि जिससे कदाचित् तुम उलटे रास्ते चले गये तो भी यह जान सकोगे कि खाना—पीना कहा मिलेगा? मेरा दिया साहित्य अपने पास रखोगे तो तुम्हे रास्ते मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होगी और सकुशल जगल के उस पार पहुच जाओगे। जब एक मनुष्य ने ऐसा कहा तो उसी समय वहा खडा हुआ दूसरा मनुष्य कहने लगा—जगल का यह रास्ता कठिन, कटीला और कष्टकर है यह किसने देखा है। यह झूठमूठ ही डरा रहा है। मैं कहता हू कि इस मार्ग मे कोई कठिनाई नही है। तुम आनन्दपूर्वक जाओ और इसके दिये साहित्य को भी मत ले जाओ।

माता! अब वह पथिक किसकी बात मानेगा?

मृगापुत्र की माता क्षत्रियाणी और विचक्षण थी। उसने मृगापुत्र के प्रश्न के उत्तर मे कहा—हे पुत्र! पहला मनुष्य भी जगल मे जाने का एकान्त निषेध नही करता। वह केवल यही कहता है कि अगर तुम जगल के रास्ते जाना चाहते हो तो हमारा साहित्य लेते जाओ जिससे रास्ते मे कठिनाई न [illegible] जो साहित्य देता है उसके बदले मे कुछ मागता भी नही है। दूसरा मनुष्य कहता है कि जगल का रास्ता खराब नही है अतएव जाओ और साथ

मे साहित्य मत ले जाओ। कदाचित् दूसरे आदमी का ही कहना सही हो तो भी पहले आदमी का दिया साहित्य साथ ले जाने मे हर्ज ही क्या है।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सभी लोग समझ सकते हैं। मगर यह भी समझो कि परलोक का मार्ग कैसा कठिन है और वहा कौन सहायक है? परलोक के मार्ग मे भी उदाहरण मे कहे हुए दो मनुष्य खडे हैं। उनमे एक भगवान महावीर हैं या उनके समान अन्य कोई है और दूसरा कोई अन्य मत वाला मनुष्य है। यह अन्य मत वाला कहता है– खाओ, पीओ, मजे उडाओ। धर्म–कर्म और स्वर्ग–नरक किसने देखा है? विघ्नसतोषी मनुष्य के इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर या उनके समान मान्यता वाला कहता है– परलोक के मार्ग मे बहुत कठिनाइया हैं, बडे कष्ट हैं। उस मार्ग मे रोग–दु ख वगैरह बहुत–से काटे बिखरे है, इसलिए हे पथिक! तू मेरा यह साहित्य लेता जा, इससे तुझे परलोक के मार्ग मे कठिनाई नही पडेगी।

अब तुम अपनी विवेक–बुद्धि से विचार करो कि दोनो मे से किसकी बात माननी चाहिए? भगवान् महावीर जो कहते हैं वह क्या स्वार्थबुद्धि से कहते हैं? अगर नही, तो उनके कथनानुसार आचरण करने मे तुम्हारी क्या हानि है? वे कहते हैं–तुझे परलोक जाना है, इसलिए मेरे बतलाए सद्गुण अगर धारण कर लेगा तो तेरा परलोक का मार्ग सुगम हो जायेगा। तुझे सद्गुण धारण करने मे क्या विरोध है? सत्य, प्रामाणिकता, दया, नीति आदि सद्गुण धारण करने से तेरा क्या बिगड जायेगा? इस सद्गुणो के कारण इस लोक मे सुख प्राप्त होता है ओर जिन सद्गुणो से इस लोक मे सुख होता है, वे परलोक मे सुखदायक क्यो नही होगे? सद्गुणो के पाथेय (भाता) विना परलोक का पथ बडा ही कठिन मालूम होगा। अतएव परलोक के पथ पर प्रयाण करने से पहले भगवान् महावीर सद्गुणो के जिस पाथेय को साथ लेने की सलाह देते हैं, उसे शिरोधार्य करके पहले से ही धर्म का भाता तेयार कर लेना चाहिए। भगवान् ने तो राजपाट का त्याग करके त्यागमय जीवन स्वीकार किया था, अतएव लोगो से कुछ लेने के लिए या किसी अन्य स्वार्थभावना से तो उन्होने ऐसा उपदेश दिया नही है, फिर उनकी बात मान लेने मे क्या बाधा है?

उस मुसलमान भाई की परलोक सम्बन्धी भ्रमणा इस शास्त्रीय–सिद्धान्त से दूर हो गई। भगवान् महावीर क्या कहते हैं, तुम भी इस बात पर बरावर विचार करो और अगर उनकी बात सत्य प्रतीत हो तो उसे जीवन मे उतारो।

भगवान् कहते है परलोक मे कष्ट न हो, इसके लिए सवेग बढाओ। सवेग किस प्रकार बढाया जा सकता है और उसे बढाने के लिए क्या करना चाहिए, इस विषय मे एक महात्मा ने कहा है –

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रधाने, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते ।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्महीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुराग ।।

अर्थात्–अहिसाप्रधान सत्य धर्म पर, राग, द्वेष, मोह आदि विकारो से रहित देव पर और सब प्रकार के परिग्रह से रहित साधु पर निश्चल अनुराग रखना सवेग है।

इस कथन से स्पष्ट है कि सवेग बढाने के लिए सब से पहले धर्म के प्रति अनुराग बढाना आवश्यक है। लेकिन आजकल तो धर्म के नाम पर बहुत ठगी चल रही है और यह भी कहा जाता है कि कुछ ठगी के उपाय भी धर्म मे छिपे हुए है। इस प्रकार धर्म के विषय मे बहुत से लोग भ्रम मे पडे हुए है। धर्म के नाम पर कुछ लोग ठगे भी गये है। इसी कारण कुछ लोग धर्म से दूर रहना चाहते है जिससे कि ठगाई से बच सके। धर्म के नाम पर ठगाई करने वाला व्यक्ति जिस धर्म का अनुयायी होता है अथवा जिस धर्म के नाम पर ठगाई करता है, उस धर्म को लोग वैसा ही समझने लगते है। अगर कोई मुहपत्ती बाध कर पाप करते हैं। तो यही समझा जाता है कि मुहपत्ती बाधने वाले ऐसा ही करते है। इस तरह ठगो की करतूत से धर्म भी बदनाम होता है। कवि तुलसीदासजी ने धर्म के नाम पर ठगने वालो का अच्छा चित्र खीचा है –

जे जन्मे कलिकाल कराला, करतब वायस वेष मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के। किंकर कचन कोह काम के।।

जो मनुष्य हस का वेष धारण करके कौवे के समान कुत्सित काम करता है उसके समान नीच दूसरा कौन हो सकता है? इसी प्रकार राम या अर्हन्त का वेश धारण करके पापाचरण करने वाले के समान और कोई नीच नहीं हो सकता। कवि तुलसीदासजी कहते है कि इस कलियुग मे जन्मे हुए ऐसे लोग हस का वेष धारण करके काक के समान नीच काम करते हैं। वे परमात्मा के सेवक और भक्त कहला कर भी वास्तव मे कचन क्रोध और काम के सेवक है।

ऐसे धर्मढोंगी लोगो के आचरण की बदौलत ही धर्म बदनाम हुआ है और लोगो को धर्म के प्रति घृणा हुई है। किन्तु ज्ञानी जन ऐसे धर्मढोगी लोगो

का व्यवहार देखकर घबराते नहीं हैं। वे धर्म के लक्षणो से ही धर्म की परीक्षा करते हैं।

सीता भी धर्म के नाम पर ठगी गई थी। रावण सीता को अन्य उपायो से ठगने मे समर्थ न हुआ तो उसने धर्म का आश्रय लिया। वह स्वय साधु का वेष धारण करके सीता को ठग कर ले गया। रावण ने इस प्रकार धर्म के नाम पर ठगाई की, मगर धर्म अपने नाम पर ठगने वालो को नष्ट कर देता हे। इस नियम के अनुसार रावण का भी नाश हो गया। रावण का नाश धर्म के नाम पर ठगाई करने से ही हुआ था। मगर धर्म के नाम पर ठगी जाने पर भी सीता ने धर्म का त्याग न किया था। धर्म के नाम पर कोई अपनी स्वार्थभावना भले ही पुष्ट करना चाहे परन्तु आखिर धर्म की जय और पाप का क्षय हुए बिना नही रहता। अन्त मे सीता के धर्म की जय हुई और रावण का पाप के कारण क्षय हुआ।

कहने का आशय यह है कि सवेग को बढाने के लिए धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए। अनुत्तर धर्म के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है। मगर अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किस प्रकार के धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानी जन बतलाते है कि जिस धर्म मे हिसा का सर्वथा निषेध किया गया है, ऐसे अहिसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए। अहिसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है। सवेग की वृद्धि के लिए स्वार्थ का त्याग करना पडता हे। स्वार्थ का त्याग करके अहिसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग धारण किया जाये तो सवेग जीवन मे मूर्त रूप धारण कर लेता हे।

धर्म–अनुराग के साथ ही साथ राग, द्वेष ओर मोह आदि से रहित वीतराग देव के प्रति भी अनुराग रखना चाहिए। तुम्हारे देव भी वीतराग हें ओर तुम्हारा धर्म भी वीतरागता का ही आदर्श उपस्थित करता हे। अतएव जहा वीतरागता का दर्शन करो वहा अनुराग धारण करो।

वीतराग देव ओर वीतराग धर्म का भान कराने वाले निर्ग्रन्थ गुरु ही हें। देव ओर धर्म की परख करने की कसोटी अगर ठीक हुई तो देव ओर ध ार्म की सत्यता–असत्यता का ठीक निर्णय हो सकता है। अगर कसोटी ही ठीक नहीं हुई हो तो इस दिशा मे देव ओर धर्म का निर्णय भी नही हो सकता। देव ओर धर्म की परख करने की कसोटी गुरु ही हें। गुरु अगर निर्ग्रन्थ हुए

अर्थात् उन्हे किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व न हुआ तो वही गुरु सच्चे देव और सच्चे धर्म का परिचय करा सकते है। अतएव निर्ग्रन्थ गुरु को ही गुरु मानना चाहिए।

इस पकार वीतराग देव, वीतराग धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है। जो भव्य मोक्ष प्राप्त करने की भावना रखेगा और जो ससार की आग से बचना चाहेगा वही ऐसे देव, गुरु और धर्म का शरण रहेगा और अपनी आत्मा का कल्याण साधेगा। तुम भी ऐसे देव, गुरु और धर्म के शरण मे जाओगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा।

सवेग निर्भय बनने का पहला मार्ग है। अगर अपना वेग ठीक (सम्यक) रखा जाये तो भय होने का कोई कारण नही है। सवेग मे भय को कोई स्थान नही है। सवेग मे निर्भयता है और जो सवेग धारण करता है वह निर्भय बन जाता है।

सवेग किसे कहते है, यह पहले बतलाया जा चुका है। उसका सार इतना ही है कि मोक्ष की अभिलाषा और मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही सवेग है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला कर्म बधन को ढीला करने की इच्छा रखता है। कारागार को बन्धन मानता है, वही उससे छुटकारा पाने की भी इच्छा करता है। कारागार को बन्धन ही न मानने वाला उससे छूटने की भी क्यो इच्छा करेगा? बल्कि वह तो उस बन्धन को और मजबूत करना चाहेगा। ऐसा मनुष्य कारागार के बन्धन से मुक्त भी नही हो सकता। इसी प्रकार इस ससार को जो बन्धन रूप मानता है 'हस्त अशीरे कम दे हवा' अर्थात् मै इस लालचरूप दुनिया की जेल मे हू ऐसा मानता है, उसी को मोक्ष की इच्छा हो सकती है। ससार को बधन ही न समझने वाला मोक्ष की इच्छा ही क्यो करेगा?

मोक्ष की अभिलाषा मे इस अध्ययन मे कथित सभी तत्त्वो का समावेश हो जाता है। यद्यपि सब तत्त्वो पर अलग–अलग चर्चा की गई है किन्तु सबका सार 'मोक्ष की अभिलाषा होना' इतना ही है। मोक्ष की अभिलाषा उसी के अन्तकरण मे जागेगी जिसे ससार कडुवा लगेगा और जो ससार को बधन समझेगा।

सवेग से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने उत्तर–सवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मश्रद्धा मोक्षप्राप्ति का एक साधन है और यह साधन तभी प्राप्त होता है जब मोक्ष की आकाक्षा उत्पन्न होती है जिसके हृदय मे सवेग के साथ

धर्मश्रद्धा होती है वह कदापि धर्म से विचलित नही हो सकता, चाहे कोई कितना ही कष्ट क्यो न पहुचाए। ऐसे दृढ धर्मियो के उदाहरण शास्त्र के पन्नो मे उपलब्ध होते है।

सवेग से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने यह भी कहा है कि सवेग से धर्मश्रद्धा और धर्म श्रद्धा से सवेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार सवेग और धर्मश्रद्धा दोनो एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। दोनो मे अविनाभाव सम्बन्ध है।

जिस पुरुष को दु खो से मुक्त होने की इच्छा होगी वह धर्मश्रद्धा द्वारा सवेग बढाएगा और सवेग द्वारा धर्मश्रद्धा प्राप्त करेगा। ऐसा किये बिना वह रह नही सकता। जिसे कडाके की भूख लगी होगी वह भूख की पीडा मिटाने का प्रत्येक सभव उपाय करेगा। उसे ऐसा करना किसने सिखलाया? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहना होगा कि भूख के दु ख ने ही यह सिखलाया है, क्योकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कपडे किसलिए पहने जाते है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जायेगा कि सर्दी–गर्मी से बचने के लिए और लज्जा–निवारण के लिए ही वस्त्र पहने जाते हैं। घर भी सर्दी–गर्मी से बचने के लिए बनाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमे फैशन को स्थान दिया जाता है, मगर उसके बनाने का मूल उद्देश्य तो यही है। इसी प्रकार जिसे ससार दु खमय प्रतीत होगा वह सवेग को धारण करेगा ही और इस तरह अपनी धर्मश्रद्धा की मूर्तरूप दिये बिना नही रहेगा। जहा सवेग है वहा मोक्ष की अभिलाषा और धर्मश्रद्धा है और जहा धर्मश्रद्धा है वहा सवेग है। धर्मश्रद्धा जन्म, जरा, मरण आदि दु खो से मुक्त होने का कारण है और सवेग भी इन दु खो से मुक्त कर मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए ही होता है। इस प्रकार धर्मश्रद्धा और सवेग एक दूसरे के आधारभूत हैं–दोनो मे अविनाभाव सम्बन्ध है।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है। एक धर्म श्रद्धा ससार के लिए होती है और दूसरी सवेग के लिए। कुछ ऐसे लोग हें जो अपने आपको धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषो पर पर्दा डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोग करते हें किन्तु भगवान् के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया सवेग के लिए नही है। इस प्रकार की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाये तो भी उससे कुछ लाभ नही होता।

शास्त्र मे बतलाया गया हे कि कितनेक अभव्य जीव भी साधु बन जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि अभव्य होने के कारण जिसे धर्म के

प्रति श्रद्धा ही नही होगी, वह साधु कैसे बन जायेगा? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि वास्तव मे अभव्य की धर्मश्रद्धा तो होती नही किन्तु साधुओ की महिमा पूजा देखकर अपनी महिमा पूजा के लिए वह साधु का वेष धारण कर लेते हैं। उसके बाद साधु की क्रिया भी इसी उद्देश्य से करते है कि अगर हम साधु की किया नही करेगे तो हमारी पूजा–प्रतिष्ठा नही होगी। मगर इस पकार का साधुत्व क्या मोक्ष के हिसाब मे गिना जा सकता है? जब ऐसा साधुपन भी मोक्ष के हिसाब मे नही गिना जा सकता तो ऐसे ही आशय से की गई तुम्हारी धर्मक्रिया मोक्ष के लेखे मे आ सकती है? कदापि नही। इसलिए अगर किसी कुत्सित उद्देश्य से तुम धर्मकार्य करते हो तो उसे बदल डालो।

छद्मस्थता के कारण धर्मक्रिया द्वारा मानप्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जाना सभव है, मगर इस इच्छा पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है। इस इच्छा का जीतना अगर सभव न होता तो जीतने का उपदेश ही क्यो दिया जाता? ससार मे अगर शत्रु है तो उन्हे जीतने के उपाय भी है, किन्तु जो मनुष्य पहले से ही कायर बन जाता है वह उपाय होते हुए भी शत्रुओ को जीतने मे असमर्थ रहता है। भगवान् कहते हैं–ससार मे काम–लालसा तो भरी हुई है ही, मगर उसे जीत लिया जाये तो आत्मा का कल्याण हो सकता है। अगर कामलालसा जीतने मे पहले ही निर्बलता दिखलाई जायेगी तो वह कैसे जीती जायेगी।

कुत्ता घर मे घुसकर खाने योग्य वस्तु खा जाता है। कुत्ते का यह स्वभाव है। पर क्या तुम स्वेच्छा से कुत्ते को घर मे घुसने देते हो? कदाचित् असावधानी से घुस भी जाये तो क्या उसे बाहर नही निकालते? काम, क्रोध आदि कषाय भी कुत्ते के समान है। इन कषाय रूपी कुत्तो को पहले तो आत्मा रूपी घर मे घुसने ही नही देना चाहिए और कदाचित् घुस पडे तो उसी समय बाहर निकाल देना चाहिए। हम तो छद्मस्थ है ऐसा सोचकर जो काम–क्रोध को बाहर नही निकालेगा वह छद्मस्थ ही बना रहेगा। अतएव काम आदि अन्तरग शत्रुओ को सर्वप्रथम बाहर निकालना चाहिए।

तुम नमस्कारमत्र का स्मरण तो प्रतिदिन करते होगे? उस मत्र का पहला पद 'णमो अरिहताण' है। अर्थात् जिन्होने अन्तरग शत्रुओ को जीत लिया है उन्हे नमस्कार हो। उन्होने काम–क्रोध आदि अन्तरग शत्रुओ को जीत लिया है वह जितशत्रु वीतराग भगवान् ही मेरे देव है। अगर यह बात [illegible] हो और फिर भी आतरिक शत्रुओ को जीतने का प्रयत्न नही करते तो [illegible] तुम्हारी कायरता ही गिनी जायेगी। अतएव आतरिक शत्रुओ पर विजय

प्राप्त करके धर्म पर श्रद्धा धारण करो और फिर मोक्ष की इच्छा से सवेग की वृद्धि किये जाओ। दुनिया मे जगह–जगह दिखाई देता है कि लोग काम लालसा से प्रेरित होकर देवी–देवता के नाम पर अनेक निरपराधी जीवो का बलिदान करते हैं और समझते है कि ऐसा करने से हम सुखी हो जाएगे। परम्परागत सस्कारो के कारण तुम इस हिसा से बचे हुए हो, किन्तु साथ ही यह देखने की आवश्यकता है कि तुम्हारे अन्त करण मे काम लालसा तो नही रही हुई है? अगर कामलालसा मौजूद हो तो आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके कामलालसा को भी दूर करो और अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा पैदा करो। धर्म श्रवण करने के लिए तो मेरे पास आये ही हो, अब धर्मश्रद्धा ही जागृत करना शेष रहता है।

जब आतरिक शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण करे तो ऐसा विचार करो–हे आत्मा! आतरिक रिपुओ की चढाई के समय अगर तू छिपकर बैठा रहेगा तो तू उन पर विजय प्राप्त कर सकेगा? युद्ध के समय छिप कर बैठे रहना वीरात्मा को शोभा नही देता। उदाहरणार्थ तुम पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हो। पाक्षिक प्रतिक्रमण पन्द्रह दिन मे किया जाता है। ऐसे समय आतरिक शत्रु चढाई कर दे तो ऐसा विचार करना चाहिए कि आत्मन्! पन्द्रह दिन मे यह अवसर मिला है। इस अवसर पर भी अन्तरग शत्रुओ को जीतने के बदले ससार का ही विचार करूगा तो कोल्हू के बैल की तरह फिर–फिर कर उसी स्थान पर आ खडा होऊगा। अतएव यही उचित है कि ऐसे अवसर पर कामनाओ मे न उलझ कर धर्मक्रिया द्वारा अतरग शत्रुओ, कामलालसा आदि को जीतने का ही प्रयत्न किया जाये।

कदाचित् यह कहा जाये कि गृहस्थो को तो ससार की चीजो की आवश्यकता रहती ही है। इस आवश्यकता की पूर्ति अगर धर्म द्वारा की जाये तो क्या हानि है? इस प्रकार का उत्तर यह है कि कामना करने से ही धर्म का फल मिलेगा, अन्यथा नही मिलेगा, ऐसा समझना भूल है। बल्कि कामना करने मे धर्म का फल तुच्छ हो जाता है और कामना नही करने से अनन्त गुना फल होता है, तो फिर कामना करके फल की कीमत घटाने से क्या लाभ हे?

मान लीजिये आपने एक रत्नजटित कीमती अगूठी पहनी हे। यह अगूठी पहन कर आप शाक लेने के लिए शाक–बाजार मे गये शाक बेचने वाले ने तुमसे कहा– भाई, यह अगूठी मुझे दे दो, इसके बदले सेर दो सेर शाक अधिक दे दूगा तो क्या आप दो सेर शाक के बदले अपनी यह अगूठी उसे दे देगे? यह ठीक है कि आपको शाक की आवश्यकता है, फिर भी कीमती

ऊपर कहे दस बोलो मे पहला बोल उत्तम क्षेत्र है।

भगवान् ने जीवन आवश्यक वस्तुओ मे क्षेत्र को प्रथम स्थान दिया है। क्षेत्र (खेत) मे अन्न उत्पन्न न हो तो जीवन टिक ही नही सकता। जीवन अन्न के आधार पर ही टिका हुआ है। यह एक बात एक परिचित उदाहरण द्वारा समझाता हू।

मान लीजिए, किसी राजा ने आपको एक सुन्दर महल दिया। महल फर्नीचर आदि से खूब सजा हुआ है। राजा ने ऐसा सुन्दर महल देने के साथ एक शर्त की कि इस महल मे, खेत मे पैदा होने वाली कोई भी चीज नही आ सकेगी। अब आप विचार कीजिये कि उस सुन्दर महल मे आपका जीवन कितने दिनो तक टिक सकेगा? दूसरे, आपको एक झोपडी दी जाये और वहा खेत मे पैदा होने वाले अन्न आदि का उपयोग करने की छूट दी जाये तो क्या उससे आपका जीवन–व्यवहार बखूबी नही चलता? अवश्य चल सकता है।

इस प्रकार जीवन मे खेती का अपूर्व स्थान है, किन्तु आपको खेत नही चाहिए, खेत मे पैदा हुई वस्तुए चाहिए! यह कितनी भूल है। सच्ची सम्पत्ति तो खेत ही है। और सम्पत्ति को चोर चुरा सकते हैं मगर खेत को कोई चुरा नही सकता। ऐसा होने पर भी आज तुम्हारे पास कितने खेत हैं? कदाचित् तुम खेत न रखते हो तो ऐसा अभिमान तो न रखो कि हम खेती नही करने वाले बडे है और खेती करने वाले किसान नीचे–हल्के हे। तुम अपने सजातीय और साधर्मी किसानो के साथ सबध जोडने की हिम्मत रखो, कायरता मत लाओ। ससार मे हिम्मत की कीमत हे।

सघ का धर्म क्या है और सघ को किस प्रकार अपने सब सदस्यो को अपनाना चाहिये, यह बतलाने के लिए प्राचीन काल का एक उदाहरण तुम्हारे सामने रखता हू। आज के सघ का नाम सघ तो हे, मगर उसमे सगति नही है। सगति होने पर सघ सम्पूर्ण राष्ट्र मे हलचल पेदा कर सकता हे। मगर आज के सघ मे ऐसी फूट पड गई है कि उसकी समस्त शक्तिया नष्ट हो रही हे। भारत की फूट ओर असत्य, यह दो वस्तुए विदेशियो के लिए 'मेवा' के समान हे। अगर यह दोनो वस्तुए भारत से हट जाए तो भारत विदेशिया के लिए 'मेवा' नही, वरन् 'सेवा' करने योग्य बन सकता हे। सत्य ओर ऐक्य के द्वारा भारत का उत्थान हुए विना नही रह सकता।

सघ मे किसी प्रकार की सगति होनी चाहिए इस विषय मे एक उदाहरण लीजिये–

किया—इस समय पाण्डव असहाय हैं, मैं सेना ले जाकर उन्हे नष्ट कर डालू तो सदा के लिए झगडा ही मिट जाएगा। इस प्रकार विचार कर दुर्योधन गोकुल देखने के बहाने सेना लेकर चला। उसकी इच्छा तो पाण्डवो को नष्ट करने की थी मगर बहाना उसने किया गोकुल देखने का।

पहले के राजा लोग भी गोकुल रखते थे और श्रावक भी गोकुल रखते थे। आनन्द श्रावक के वर्णन मे यह वर्णन कहीं नहीं देखा गया कि उसके यहा हाथी, घोडा या मोटर थी, इसके विपरीत गाये होने का वर्णन अवश्य देखा जाता है। इस प्रकार पहले के लोग गायो की खूब रक्षा करते थे। मगर आज तो ऐसा जान पडता है मानो लोगो ने गोपालन को हल्का काम समझ रखा है। लोग गायो के कत्ल की शिकायत करते हैं, मगर गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दुओ ने गायो का आदर करना छोड दिया है। लोगो को मोटर का पेट्रोल खाना सह्य हो जाता है मगर गाय का घास खाना सह्य नही है।

दुर्योधन के हृदय मे पाण्डवो को नष्ट करने की भावना थी परन्तु वह गोकुल का निरीक्षण करने के बहाने सेना के साथ निकला। मार्ग मे दुर्योधन अपनी सेना के साथ गन्धर्व के बगीचे मे उतरा और इस कारण गन्धर्व तथा दुर्योधन के बीच लडाई हो गई। गधर्व बलवान् था। उसने सबको जीत लिया और दुर्योधन को जीवित पकडकर बाध दिया। दुर्योधन के एक दूत ने यह सब समाचार पाण्डवो और द्रौपदी के पास पहुचाए।

समाचार सुनकर भीम, अर्जुन और द्रौपदी ने कहा – बहुत अच्छा हुआ जो दुर्योधन पकड कर बाध लिया गया। इस दुष्ट ने जैसा किया वैसा फल पाया। दुर्योधन दुष्ट विचार करके ही आ रहा था और उसने पाण्डवो को कष्ट भी बहुत दिया था। फिर भी दुर्योधन के केद होने के समाचार सुनते ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि से कहने लगे— भाइयो! दुर्योधन के पकडे जाने से तुम प्रसन्न होते हो और इसे बहुत अच्छा समझते हो, मगर यह बात हम लोगो को शोभा नही देती। हे अर्जुन! अगर तुझे मुझ पर विश्वास है तो मैं जो कहता हू उसी के अनुसार तू कर। अर्जुन बोले 'मुझे आपके ऊपर पूर्ण विश्वास है। अतएव आपका आदेश मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेगे, वही करूगा।' तब युधिष्ठिर ने कहा—'जब कोरवो से अपना झगडा हो तो एक ओर सौ कौरव और दूसरी ओर हम पाच पाण्डव रहे, मगर किसी तीसरे के साथ झगडा हो तो हम एक सौ पाच साथ रहे। दुर्योधन केसा ही क्यो न हो, आखिर अपना भाई ही हे। हममे पुरुषार्थ होने पर भी कोई हमारे भाई को केद

कर रखे यह कितना अनुचित है? अतएव अगर तुमसे पुरुषार्थ हो तो जाओ और दुर्योधन को गधर्व के बधन से मुक्त कर आओ।

धर्मात्मा युधिष्ठिर ने विरासत मे भारतवर्ष को ऐसी हितबुद्धि की भेट दी है। मगर आजकल यह हितबुद्धि किस प्रकार भुला दी गई है और परिस्थिति कितनी विकट हो गई है, यह देखने की आवश्यकता है। कोई तीसरी शक्ति सबको दबा रही हो तो भले दबावे किन्तु हिन्दू–मुसलमान, जैन–वैष्णव अथवा जैन परस्पर मे शान्ति के साथ नही रह सकते। युधिष्ठिर कहते है–अपना भाई अपने ऊपर भले ही लाखो जुल्म करता हो, मगर यदि वह भाई किसी तीसरे द्वारा दबाया जाता हो या पीडित किया जाता हो तो उसे पीडा–मुक्त करना भाई का धर्म है।

अर्जुन पहले कहता था–दुर्योधन गधर्व द्वारा कैद कर लिया गया, यह बहुत अच्छा हुआ। परन्तु युधिष्ठिर की आज्ञा होते ही वह गधर्व के पास गया। उसने दुर्योधन को बधनमुक्त करने के लिए कहा। यह सुनकर गधर्व ने अर्जुन से कहा–'मित्र! तुम यह क्या कह रहे हो? तुम इतना ही विचार नही करते कि दुर्योधन बडा ही दुष्ट है और तुम सबको मारने के लिए जा रहा था। ऐसी स्थिति मे मैने उसे पकड कर कैद कर लिया है तो बुरा क्या किया है? इसलिए तुम अपने घर जाओ और इसे छुडाने के प्रयत्न मे मत पडो।' अर्जुन ने उत्तर दिया–'दुर्योधन चाहे जैसा हो आखिर तो हमारा भाई ही है, अतएव उसे बधनमुक्त करना ही पडेगा।'

अर्जुन तो भाई की रक्षा के लिए इस प्रकार कहता है, मगर आप लोग भाई–भाई कोर्ट मे मुकदमेबाजी तो नही करते? कदाचित् कोई कहे कि हमारा भाई बहुत खराब है तो उससे यही कहा जा सकता है कि वह कितना ही खराब क्यो न हो, मगर दुर्योधन के समान खराब तो नही है। जब युधिष्ठिर के समान व्यक्ति ने भाई के प्रति इतनी क्षमा और सहनशीलता का परिचय दिया तो तुम अपने भाई के प्रति कितनी क्षमा और सहनशीलता का परिचय नही दे सके? मगर तुम मे भाई के प्रति इतनी क्षमा और सहन शीलता नही है और इसी कारण तुम भाई के खिलाफ न्यायालय मे मुकदमा दायर करते हो। अर्जुन, भीम और द्रौपदी–तीनो दुर्योधन से बहुत खिलाफ थे, फिर भी उन्हे युधिष्ठिर के वचनो पर ऐसा दृढ विश्वास था तो तुम्हे भगवान् के वचनो पर कितना अधिक विश्वास होना चाहिए। भगवान् कहते है–सिर काटने वाला वैरी भी मित्र ही है। वास्तव मे तो कोई किसी का सिर काट ही नही सकता, किन्तु आत्मा ही अपना सिरच्छेद कर सकती है। अत आत्मा ही अपना असली वैरी है।

अर्जुन ने गधर्व से कहा–'भले ही तुम हमारे हित की बात कहते होओ, मगर अपने भाई की बात के सामने मैं तुम्हारी बात नही मान सकता। मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की बात शिरोधार्य करके दुर्योधन को तुम्हारे बधन से छुडाना है। अत तुम उसे बधन–मुक्त कर दो। अगर यो नही मुक्त करना चाहते तो युद्ध करो। अगर तुमने हमारे हित के लिये ही उसे कैद कर रखा हो तो मेरा यही कहना है कि उसे छोड दो। मुझे उसकी करतूते नही देखनी, मुझे अपने भाई की आज्ञा का पालन करना है। अतएव उसे छोड दो।

आखिर अर्जुन दुर्योधन को छुडा लाया। युधिष्ठिर अर्जुन पर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे–'तू मेरा सच्चा भाई है।' उन्होने द्रौपदी से कहा देखो, इस जगल मे कैसा मगल है । इस प्रकार युधिष्ठिर ने जगल मे और सकट के समय मे धर्म का पालन किया था। मगर इस पर से आप अपने विषय मे विचार करो कि आप उपाश्रय मे धर्म का पालन करने आते हैं या अपने अभिमान का पोषण करने आते हैं? धर्मस्थान मे प्रवेश करते ही 'निस्सही निस्सही' कहकर अभिमान, क्रोध आदि का निषेध करना चाहिए। अगर इसका निषेध किये बिना ही धर्मस्थान मे आते हो तो कहना चाहिए कि आप अभी धर्मतत्त्व से दूर है।

भीम ने युधिष्ठिर से कहा– 'गधर्व द्वारा दुर्योधन के कैद होने से तो हमे प्रसन्नता हुई थी। आप न होते तो हम इसी पाप मे पडे रहते।' भीम का यह कथन सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया 'यह ठीक है, मगर अर्जुन जेसा भाई न होता तो मेरी आज्ञा कौन मानता?'

तुम भी छद्मस्थ हो। तुम्हारे अन्त करण मे इस प्रकार का पाप आना सभव है। फिर भी आज्ञा शिरोधार्य करने का ध्यान तो तुम्हे भी रखना चाहिए। भगवान् की आज्ञा है कि सबको अपना मित्र समझो। अपने अपराध के लिए क्षमा मागो और दूसरो के अपराध क्षमा कर दो। उस आज्ञा का पालन करने मे ऐसी पॉलिसी का उपयोग नहीं करना चाहिए कि जिनके साथ लडाई–झगडा किया हो उनसे तो क्षमा मागो नही और दूसरो के केवल व्यवहार के लिए क्षमा–याचना करो। सच्ची क्षमा मागने का और क्षमा देने का यह सच्चा मार्ग नही हे। शत्रु हो या मित्र, सब पर क्षमाभाव रखना ही महावीर भगवान् का महामार्ग है। भगवान् के इस मार्ग पर चलोगे तो आपका कल्याण होगा। आज युधिष्ठिर तो रहे नहीं मगर उनकी कही बात रह गई हे, इस बात को तुम ध्यान रखो और जीवन–व्यवहार मे उतारो। धर्म की बात कहने मे ओर अमल मे

लाने मे बडा अन्तर है। धर्म का अमल करने से मालूम होगा कि धर्म मे कैसी और कितनी शक्ति रही हुई है। इसी प्रकार सघ का बल सगठित करके, व्यवहार किया जाये तो सघबल की शक्ति समग्र राष्ट्र मे हलचल पैदा कर देगी। सघबल धर्म का पाण है। जहा सघबल नही होता वहा धर्म भी जीवित नही रह सकता।

कहने का आशय यह है कि सघ से सगति हो तो सघ बहुत कुछ काम कर सकता है। अतएव अपने सजातीय और सधर्मी भाइयो को दूर नही रखना चाहिए और उन्हे भी पेमपूर्वक अपनाना चाहिए।

आत्मा का कल्याण करने के लिए भगवान् ने सवेग मे पराक्रम करने के लिए कहा है। मोक्ष की अभिलाषा करना 'सवेग' कहलाता है। अगर तुमने भव–बधनो का स्वरूप समझा होगा और तुम्हे उन बधनो से मुक्त होकर मोक्ष पाप्त करने की इच्छा हुई होगी तो तुम्हारे भीतर अवश्य ही सवेग जागृत होगा। जहा तक सवेग जागृत नही होता वहा तक मोक्ष जाने की बात केवल बात ही बात है। शास्त्र मे कहा है–

वाया वीरिय मित्तेण समासासेन्ति अप्पयं।

उ० 6–9

अर्थात् जब तक सवेग जागृत नही होता तब तक वाणी के विलास द्वारा ही आत्मा को आश्वासन देना पडता है। पर बडी–बडी बातो से दिये गये आश्वासन से आत्मा का सतोष किस प्रकार हो सकता है? अतएव शास्त्र की वाणी को जीवन मे ओतप्रोत करके सवेग जागृत करो अर्थात् हृदय से मोक्ष की अभिलाषा जीवित करो।

मोक्ष की अभिलाषा होना सवेग है, यह तो आप समझ गये। मगर सवेग का फल क्या है? यह भी जानना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि सवेग द्वारा अनुत्तर अर्थात् प्रधान धर्म श्रद्धा उत्पन्न होती है। प्रधान धर्म मोक्षधर्म है क्योकि मोक्ष के सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु अनुत्तर वस्तु नही है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ कहलाता है। चार पुरुषार्थो मे मोक्ष पुरुषार्थ अनुत्तर है। सवेग द्वारा इसी मोक्षधर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। जब मोक्षधर्म पर दृढ श्रद्धा पैदा होती है तब मोक्षधर्म के सामने ससार के समस्त पदार्थ स्वभावत तुच्छ प्रतीत होने लगते है।

आपको यह भलीभाति विदित ही है कि एक रुपये के मुकाबले एक [illegible] की कितनी कीमत है? आपको एक आना के बदले एक रुपया मिलता [illegible] एक आने का त्याग करने के लिए तैयार हो जाएगे या नही? और

एक गिन्नी मिलती हो तो एक रुपये को, हीरा मिलता हो तो एक गिन्नी को ओर चिन्तामणि रत्न मिलता हो तो एक हीरे को त्यागने के लिए तेयार हो जाओगे या नही? जेसे इनका त्याग करने को तैयार हो जाते हो उसी प्रकार अनुत्तर धर्म के बदले मे तुम ससार की सभी चीजो का त्याग करने के लिए तैयार हो जाओगे। इस त्याग के पीछे भी श्रद्धा काम कर रही है। एक आना की अपेक्षा एक रुपये का मूल्य अधिक है, ऐसी दृढ श्रद्धा तुम्होरे भीतर होगी तो ही तुम एक आना का त्याग कर सकोगे, अन्यथा नहीं। इसी भाति अगर तुम्हे दृढ श्रद्धा होगी कि मोक्षधर्म अनुत्तर है अर्थात् मोक्षधर्म से श्रेष्ठ ओर कोई वस्तु नही है, तभी तुम ससार की वस्तुओ का त्याग कर सकोगे। नहीं तो ससार के प्रलोभनो से छूटना वहुत कठिन हे। मोक्षधर्म पर दृढ श्रद्धा हो तो ही सासारिक प्रलोभनो पर विजय प्राप्त की जा सकती हे ओर उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुत्तर धर्म वही है जो भव—बन्धनो से मुक्ति देता है। परतन्त्रता से मुक्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त कराता है और पतितावस्था मे से वाहर निकाल कर उन्नत बनाता है। धर्म के साथ 'अनुत्तर' विशेषण लगाने का कारण यह है कि वहुतेरे लोग पाप को भी धर्म का नाम देते हैं। जहा पाप है या पाप का कोई भी कारण है, वहा धर्मतत्त्व नहीं है, यह बतलाने के लिए धर्म के साथ अनुत्तर विशेषण लगाया गया हे। हृदय मे मोक्ष की अभिलाषा होगी तो अनुत्तर धर्म के ऊपर ही श्रद्धा उत्पन्न होगी और जब अनुत्तर धर्म पर दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है तो कोई दूसरे झझटो मे पटकने का चाहे जितना प्रयत्न करे, यहा तक देव और दानव भी धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करे, फिर भी वह अनुत्तर धर्म से तिल भी विचलित नही होता। हृदय मे सच्चा सवेग होने पर अनुत्तर धर्म पर ऐसी अटल—अचल श्रद्धा उत्पन्न होती हे ओर ऐसी सुदृढ ओर अचल श्रद्धा होने पर ही हृदय मे सच्चा सवेग जागृत होता हे। इस प्रकार अनुत्तर धर्मश्रद्धा और सवेग के बीच परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध है।

अव यह प्रश्न उपस्थित होता हे कि इस प्रकार की धर्मश्रद्धा का फल क्या हें? उत्तर यह है कि अगर कोई मनुष्य इस प्रकार की धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप हाथी—घोडा वगेरह की आशा करे तो उसके लिए यही कहा जा सकता है कि अभी उसके हृदय मे मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न ही नही हुई हे और अनुत्तर धर्मश्रद्धा का ऐसा फल चाहना ही नही चाहिए। उसका सच्चा फल तो अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया ओर लोभ का नष्ट होना हे।

अब यह विचार करना चाहिए कि अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ क्या है? जिसका अन्त न आये और जो अधिक–अधिक बढता ही चला जाये ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ को शास्त्रकार अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ कहते है। जिसके होने पर जन्म–मरण का अन्त नही आता, वह अनन्तानुबधी कोध आदि कहलाते है। एक के बाद ऊपरा–ऊपरी जो बध होता ही रहता है वह भी अनन्तानुबधी कषाय है।

अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ किस प्रकार के होते है, यह बात समझाते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

जैसे बिजली पडने से छिन्न–भिन्न हुआ पहाड फिर आपस मे नही मिलता इसी पकार हृदय मे ऐसा क्रोध उत्पन्न हो कि जिसके प्रति क्रोध हुआ है उसके साथ किसी भी पकार पुन प्रेम–सम्बन्ध या समभाव उत्पन्न न हो, वह अनन्तानुबधी क्रोध है।

जैसे पत्थर का खभा टूट भले ही जाये मगर नम नही हो सकता, उसी प्रकार जो मान कितना ही समझाने पर भी विनम्र न बने, वह अनन्तानुबधी मान कहलाता है।

जैसे बास की जड मे गाठ मे गाठ होती है, उसी प्रकार कपट पर कपट करना और ऐसा मायाजाल होना कि जिसमे दूसरे भी फस जाए, वह अनन्तानुबधी माया है।

जैसे किरमिची रग के रेशम को भले ही जला दिया जाये, मगर वह अपना रग नही छोडता, उसी प्रकार सर्वस्व नाश होने पर भी जो लोभ छूटता नही, वह अनन्तानुबधी लोभ है।

धर्म पर दृढ श्रद्धा उत्पन्न होने से और हृदय मे सवेग जागृत होने से इस प्रकार का क्रोध, मान, माया और लोभ नष्ट हो जाता है, या वह अल्प परिमाण मे रह जाता है। जब तक अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रबलता रहती है तब तक धर्म पर श्रद्धा भी उत्पन्न नही होती और जब धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी तब यह क्रोध, मान माया और लोभ नष्ट हो जायेगे अथवा अल्प परिमाण मे रहेगे। कदाचित् किसी पर क्रोध होगा भी तो वह थोडी देर मे शात हो जायेगा और हृदय फिर स्वच्छ बन जाएगा। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा पैदा होने पर अनन्तानुबधी क्रोध आदि नही रह पाते और उस स्थिति मे देव–दानव भी अगर धर्म से विचलित करना चाहे तो वह भी उस दृढधर्मी को विचलित नही कर सकते। ऐसे दृढधर्मी के विषय मे कदाचित कोई कहता है कि यह क्रोधी है या मानी है और हमारी बात नही मानता तो दृढधर्मी इस

प्रकार के कथन पर ध्यान नही देता और अपने धर्म से विचलित भी नहीं होता। जैसे मजीठ का रग ऐसा पक्का माना जाता है कि उस पर दूसरा रग नही चढता, उसी प्रकार दृढधर्मी पर धर्म का रग ऐसा पक्का चढा रहता है कि उस पर पाप का रग किसी भी प्रकार नही चढ सकता।

शास्त्र मे ऐसे दृढधर्मियो के अनेक उदाहरण मिलते हैं और कथासाहित्य मे भी अनेक उदाहरण देखे–सुने जाते हैं। उदाहरणार्थ एक ओर सीता थी और दूसरी ओर रावण था। दोनो अपनी–अपनी बात पर दृढ थे। रावण को उसके भाई विभीषण ने और उसकी पत्नी मन्दोदरी ने भी बहुत समझाया था और रावण ने सीता को भी समझाने मे कमी नही रखी थी फिर भी दोनो अपनी–अपनी बात पर अटल थे। ऐसी स्थिति मे किसे पापी और किसे धर्मी कहना चाहिए? तुम सीता को ही दृढधर्मी कहोगे, लेकिन तुम अपने विषय मे भी विचार करो कि तुम क्या कर रहे हो? आज और–और बातो से तुम भले ही विचलित न होते होओ, मगर धर्म से तो पहले ही विचलित हो जाते हो।

एक कवि ने कहा है सीता के पास दियासलाई नही थी, अन्यथा वह रावण के पास दु ख न भोगती। सीता जल मरने के लिए आग चाहती थी परन्तु उसे आग नही मिली और इसी कारण उसे कष्ट भोगने पडे। आज तो दियासलाई का प्रचार हो गया है, उस समय नही हुआ था। इस कारण सीता का जमाना खराब था या आजकल का जमाना खराब हे? पहले के लोग घर मे आग रखते थे और आग सुलगाने के लिए चकमक रखते थे। मगर आज दियासलाई का प्रचार हो गया है। यह बात दृष्टि मे रखकर किस जमाने को अच्छा कहना चाहिए? अर्थात् पहले का जमाना अच्छा था या आज का जमाना?

अगर सीता को दियासलाई मिल जाती और उससे आग लगाकर वह जल मरती तो उसका वह महत्त्व जो आज है, न रह जाता। अतएव सीता के पास दियासलाई न होना अच्छा हुआ या बुरा? अगर इसे अच्छा समझते हो तो मानना चाहिए कि जिस जमाने मे दियासलाई नही थी, वह जमाना खराब नही था। अब जरा इस जमाने की तरफ देखो कि यह कैसा हे?

आज तुम नई–नई चीजो पर मुग्ध बन रहे हो परन्तु इनके द्वारा तुम्हारे चरित्र का रक्षण हो रहा हे या भक्षण, यह भी तो देखो! आज लोग नवीन चीजो के प्रलोभन मे पड जाते हैं पर सीता के समान अपने शील की रक्षा करते हो ऐसा नही देखा जाता। लोग यह देखते हैं कि किसका फेशन अच्छा है, मगर यह नही देखते कि किसका शील सुरक्षित हे। आज हृदय मे

तो कुटिलता का पाप भरा रहता है और ऊपर से अपने को धर्मी प्रकट करने के लिए धर्म का स्वाग रचा जाता है। परन्तु यह सच्ची धर्मश्रद्धा नही है, धर्म के नाम पर की जाने वाली धोखेबाजी है। धर्म की सच्ची श्रद्धा वाला अपने पापो को दबा या छिपा नही रखता, वह अपने पापो को नग्न रूप मे परमात्मा के समक्ष प्रकट कर देता है। परन्तु आज क्या होता है–

कैसे देउ नाथहि खोरि।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखो चोरि,
सगवश कियो शुभ सुनाये सकल लोक निहोरि।।कैसे0।।

भक्त कहता है– 'हे पभो! मैने जो पाप प्रेमपूर्वक किये है, मै हृदय मे छिपा रखता हू – प्रकट नही करता, और किसी के कहने सुनने से या किसी के साथ अथवा पूर्वजो से प्राप्त सस्कारो के कारण मुझसे जो अच्छा काम हो गया है, उसे मै दुनियाभर को सुनाता फिरता हू।'

आज यही देखा जाता है कि अगर किसी ने थोडा–सा शुभ काम किया तो दानी या उदार कहकर समाचार पत्रो मे बडे–बडे अक्षरो मे उसकी प्रशसा की जाती है। मगर शुभ कामो की तरह क्या कोई अपने अशुभ कामो का भी विज्ञापन करता है! अगर नही, तो परमात्मा को क्यो दोष दिया जाता है कि वह हमे तारता नही है? उचित तो यह है कि धर्म या शुभ काम को प्रकट न किया जाये और पाप या अशुभ काम को ही प्रकट किया जाये। मगर आजकल तो इससे एकदम विपरीत दिखाई पडता है। धर्म को क्यो छिपाना चाहिए और पाप को क्यो प्रकट करना चाहिये, यह बात एक सामान्य उदाहरण द्वारा समझाता हू। मान लीजिए आप किसी जगल मे जा रहे है। आपको रास्ते मे चोर मिले। अब आप चोरो से बचने के लिए कीमती चीजे छिपाएगे या कम कीमती? इसके उत्तर मे आप यही कहेगे कि कीमती चीजे ही छिपानी चाहिए। तो अब विचार कीजिए कि धर्म और पाप मे से कीमती क्या है? अगर आप धर्म को कीमती मानते है तो धर्म को छिपाइए और पाप को प्रकट कीजिए। जब आप पाप को प्रकट करोगे तो आप मे अद्भुत नम्रता आ जाएगी। धर्म या शुभ कार्य का निर्णय तो जल्दी नही कर सकते, पर पाप का निर्णय तो कर सकते हो! अपने पाप को देव, गुरु और धर्म की साक्षी से प्रकट करोगे तो आपमे दीनता आएगी और जब सचमुच अन्त करण से दीन [illegible] तभी परमात्मा की प्रार्थना करने के योग्य बनोगे। अगर दीन बनकर [illegible] की प्रार्थना करने की योग्यता का सम्पादन करना है तो परमात्मा [illegible] ऐसी प्रार्थना करो–

श्री मुनिसुव्रत साहबा, दीनदयाल देवातणा देव के,
तरण–तारण प्रभु तो भणी, उज्ज्वल चित सुमरूं नितमेव के।

परमात्मा दीनदयाल कहलाता है तो दीनदयाल की दया प्राप्त करने के लिए दीन बनना ही पडेगा। जब दीनदयाल परमात्मा के समक्ष भक्त दीन बन जाता है तो हृदय मे अहकार या अभिमान रह सकता है? सच्चे हृदय से परमात्मा के आगे दीन बनने पर अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ टिक नही सकते। अत क्रोध आदि कषाय को दूर करने के लिए अपने पापो की हृदय से आलोचना करना चाहिए।

आलोचना पाप की होती है। धर्म की आलोचना नही होती। मगर आज उल्टी गगा बह रही है। लोग धर्म की आलोचना करते हैं और पाप दबाया या छिपाया जाता है। धर्म की आलोचना करना अर्थात् अपने शुभ कार्यों की स्वयमेव प्रशसा करना और समाचार पत्रो मे अपना छपा हुआ नाम देखने की लालसा रखना ही क्या दीनता है? भगवान् ने कहा है कि अगर तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो दीनता धारण करो और दीनता द्वारा हृदय मे रहे हुए तीन शल्यो को, जो हमेशा दु ख दिया करते हैं, बाहर खीच डालो।

जो मनुष्य अपने शल्य रहने देता है और ऊपर से सुन्दर वस्त्र पहन लेता है वह क्या शल्य के दु ख से बच सकता है? इसी प्रकार ऊपर से धर्म करने वाला क्या आत्मा को कम दु ख से बचा सकता है? नही। इसलिए हृदय मे दीनता लाने के लिए इस प्रकार विचार करो–

जानत हों निज पाप उदधि सम, जल–सीकर सम सुनत लरो।
रज सम पर अवगुण सुमेरु करि, गुणगिरि सम रजते निदरो।।

भक्त कहता है– हे प्रभो! मुझमे समुद्र के समान पाप भरे हैं। मेरे इन पापो मे से एक बूद जितना पाप भी अगर कोई प्रकट कर देता है तो मे उसके साथ बलपूर्वक झगडने लगता हू और दूसरे के सुमेरु जैसे गुण भी मैं रजकण के समान गिनता हू और उनकी निदा करता हू। मैं ऐसा पापी हू! ऐसी स्थिति मे, हे प्रभो! मैं तेरी प्रार्थना के योग्य कैसे बन सकता हू?

जो व्यक्ति इस प्रकार गुणग्राही नही वरन् अवगुणग्राही हे वह व्यक्ति अभी तक सम्यग्दर्शन से दूर है, ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि तो यही कहेगा कि मुझे पराये अवगुणो से क्या मतलब? में तो उसी को उपकारी मानूगा जो मेरे अवगुण मुझे बतलाएगा। अगर तुम्हारे पेर मे काटा लगा हो और कोई दूसरा आदमी काटा बाहर निकाल दे तो तुम्हे अच्छा लगेगा या बुरा? कदाचित् तुम कहोगे कि हमारे पैर मे काटा लगा हो और कोई निकाल

दे तो ठीक है, मगर काटा तो न लगा हो फिर भी कोई कहे कि काटा लगा है तो क्या हमे बुरा नही लगना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जब तुम जानते हो कि तुम्हे काटा नही लगा है तो फिर दूसरे के कथन पर ध्यान ही क्यो देते हो? ऐसी स्थिति मे दूसरो की बात पर कान नही देना चाहिए। तुमने अपने सिर पर सफेद टोपी पहनी हो और दूसरा कोई तुम्हे काली टोपीवाला कहे तो तुम्हे खराब लगने का क्या कारण है? ऐसे अवसर पर तुम यही सोचोगे कि मेरे सिर पर सफेद टोपी है, अत वह किसी और को काली टोपीवाला कहता होगा! इससे मुझे क्या सरोकार है? इस प्रकार विचार करना समदृष्टि का लक्षण है। आत्मा जब इस प्रकार समदृष्टि के मार्ग पर प्रयाण करेगा तभी अपना कल्याण साध सकेगा। कुटिलता और क्रूरता के व्यवहार से आत्मा का कल्याण साध्य नही है।

अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा रखने वाला किस प्रकार धर्म पर दृढ रहता है, यह बात समझने के लिए शास्त्र मे वर्णित कामदेव श्रावक के चरित पर दृष्टि दीजिए। कामदेव पर पिशाचरूपधारी देव कुपित हुआ था। उसने कामदेवसे अनेक कटुक वचन कहे थे। पिशाच ने कहा था– 'अप्पत्थियपत्थिया! तू अपना धर्म छोड दे, अन्यथा तुझे मार डालूगा।' मगर कामदेव विचार करता था– 'यह पिशाच मुझे न इच्छा करने योग्य वस्तु की इच्छा करने वाला कहता है मगर वह अपनी समझ के अनुसार क्या गलत कहता है? यह पिशाच है, अतएव इसे धर्म अवाछनीय – न इच्छा करने योग्य प्रतीत होता है, और इसी कारण यह मुझसे ऐसा कहता है। मगर मै धर्म को वाछनीय और आदरणीय समझता हू तो फिर मुझे क्यो बुरा लगे? धर्म उसके लिए इच्छनीय है या नही, इस बात का पता तो इसी से चल जाता है कि इसमे धर्म का अभाव है। इसी कारण तो इसे देव होकर भी पिशाच का रूप धारण करना पडा है। इसमे धर्म होता तो इसे ऐसा क्यो करना पडता? देवो के योग्य सुन्दर आभूषण त्याग कर स्वेच्छापूर्ण साप का उत्तरासन क्यो करना पडता? इस देव ने पिशाच का [illegible] रूप धारण किया है। यह सोचता होगा कि इस रूप से मै डर जाऊगा और धर्म से विचलित हो जाऊगा। इसी कारण दिव्य रत्नो की मनोहर माला धारण करने वाला आज केकडो और चूहो की माला पहन कर आया है! धर्म न होने के कारण बेचारे को कितना वीभत्स और भयानक रूप धारण करना पडा है। धर्म के अभाव से ही इसकी यह दयनीय दशा बनी है।'

कामदेव श्रावक अट्ठारह करोड सुवर्ण मोहरो का और अस्सी करोड [illegible]

गायो का स्वामी था, फिर भी उसमे इतनी दृढता और सहनशीलता थी। तो फिर हम साधुओ को कितनी धर्मदृढता ओर सहिष्णुता रखनी चाहिए, और तुम श्रावको को भी कितना दृढधर्मी और सहिष्णु बनना चाहिए? इस बात पर जरा विचार कीजिए। अगर हम साधुओ मे पवित्रता होगी तो तुम मे भी पवित्रता आये बिना न रहेगी। कामदेव श्रावक मे अटल–अचल धर्मश्रद्धा होने के कारण धर्म से विचलित नही हुआ। यही नही, उसने देव को भी पिशाच से पुन देव बना दिया।

तुम्हारे हृदय मे जब धर्म के ऊपर इस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न हो तो समझ लेना कि तुम अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ से छुटकारा पा चुके हो और तुम्हारे भीतर धर्मश्रद्धा तथा सवेग जीवित और जागृत हो गया है। जीवन मे धर्मश्रद्धा और सवेग को मूर्तरूप देने का यह अपूर्व अवसर मिला है, अतएव इस अवसर का सदुपयोग कर लोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

यह बतलाया जा चुका है कि सवेग का अर्थ मोक्ष की अभिलाषा करना है। जिसमे मोक्ष की अभिलाषा होगी वह कार्यकारणभाव का खयाल रखकर कार्य भी उसी के अनुसार करेगा अर्थात् विपरीत कार्य नही करेगा। मुमुक्षु विपरीत कार्य करेगा ही किसलिये? गेहू की इच्छा रखने वाला किसान खेत मे बाजरा बोएगा तो उसे अभीष्ट फल कैसे मिल सकेगा? इसी प्रकार मोक्ष से विपरीत कार्य करने वाला मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है? जैसे फल की इच्छा हो कार्य भी वैसा ही करना चाहिए।

सूर्य प्रकाश देता है परन्तु उस प्रकाश मे सब अपनी–अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते है और जैसा काम करते हें वेसा ही फल पाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानियो ने तो वाणी का प्रकाश दिया हे। उस वाणी के आधार पर जो अनुकूल कार्य करेगा उसे अनुकूल फल मिलेगा, जो प्रतिकूल काम करेगा उसे प्रतिकूल फल मिलेगा। सूर्य का प्रकाश होने पर भी अगर कोई जान–बूझकर गडहे मे गिरता हे तो इसमे सूर्य के प्रकाश का क्या दोष हे? इसी प्रकार ज्ञानियो की वाणी मार्गदर्शक होते हुए भी अगर कोई उन्मार्ग मे जाता हे तो इसमे उस वाणी का क्या अपराध हे?

कुरान मे एक जगह कहा है–हे मुहम्मद! जो स्वय नही विगडता उसे में बिगाडता नही हू ओर जो स्वय नही सुधरता उसे मे सुधारता नहीं हू।' अर्थात् विगाड ओर सुधार अपनी इच्छा ओर कार्य पर निर्भर हे। शास्त्र मे भी यही बात कही गई हे –'अप्पा कत्ता विकत्ताय' अर्थात् आप स्वय ही अपने हर्त्ता–कर्त्ता हें, दूसरा आत्मा का कोई सुधार या बिगाड नही कर सकता

अतएव अपनी आत्मा को ही सावधान बनाने की आवश्यकता है। आत्मा को सावधान बनाकर मोक्ष के अनुकूल कार्य किया जाये तो मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है।

'हे भगवन्! सवेग का फल क्या है?' यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा–सवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और अनुत्तर धर्मश्रद्धा द्वारा अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ का नाश होता है और उससे नवीन कर्मो का बध नही होता। अर्थात् अनन्तानुबधी कषाय के उदय से होने वाले पाप रुक जाते है। जिसे अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है और सम्यग्दृष्टि के विषय मे शास्त्र मे कहा है–

सम्मत्तदसी न करेई पावं।

–श्री आचाराग सूत्र

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नही करता है। चौथे गुण–स्थान मे लगाकर चोहवे गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते है और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नही करता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पापकर्मो का बध रुक जाता है। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नही रह पाते और जब अनन्तानुबधी क्रोध आदि नही रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण बन्धने वाले) पापकर्म नही बधते। इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण ही न होगा तो कार्य कैसे होगा? कारण के अभाव मे कार्य नही हो सकता।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मो का बन्ध भी होता है। ससार मे मिथ्यात्व किस कारण से है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नही टिक सकता। जिसे जेल मे जाने की इच्छा नही होगी वह जेल मे जाने के कार्य नही करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पडेगा। यह बात दूसरी है कि कोई [illegible] योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना ही पडे, मगर इस प्रकार [illegible] वालो के लिए जेल नही वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग [illegible] आनन्द का ही अनुभव करते है। इस प्रकार कारण हो तो कार्य [illegible] है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे [illegible]

कारण का निवारण पहले करना चाहिये। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमे वह कषाय रहेगा, उसमे मिथ्यात्व भी रहेगा। अनन्तानुबन्धी कषाय जाये तो मिथ्यात्व भी नही रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी दर्शन की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाये, वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नही पहुचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर मे से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा मे मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की आराध ाना नही कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायेगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायेगा तभी दर्शन की आराधना हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नही रहेगा और जब मिथ्यात्व नही रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नही कर सकेगा, इतना ही नही किन्तु जैसे अग्नि मे घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है, उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यो–ज्यो प्रयत्न किया जायेगा, त्यो–त्यो धर्मश्रद्धा अधिक दृढ और तेजपूर्ण होती जायेगी। ध ार्मश्रद्धा मे किस प्रकार दृढ रहना चाहिये, इस विषय मे कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से ओर दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोग शून्यता को ही मोक्ष कहते हे। जैनशास्त्र ऐसा नही मानता। जैनशास्त्रो का कथन है कि आत्मा के कर्म आवरण हट जाने पर आत्मा की समस्त शक्तियो का प्रकट हो जाना ओर आत्मा का दु ख से विमुक्त होना ही मोक्ष है। आत्मा जब तक दु ख से विमुक्त नही होता तव तक उसे विविध प्रकार के दु ख भोगने ही पडते है। श्री भगवती सूत्र मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया हे कि–'हे भगवान्! दु खी दु ख का स्पर्श करता हे या सुखी

दुःख को स्पर्श करता है?' इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा 'हे गौतम! दुखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है, सुखी दुःख से स्पृष्ट नही होता।' इसके बाद चौबीस दण्डको का विचार करते हुये देवो के प्रश्नोत्तर मे उन्हे भी दुःखी कहा है। इस पर यह पश्न उपस्थित होता है कि देवलोक मे देवो को तो दिव्य सुख पाप्त है, फिर उन्हे दुःखी क्यो कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म स्वय दुःख रूप है और देव कर्म से विमुक्त नही है, अतः उन्हे भी दुःखी कहा है। यह बात अलग है कि सातावेदनीय कर्म के उदय से उन्हे कर्मो का दुःख जान नही पडता, परन्तु शुभ या अशुभ कर्म, दुःख के ही कारण है और इसी कारण उन्हे भी दुःख कहा गया है।

गले मे सेर–दो सेर लोहा लटका लिया जाये तो दुःख प्रतीत होगा, किन्तु उतने ही वजन का सोने का हार गले मे पहन लिया जाये तो दुःख नही मालूम होगा। इसका कारण यह है कि तुम्हे सोने के प्रति अनुराग है, अन्यथा वजन की दृष्टि से तो सोना और लोहा समान ही है। फिर सोने के प्रति अनुराग होने के कारण लोग उसका भार वहन करते है। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू –

एक सुखी सेठ था। उसके एक सुशील और विनीत पुत्र था। माता–पिता को वह अत्यन्त प्रिय था। युवावस्था आने पर एक रूपवती कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह किया गया। विवाह के पश्चात् उसका गृहससार चलने लगा। बहू भी घर का काम–काज करती और सास–ससुर के प्रति विनयपूर्वक व्यवहार करती थी। पर उसके मन मे यह अभिमान रहता था कि मै सम्पन्न घर की कन्या हू और मैने मायके मे यहा की अपेक्षा अधिक सुख भोगे है। भीतर ही भीतर इस प्रकार का अभिमान होने पर भी ऊपर से वह सभी के प्रति सद्व्यवहार करती थी।

एक दिन पिता और पुत्र जीमने बैठे थे। उस समय सेठानी ने अपनी बहू से कहा–'बहू! अमुक चीज पीसनी है, जरा सिला और लोढा तो ला दे।' बहू विचार करने लगी मै ऐसे बडे घर की लडकी हू और सास मुझ पर इस तरह हुक्म चलाती है–मुझसे सिला और लोढा उठा लाने को कहती है। इस और विचार कर वह बोली–सिला और लोढा उठा लाने का काम तो मायके [illegible] कभी नही किया है। सासू ने शान्त स्वर मे कहा–ठीक है तुम बैठो। [illegible] लाती हू। इतना कह कर सासू सिला और लोढा उठा लाई और [illegible] चीज पीस ली। सासू ने तो ऐसा किया मगर पुत्र को अपनी पत्नी [illegible] असद्व्यवहारपूर्ण व्यवहार दिल मे बुरी तरह खटका। वह मन ही मन

विचारने लगा—पत्नी कहती है कि सिला और लोढा उठाने का काम तो मैंने मायके मे भी नही किया, तो यहा क्यो करू। इसके कहने का आशय यह है कि उसके बाप का घर वडा है और यह घर छोटा है। इसने अपने बाप के बडे घर के अभिमान मे आकर ही मेरी माता को असद्भावपूर्ण उत्तर दिया है। उसका यह अभिमान किसी भी उपाय से दूर करना चाहिये।

लडका समझदार था। उसने सोचा—कटुक वचन कहने अथवा मारपीट करने से उसका स्वभाव नही सुधरेगा। किसी अन्य युक्ति से ही उसका सुधार करना उचित है। एक दिन उसने बाजार मे एक हार बिकता देखा। इसी से पत्नी का सुधार करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसने हार खरीद लिया और सुनार को बुलाकर कहा—इस हार के बीच मे एक बडा—सा कडा डाल दे और उसमे अढाईसेरी डाल कर सोने से ऐसा मढ दे कि वह एक दम सोने का ही मालूम होने लगे। सुनार ने उसके कथनानुसार हार तैयार कर दिया। लडका हार लेकर घर आया।

रात्रि के समय उसने पत्नी से कहा—'तुम्हारे लिये एक चीज लाया हू, मगर तुम्हारा शरीर बहुत नाजुक है। मालूम नही वह तुम्हे रुचेगी या नही। पत्नी ने पूछा—'क्या चीज है?' उसने कहा—'हार है मगर भारी वहुत है, तुम्हारा शरीर नाजुक है, हार का भार सभाल सकोगी या नही, शका ही है।' पत्नी बोली—'दिखाओ तो सही, कैसा हे वह हार।' उसने, उत्तर दिया—'उस ट्रक मे रखा है। निकाल लाओ और देख लो।' बहू ने हार देखा तो बहुत पसन्द किया। प्रसन्न होकर वह कहने लगी—यह हार इतना क्या भारी हे ? मैंने अपने पिता के घर तो इससे चौगुने भारी हार पहने हैं।' उसने कहा—'ठीक है। तुम्हे रुचता हो और उठा सकती हो तो पहनो। हार भारी हे ओर तुम नाजुक हो, जरा इसका ख्याल रखना।' बहू ने उपालभ के स्वर मे कहा—'यह क्यो नही कहते कि रोज पहनने से हार घिस जाएगा। मे तो पहले ही कह चुकी हू कि मैंने इससे चार गुने भारी हार अपने पिता के घर पहने हे।' उसने कहा—'म तो तुम्हारी दया के खातिर ही यह कहता हू। अगर तुम हार का वोझा उठा सकती हो तो रोज पहनो। इसके लिए मेरी कोई मनाई नही हे।'

बहू रोज हार पहनने लगी। पहले के लोग घर का काम—काज हाथ से ही करते थे। आज यह स्थिति हे कि थोडा धन हुआ नही कि घर का कामकाज करना छोड दिया ओर नोकरो से काम कराने लगे। इस प्रकार आज के लोग दूसरो से काम कराने मे ही अपनी श्रीमताई समझते ह मगर

पहले के लोग श्रीमत होने पर भी अपने हाथो अपना काम करने मे गौरव मानते थे।

वह बहू भी पीसना, पानी भरना वगैरा सब घरू काम अपने ही हाथ से करती थी। जब वह पीसने बैठती तो वह हार उसकी छाती से टकराता और लगता भी सही, पर आभूषण पहनने के लोभ से वह हार पहने ही रहती, उतारती नही।

सेठ के लडके ने विचार किया—मेरी पत्नी आभूषणो के लोभ की मारी हार छोडती नही है, मगर बहुत दिनो तक उसे भुलावे मे रखना ठीक नही है। ऐसा विचार कर उसने लोहे पर चढाया हुआ सोने का पतरा एक जगह से उखाड दिया और वह सो गया।

सुबह बहू ने पहनने के लिए हार उठाया तो उसने देखा—सोने के पतरे के नीचे लोहा है। देखते ही वह बोली—'हाय! मुझे कैसा बेवकूफ बनाया! यह किस समय का वैर भजाया है?' लडके की नीद खुल गई। पूछा—'क्या हुआ?' पत्नी बोली—'मैने ऐसा क्या बिगाड किया था कि इतना भारी लोहा मेरे गले मे डाला?' सेठ के लडके ने कहा—'मैने तो पहले ही कह दिया था कि हार बहुत भारी है।' पत्नी बोली—'मगर मै इसे लोहे का नही सोने का समझी थी।' वह बोला—'क्या लोहे मे ही वजन होता है सोने मे नही होता? तुमने उस दिन तो कहा था कि इससे चौगुने भारी हार तुमने अपने मायके मे पहने है और आज इतने से वजन के लिए चिल्लपो मचा रही हो। तुमने इतने दिनो तक तो इस हार का भार छाती पर वहन किया मगर उस दिन मेरी माता ने सिला और लोढा उठाने को कहा तो तुमने जबाब दिया कि मैंने अपने बाप के घर भी पत्थर उठाने का काम नही किया है। अब इस घटना से कुछ समझो और मै बडे घर की बेटी हू यह अभिमान छोड दो। मैं तुम्हारे मायके का अभिमान नही सह सकता और न अपने माता–पिता का ही अपमान सह सकता हू। मै तुम्हे कष्ट देना नही चाहता, सिर्फ इतना कहना चाहता हू कि तुम समय को पहचानो और झूठा अभिमान मत करो।'

कहने का आशय यह है कि भार की दृष्टि से जैसे लोहा और सोना समान ही है, उसी प्रकार ससार का दु ख भी दु ख ही है और ससार का सुख भी दु ख है। जब देवो को भी दु खी कहा गया है तो ससार मे कौन अपने आपको सुखी कहने का दावा कर सकता है? ससार के पदार्थो मे सुख होता तो साधु–साध्वी आभूषण देने पर क्यो न लेते? जिन गहनो मे तुमने सुख मान रखा है, वह गहने साधु को दोगे तो वह स्वीकार नही करेगे, क्योकि वह गहने मे सुख नही मानते, बल्कि दु ख ही मानते है। इसी कारण तुम साधु–साध्वी के चरणो मे झुकते हो। साधु–साध्वी अगर हार या माला पहनने लगे तो तुम उन्हे नमस्कार करोगे? नही। अतएव तुम ससार के सुख को भी दु ख ही समझो। साधुओ की तरह ससार की चीजो का त्याग न कर सको तो कम से कम इतना तो मानो कि ससार के पदार्थ सुखदायी नही, दु खरूप हैं। और ऐसा मानकर सोने–चादी आदि के लिए धर्म का त्याग मत करो।

तात्पर्य यह है कि सवेग से अनुत्तर धर्मपर श्रद्धा उत्पन्न होती है, अनुत्तर धर्मश्रद्धा से अनन्तानुबधी कषायो का नाश होता है और इससे नवीन कर्मो का बध नही होता। जब नये कर्मो का बध नही होता और पुराने कर्मो का क्षय हो जाता है तो आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर समस्त दु खो से रहित बन जाता है। इसलिए सवेग मे उद्योग करो। उन्मार्ग मे आरूढ होकर तो अनेको बार कष्ट सहन किये है परन्तु सन्मार्ग मे आरूढ होकर एक बार भी कष्ट भोग लोगे तो सदा के लिए कष्ट–रहित बन जाओगे अतएव ससार के सुख को भी दु ख ही मानो और ससार के दु ख तथा सुख दोनो से ही मुक्त होने का प्रयत्न करो।

ससार मात्र हेय है, फिर चाहे वह सत्सग हो या दु सग हो। लेकिन जब दु सग का त्याग न हो सकता हो तो सत्सग करना आवश्यक और आदरणीय है। इसी प्रकार कर्म मात्र त्याज्य है, फिर चाहे वह सातावेदनीय हो। कर्म दु ख रूप ही है। ससार के सर्वश्रेष्ठ सुख भोगने वाले देवो को भी भगवान् ने सुखी नही माना। उन्होने कहा है –

ण हि सुही देवता देवलोए, ण हि सुही पुढवीवई राया।
ण हि सुही सेठसेणावई, एगत सुही सुणी वीयराई।।

अर्थात्–देवलोक के देवता भी सुखी नही ह, पृथ्वी का अधीश्वर राजा भी सुखी नही है, सेठ, सेनापति भी सुखी नही हे सिर्फ वीतराग मुनि एकान्त सुखी है।

इस पकार ससार के पदार्थो मे फसे हुए कोई भी जीव सुखी नही माने गये है। वास्तव मे सुखी वही है जो कर्म नष्ट करता है। इसलिए एकान्त रूप से सुखी बनने के लिए अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा करो और कर्मो का नाश करो। जो पुरुष अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा करके कर्मो का नाश करता है, वह इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है। कर्म शेष रह जाने के कारण अगर इसी भव मे मोक्ष न हो तो तीसरे भव मे मोक्ष होता है। भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है–भगवन्! दर्शन का उत्कृष्ट आराधक कब मोक्ष जाता है? भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा है –'जघन्य उसी भव मे और उत्कृष्ट तीसरे भव मे मोक्ष जाता है।' इस उत्तर से स्पष्ट है कि चाहे उसी भव मे मोक्ष हो, चाहे तीसरे भव मे, मगर अनुत्तर धर्मश्रद्धा व्यर्थ नही जाती। फल चाहे जब मिले किन्तु कोई भी सत्कार्य निष्फल नही होता। गीता मे कहा है –

न हि कल्याणकर कश्चित् दुर्गति तात! गच्छति।

अर्थात्–कल्याणकारी कार्य कदापि व्यर्थ नही जाता। बोया हुआ धर्म–बीज चाहे अभी उगे या देर से, किन्तु उगे बिना नही रहता।

आजकल तो धर्म मे भी बनियापन काम मे लाया जाता है। जैसे व्यापारी नकद रुपया देकर चीज खरीदने वाले ग्राहक पर प्रसन्न रहता है उसी प्रकार लोग धर्म के द्वारा तात्कालिक फलकी आशा रखते हैं। उनका कथन है कि धर्म का फल तत्काल मिल जाये तब तो ठीक है, अन्यथा कौन जाने परलोक मे फल मिलेगा या नही? इस प्रकार धर्म पर अविश्वास रखने से फल की हानि होती है। धर्म का फल भले ही परम्परा से मिले किन्तु उसका फल अवश्य मिलता ही है। किसी की भूख भोजन का एक ही कौर खाने से नही मिट जाती। पहले कौर से भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और भोजन के कौर से मेरी भूख मिट जायेगी, ऐसा विश्वास पैदा होता है। ऐसे विश्वास के साथ ही आगे भोजन किया जाता है और इसी प्रकार भूख शात हो जाती है। यही बात धर्म के विषय मे है। धर्म के नीतिरूपी कौर से यत्किंचित् जीवनशाति की भूख शात होती है तो धर्म का पालन करने से आत्मसतोष भी होगा और जीवन की शाति भी प्राप्त होगी।

धर्म का पहला कौर नीति है। अगर नीति के पालन से शाति मिलती है तो धर्म को जीवन मे अधिक स्थान देना चाहिये और नीतिमय जीवन के साथ धर्ममय जीवन भी बनाना चाहिए।

दूसरा बोल

निर्वेद

जिसके अन्त करण मे सवेग जाग्रत हो जाता है, वह वचनवीर ही नही रहता, वरन् अपने विचारो को मूर्त्त रूप देकर कार्यवीर बनता है। वास्तव मे वही सच्चा वीर पुरुष है जो कहने के अनुसार कर दिखलाता है। मुह से कह देने मात्र से कोई लाभ नही हो सकता। अच्छे कार्य को जीवन मे अवतरित करने से ही आत्मा को लाभ पहुचता है। अतएव जिसमे सवेग की जागृति हुई होगी वह वचनवीर ही नहीं रहेगा किन्तु अपने वचन के अनुसार कार्य करके बतलाएगा।

भगवान् कहते हैं—मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होने पर सवेग पैदा होगा और सवेग पैदा होने पर निर्वेद अर्थात् विषयो के प्रति उदासीनता उत्पन्न होगी। अतएव अब निर्वेद के विषय मे विचार किया जाता है।

मूल पाठ

प्रश्न—निव्वेएणं भंते! जीवे कि जणयई?

उत्तर—निव्वेएण दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेय हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरभपरिच्चाय करेई, आरभपरिच्चाय करमाणे ससारमग्ग वेच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गपडिवन्ने भवइ।।2।।

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन्! निर्वेद से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—निर्वेद से देव, मनुष्य ओर तिर्यच सम्बन्धी कामभोगो म शीघ्र उदासीनता आ जाती हे, सव विपयो मे विरक्ति आ जाती हे आरभ का

त्याग करके ससार के मार्ग को रोक देता है और मोक्ष मार्ग मे आरूढ होता है।।2।।

व्याख्यान

सम्यक्त्वपराक्रम का यह दूसरा बोल है। इसमे यह बतलाया गया है कि सवेग उत्पन्न होने पर निर्वेद उत्पन्न होता ही है। मोक्ष की तीव्र अभिलाषा जाग उठने पर सासारिक सुख रुचिकर नही होते।

सवेग और निर्वेद वर्णन करने के लिए ही दो वस्तुए हैं, बाकी तो सवेग उत्पन्न होने पर निर्वेद उत्पन्न होता ही है। जैसे जीवो की रक्षा करना सयम है और जीवो की हिसा न करना अहिसा है, उसी प्रकार मोक्ष की अभिलाषा होना सवेग है और सासारिक भोगो के त्याग की अभिलाषा होना अर्थात् ससार से विरक्ति पाना निर्वेद है। इस प्रकार सवेग और निर्वेद मे अविनाभाव सबध है।

निर्वेद क्या है, इस विषय मे जरा विचार करना चाहिए। निर्वेद का अर्थ करते हुए टीकाकार का कथन है– ससार के विषयभोग त्यागने की अभिलाषा करना ही निर्वेद है। यद्यपि निर्वेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है, तथापि निर्वेद का सामान्य अर्थ इन सभी भेदो मे घटित है।

निर्वेद जीवन के लिये अत्यन्त अनिवार्य वस्तु है। बिना निर्वेद के किसी का भी कार्य नही चल सकता। यह बात दूसरी है कि किसी मे जघन्य निर्वेद हो किसी मे मध्यम हो और किसी मे उत्कृष्ट हो, मगर निर्वेद के अभाव मे जीवनव्यवहार चल नही सकता, यह अनुभवसिद्ध बात है। उदाहरण के लिये मान लीजिए आप भोजन करने बैठे हैं। इतने मे आपके किसी विश्वासपात्र मित्र ने आकर कहा–इस भोजन मे विष है। ऐसी स्थिति मे आप वह भोजन न लेंगे। कड़ाके की भूख लगी होगी तो भी आप वह भोजन नही करेगे। इसका कारण यह है कि भोजन मे विष होने का ज्ञान होने पर आपको उसके प्रति निर्वेद हो जाता है। इसी प्रकार वस्तु के विषय मे सच्चा विवेक उत्पन्न होने पर सभी को निर्वेद उत्पन्न होता है और निर्वेद के बिना जीवन-व्यवहार चल नही सकता। मगर जिस निर्वेद के साथ सवेग होता है उस निर्वेद की शक्ति तो गजब की होती है। ज्ञानीजनो मे सवेग के साथ ही निर्वेद [illegible] भोजन मे आप विष समझते है उसका जिस प्रकार त्याग कर

देते है, उसी प्रकार ज्ञानीपुरुष ससार के विषयसुख मे विष मानते हैं और इसी कारण उन्हे सासारिक सुखो पर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है।

विषय दो प्रकार के होते है– एक वह जो आखो द्वारा देखे गये हैं और दूसरे वह जो आखो से तो नही देखे, सिर्फ कान द्वारा सुने गये है। आखो से देखे जाने वाले विषयसुख तो परिमित ही होते है, मगर कानो से सुने जाने वाले विषयसुखो की सीमा ही नही होती। इसी कारण ज्ञानीजनो ने कहा है कि स्वर्ग, देवलोक आदि का ज्ञान होना तो अच्छा है, मगर उस ज्ञान के साथ वैराग्य अवश्य होना चाहिए। जब वैराग्य होगा तो निर्वेद अवश्य होगा और इस दशा मे देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि के विषयभोगो के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। ज्ञान के साथ अगर वैराग्य न हुआ तो आत्मा स्वर्ग आदि के प्रलोभनो मे पड जायेगा। अतएव इस प्रकार के ज्ञान के साथ वैराग्य होना आवश्यक है। वस्तुत 'ज्ञानस्य फल विरति' अर्थात् ज्ञान का फल वैराग्य ही है।

शास्त्रकारो ने स्वर्ग का और स्वर्ग के सुखो का वर्णन करके अन्त मे यही कहा है कि स्वर्ग या स्वर्ग के इन सुखो के लिये प्रयत्न मत करो। देवलोक के सुखो के प्रलोभन मे मत पड जाओ। अगर दिव्य सुखो के लालच मे फस गये तो मोक्ष नही प्राप्त कर सकोगे। इस समय हम लोग स्वर्ग नही देख रहे है, सिर्फ शास्त्रो द्वारा ही वहा की स्थिति जानते हैं कि वहा ऐसे–ऐसे सुख है। इन सुने जाने वाले भोगो पर लालच मत लाओ और जब स्वर्ग के सुखो पर भी ललचाना उचित नही है तो फिर मनुष्य सबधी भोगो पर ललचाना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? श्रीपन्नवणासूत्र मे कहा है कि देवलोक के देवता भी तिर्यचो के साथ भ्रष्ट हो जाते है, कहा देव और कहा तिर्यच! मगर जब काम का वेग उत्पन्न होता है तो देवता बेभान हो जाते है और अन्त मे भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसा होने पर भी वास्तव मे कामभोग त्याज्य ही है। अतएव अन्त करण मे सवेग के साथ निर्वेद धारण करके देव, मनुष्य और तिर्यंच सबधी किसी भी प्रकार के विषयभोगो पर ललचाना उचित नही है। देवो को देवलोक के भोगो से तृप्ति नही होती तो वह तिर्यचो के साथ भ्रष्ट हो जाते है। ऐसी स्थिति मे कोई इन भोगो से किस प्रकार तृप्त हो सकता है! भोगो की लालसा तो वह आग है जो ईन्धन देने से कभी तृप्त नही होती वरन् अधिकाधिक बढती ही चली जाती है। अतएव सवेगपूर्वक निर्वेद धारण किये बिना हमारे लिए दूसरा कोई चारा ही नहीं है। जिसके भोग से अनन्त

काल तक भी तृप्ति नही हो सकती, उसका त्याग करके ही तृप्ति का आनन्द उठाना उचित है। शास्त्रकारो ने कहा है।

कणकुडगं चइत्ताणं विट्ठ भुजइ सूयरो।
एव सील चइत्ताण, दुस्सीले रमई मिए।।

उत्तरा 1–5

अर्थात् शूकर के सामने चावलो का थाल होने पर भी अगर उसे विष्ठा दीख जाये तो वह चावलो का थाल छोडकर विष्ठा खाने दौडता है, इसी पकार दुश्शील लोग, शील का त्याग कर कुशील का सेवन करने दौडते है। शूकर को चावल का थाल छोडकर विष्ठा खाने के लिए दौडता देखकर आपको क्या अच्छा लगेगा? आपको अच्छा लगे या न लगे, शूकर को तो विष्ठा ही अच्छी लगती है। उसे विष्ठा अच्छी न लगती तो वह चावल का थाल छोडकर विष्ठा खाने दौडता ही क्यों? मगर उसकी यह कैसी भूल है। इसी प्रकार क्या उन लोगो की भूल नही है जो शील का त्याग कर कुशील का सेवन करते है।

आज हम लोग मनुष्य–भव मे हैं, इस कारण हमे शूकर का यह कार्य बुरा लगता है और हम उसकी निदा करते हैं। मगर उसकी निदा करके ही बस मत करो। आप अपने कार्यो को भी देखो। कही आप भी तो इसी प्रकार का कोई कार्य नही कर रहे है। ज्ञानीपुरुषो का कथन है कि ससार के समस्त सुख विष्ठा के ही समान है। इन पर ललचाना, क्या शूकर के ही समान कृत्य नही है? जब ससार के सुख विष्ठा के समान खराब और अरुचिकर प्रतीत होने लगे तब समझना चाहिए कि निर्वेद हमारे हृदय मे जागृत हो गया है। किसी के कहने से थोडी देर के लिए निर्वेद उत्पन्न होना दूसरी बात है, मगर यदि सवेग के साथ निवेद उत्पन्न हो अर्थात् अन्तर से सासारिक सुख विष्ठा के समान त्याज्य प्रतीत होने लगे और यह भाव स्थायी बन जाये तब समझना चाहिए कि हमारे हृदय मे सच्चा निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

सच्चाई यह है कि आज हम लोगो की आत्मा भी शूकर के समान ही भूल कर रही है। क्या हमारी आत्मा सद्गुणो का त्याग कर दुर्गुणो की ओर नही दौडती है? यह भूल क्या शूकर की भूल से कुछ कम है? नही वरन् कई दृष्टियो से शूकर की भूल की अपेक्षा भी अधिक भयकर है अगर कोई मनुष्य अपना शरीर मल से लिप्त करे तो सरकार उसे दड नही देती लेकिन दुर्गुण [illegible] तो शास्त्र मे भी निदा की गई है और दुर्गुण–दुराचार वाले को सरकार भी दड देती है। विष्ठा से बाह्य अशुचि ही मानी जाती है और वह

सरलता से दूर भी की जा सकती हे, मगर दुर्गुणो से आन्तरिक अपवित्रता उत्पन्न होती है और वह बडी कठिनाई हटाई जाती है। यहा तक कि भव–भवान्तर तक भी नही मिटती। इस प्रकार दुर्गुण विष्ठा से भी अधिक बुरे हैं। ऐसी स्थिति मे सद्‌गुण त्याग कर दुर्गुण ग्रहण करना एक प्रकार की शूकरवृत्ति ही कही जा सकती हे।

शास्त्र मे।यह उपदेश प्रधानतया साधुओ के लिए है। उन्ही से यह कहा गया है कि जैसे विष्ठा स्वेच्छापूर्वक त्यागी हुई वस्तु है उसी प्रकार सासारिक विषयसुख भी स्वेच्छा–पूर्वक त्यागी हुई चीज है। आत्मिक सुख का भोग देखकर विषय सुखो की इच्छा मत करो। तुम्हारे लिए यह विष्ठा से भी अधिक बुरे हैं। तुम्हारे अन्त करण मे इन विषय भोगो के प्रति निर्वेद उत्पन्न होगा अर्थात् इनके त्याग के लिए तीव्र वैराग्य होगा तभी तुम्हारा त्याग टिक सकेगा। त्याग वैराग्य के बिना नही टिकता' इस कथन के अनुसार त्याग के साथ निर्वेद होना आवश्यक है। जीवन मे निर्वेद, सच्चा वैराग्य होने पर ही साधुता स्थिर रह सकती है। जिस वस्तु के प्रति एक बार हृदय मे तीव्र घृणा उत्पन्न हो जाती है, बुद्धिमान् पुरुष उसे फिर ग्रहण नही करते। इस विषय मे कथा–ग्रन्थो मे एक उदाहरण आया है। प्रासगिक होने के कारण आपको सुनाता हू।

किसी सेठ के ललिताग नामक पुत्र था। ललिताग अपने नाम के अनुसार सुन्दर और गुणवान् था। एक बार वह कही बाहर जा रहा था कि अपने महल मे से रानी ने उसे देखा। ललिताग को देखकर रानी सोचने लगी–'यह कुमार बडा ही ललित सुन्दर है। ऐसे सुन्दर पुरुष के विना नारी का जीवन निरर्थक है। किसी भी उपाय से इसे प्राप्त करना ही चाहिये।' इस प्रकार विचार कर रानी ने अपनी एक विश्वासपात्र दासी भेजी और उसे गुप्त मार्ग द्वारा महल मे बुलाया। रानी ने अपनी मादकतापूर्ण कामदृष्टि से ललिताग को मुग्ध कर दिया। रानी का सोन्दर्य देखकर ललिताग भी उस पर मोहित हो गया। वह इतना मुग्ध हुआ कि अपने घरबार का भी खयाल उसे न रहा।

ललिताग को अपने कब्जे मे करके रानी ने उसके साथ विषयभोग करने की तेयारी की। इसी समय रानी को महल मे राजा के आगमन की सूचना मिली। यह सूचना मिलते ही रानी का मुह उतर गया। रानी की अचानक यह उदासीनता देखकर ललिताग ने पूछा–'अभी–अभी तो मेरे साथ तुम हस बोल रही थी ओर अब एकाएक उदासीन हो गई। इसका क्या कारण है?' रानी ने उत्तर दिया–'उदासी का कारण यह हे कि राजा महल मे आ रहा

है। अब क्या करना चाहिये सो कुछ नही सूझता!' राजा के महल मे आने के समाचार सुनते ही ललिताग भय से कापने लगा। उसने दीनतापूर्वक रानी से कहा–'मुझे जल्दी से कही न कही छिपाओ। राजा ने मुझे देख लिया तो शरीर के टुकडे–टुकडे करवा डालेगा। क्षत्रिय का और उसमे भी राजा का कोप बडा ही भयकर होता है।' रानी बोली–'इस समय तुम्हे कहा छिपाऊ'। ऐसी कोई जगह भी तो नही दीखती जहा छिपा सकू! अलबत्ता, पाखाने मे छिपने लायक थोडी जगह है। राजा पाखाने की तरफ नजर भी नही करेगा और जब वह चला जायेगा तो मै बाहर निकाल लूगी।'

पाखाने मे रहने की इच्छा किसे होगी? किसी को नही तो फिर सुगन्ध मे रहने वाले ललिताग को पाखाने मे रहना क्यो रुचिकर हुआ? इसका एकमात्र कारण था भय! पाप मे निर्भयता कहा? ललिताग पापजन्य भय के कारण पाखाने मे छिपने के लिए विवश होगया। रानी ने अपनी दासी से कहा–'इन्हे पाखाने मे छिपा आ।' रानी की आज्ञा से दासी ने ललिताग के पैरो मे रस्सी बाधकर उसे उल्टा लटका दिया। जब ललिताग को पाखाने मे उलटा लटकाया गया होगा तो कौन जाने उसकी क्या दशा हुई होगी।

राजा रानी के महल मे आया और रानी के साथ कुछ खानपान करके लौट गया। रानी को या तो ललिताग की कायरता देखकर घृणा हुई या वह उसे भूल गई अथवा और कोई कारण हुआ, जिससे उसने पाखाने मे से ललिताग को नही निकाला। ललिताग को लटके–लटके बहुत समय व्यतीत हो गया।

पानी का निकास उसी पाखाने मे होकर था। वर्षा होने के कारण पाखाने मे जो पानी पहुचा उससे सूखा मल भी गीला हो गया और नीचे गिरने लगा। ललिताग उस मल से लिप्त हो गया। ऐसी मुसीबत मे फसा हुआ ललिताग आखिर डोरी टूटने से नीचे गिर पडा और बेहोश हो गया।

महतरानी जो राजा और ललिताग के भी घर काम करती थी, पाखाना साफ करने आई। जैसे ही वह पाखाना साफ करने भीतर घुसी कि ललिताग नजर आया। देखते ही वह पहचान गई। उसने सोचा–हमारे सेठ [illegible] कुमार ललिताग और यहा पाखाने मे पडा है! वह उल्टे पाव सेठ के घर [illegible] सेठ से कहा–तुम जिसकी चिन्ता करते थे वह ललिताग कुमार तो राजा [illegible] मे पडा है। सेठ सोचने लगा–ललिताग वहा किस प्रकार पहुचा [illegible] जो हुआ सो हुआ, मगर अभी तो उसे शीघ्र ही घर लाना उचित [illegible] के साथ वह वहा पहुचा और ललिताग का घर उठा

लाया उस समय ललिताग की स्थिति अत्यन्त नाजुक थी, पर यथोचित उपचार कराने से वह मरते–मरते बच गया। धीरे–धीरे स्वास्थ्य लाभ करके उसने अपनी पूर्व–स्थिति प्राप्त कर ली।

स्वस्थ होने के पश्चात् ललिताग घोडागाडी मे बैठकर घूमने निकला। फिर रानी की दृष्टि ललिताग पर जा पडी। उसे देखते ही वह सोचने लगी—— मैंने वहुत बडी भूल की। यह पुरुष तो भोगने योग्य है। यह सोचकर रानी ने फिर अपनी दासी उसके पास भेजी और महल मे आने के लिए कहलाया। मगर ललिताग, जो महान् दु ख एक बार भुगत चुका था, क्या दूसरी बार रानी के पास जाने को तैयार हो सकता था? इस विषय मे तुम्हारी सलाह पूछी जाती तो तुम क्या सलाह देते? नि सन्देह प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष यही सलाह देगा कि जहा इतना भयकर कष्ट भोगना पडता है वहा हर्गिज नहीं जाना चाहिए।

ललितागकुमार को यह सलाह देने के लिए आप तैयार हैं, मगर जरा अपने सबध मे भी तो विचार कर देखो। ललिताग को जो काम न करने की सलाह दे रहे हो, वही काम आप स्वय तो नही करते हैं? आपने अनेको बार इस प्रकार के कष्ट भुगते है फिर भी आपकी दशा और दिशा नही बदली। क्या आप माता के पेट मे उलटे नही लटके? क्या वहा मल–मूत्र नही हैं? गर्भ मे आप अपनी माता के आहार मे से रसवाहिनी नाडी द्वारा थोडा–सा रस लेते थे। श्री भगवतीसूत्र मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया है कि गर्भ का बालक, माता के ग्रहण किये हुए आहार मे से रसवाहिनी नाडी द्वारा थोडा आहार अर्थात् एक देश का आहार ग्रहण करता है। ऐसा कष्ट थोडे बहुत दिन नही, नौ महीने तक भोगा हे। इतना ही नही, कभी–कभी तो वारह वर्ष या चौवीस वर्ष तक भी ऐसा कष्ट भोगना पडा है। यह कष्ट क्या एक डोरी के सहारे लटकने के समान कष्ट नही हे? गर्भ मे बालक भी एक नाडी के सहारे ही लटकता रहता है फिर किसी पुण्य के प्रताप से या किसी साधना द्वारा उसका जन्म जोता हे। गर्भ से बाहर निकलते समय अगर सार–सभाल करने वाला कोई न हुआ तो केसी विडबना होती हे? आज आप यह अभिमान करते हैं कि माता–पिता ने हमारे लिए क्या किया हे? किन्तु तनिक अपनी गर्भावस्था या बाल्यावस्था के विपय मे विचार करो कि उस समय तुम्हारी क्या हालत थी, अगर माता–पिता ने उस समय आपको सभाला न होता तो केसी दशा होती?

माता–पिता के उपकार का विचार आने पर मुझे एक पुरानी कविता याद आ जाती हे–

डगमग पग टकतो नही, खाई न सकता खाद।
उठी न सकती आप थी, लेश हती नहिं लाज।।
ते अवसर आणी दया, बालक ने मा–बाप।
सुख आपे दु ख वेठीने, ते उपकार अमाप।।
कोई करे एवा समै, बे घडी एक बरदास।
आखी उमर थई रहे, तो नर नो नर दास।।

गर्भावस्था मे या बाल्यावस्था मे घडी–दो घडी सहायता करने वाले सहायक का उपकार मनुष्य जितना माने, उतना ही थोडा है। तो फिर जिन माता–पिता ने ऐसे समय मे सब प्रकार की सहायता और सुविधा प्रदान की है उनका कितना अपरिमित उपकार है, इस बात का जरा विचार तो कीजिए।

गर्भस्थान के कारागार से हम लोग बाहर निकले और माता–पिता की छत्र–छाया तले सुखपूर्वक बढते–बढते इस स्थिति मे आये हैं। यह स्थिति पाकर हमारा कर्तव्य क्या है इस बात का जरा गहराई से विचार करना चाहिए। हम जिस कैदखाने मे बन्द रह चुके हैं, फिर उसी मे बन्द होना उचित है अथवा ऐसा मार्ग खोजना उचित है कि फिर कभी उसमे बन्द न होना पडे? भगवान ने सवेग के साथ निर्वेद का होना इसीलिए आवश्यक बतलाया है कि जिससे फिर कैदखाने मे बन्द न होना पडे। अतएव देवो, मनुष्यो और तिर्यंचो के कामभोगो मे सच्चा सुख मत समझो। यह कामभोग तो ससार–परिभ्रमण करने वाले हैं। इनसे निवृत्त होने मे ही कल्याण है। अगर ललिताग चतुर होगा तो वह फिर कभी ऐसा काम करेगा, जिससे पाखाने मे लटकना पडे? और औधे मुह लटकना पडे? यह कथा उपनय है। सभी ससारी जीव अनुभव कर चुके है कि उन्हे किस–किस प्रकार के कैदखानो मे कैसे–कैसे कष्ट भुगतने पडे है। आप ललिताग को उपदेश देगे कि दु ख भोगने वहा क्यो जाता है? लेकिन यही उपदेश अपनी आत्मा को दो कि– 'आत्मन्! तू शरीर–रूपी कैदखाने मे पडने के काम बार–बार क्यो करता है?' दूसरो को उपदेश देने से ही तुम्हारा कुछ भी लाभ नही होगा अपने आपको सुधारो। इसी मे कल्याण है।

बिना मूर्ख पुरुष भी किसी काम मे प्रवृत्ति नही करता। फिर बुद्धिमान पुरुष कैसे प्रवृत्ति कर सकते हैं? इस उत्तर के बावजूद भी यह प्रश्न खडा ही रहता है कि एक ओर निष्काम कर्म करने का उपदेश देना और दूसरी ओर यह कहना कि फल खाये बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नही करता, इन दोनो परस्पर विरोधी बातो मे से कौनसी बात ठीक समझनी चाहिए?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि फल का इन्द्रियजन्य सुख के साथ सबध है और जिस फल को ज्ञानीजन अप्रशस्त समझते हैं, उस फल की आकाक्षा करने से पतन हो जाता है। अतएव इस प्रकार के फल के प्रति निष्काम–निरीह ही रहना चाहिये। ऐसे फल की कभी कामना नही करनी चाहिए। जैसे किसान निष्काम भाव से खेत मे बीजारोपण करता है उसी प्रकार कामनाहीन बुद्धि से धर्म मे प्रवृत्त होना चाहिये। सासारिक सुख–रूप फल की कामना कदापि नही करना चाहिये। किसान को यह निश्चय नही होता कि मेरे बीजारोपण का परिणाम इस प्रकार का आयेगा, मगर उसे यह विश्वास अवश्य होता है कि बीज अगर अच्छा है तो फल खराब नही आयेगा। यद्यपि किसान यह नही जानता कि मेरे बोने से कितना फल उत्पन्न होगा फिर भी वह बीजारोपरण करता ही है। इसी प्रकार व्यापारी को भी पहले से ही यह निश्चय नही होता कि मेरे व्यापार से मुझे इतना लाभ होगा, फिर भी वह व्यापार मे प्रवृत्ति करता ही है। हम लोगो को भी इस लोक मे अथवा परलोक मे ऐसा फल मिलेगा, ऐसी कामना से कार्य नही करना चाहिये वरन् फल की परवाह न करते हुये कार्य करते रहना चाहिये। साराश यह हे कि इन्द्रियजनित सुख की आकाक्षा न करना ही निष्काम कर्म करने का आशय है और फल को जाने बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नही करता इस कथन का आशय यह है कि इन्द्रियजनित सुख–रूप नही किन्तु उससे पर अर्थात् अतीन्द्रिय सुखरूप और ज्ञानियो द्वारा प्रशसित फल को सामने रखकर ही कार्य मे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

निर्वेद से क्या लाभ होगा? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है–निर्वेद से देव, मनुष्य ओर तिर्यंच सम्बन्धी कामभोगो के प्रति अरुचि उत्पन्न होगी। जीवन मे निर्वेद उत्पन्न होते ही विचार आने लगता हे कि कब मैं अनित्य और अशुचि के भडार के समान कामभोगो का परित्याग करू। इस तरह सासारिक सुखो से निवृत्त होना निर्वेद का फल हे।

यहा एक विचारणीय प्रश्न खडा होता हे कि निर्वेद का जो फल बतलाया गया हे वह तो स्वय ही निर्वेद है। कारण ओर उसका फल अर्थात

कार्य क्या एक ही वस्तु है? कामभोगो के प्रति अरुचि होना निर्वेद है तब निर्वेद का फल क्या है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि इष्ट विषयभोग और अनुसर्गिक विषयभोग अर्थात् देखे हुए और सुने हुए विषयभोगो से मन का निवृत्त होना–विषयभोगो के पति वैराग्य उत्पन्न होना ही निर्वेद कहलाता है, परन्तु ज्ञानीजन इसी को निर्वेद का फल भी कहते हैं। कोई–कोई फल तत्कालीन होता है और कोई परम्परा से मिलता है। यहा तात्कालिक फल की चर्चा चल रही है, क्योकि फल जाने बिना मन्द लोग भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करते। अतएव यहा निर्वेद का तात्कालिक फल बतलाया गया है। निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना है। जब मन कामभोगो से निवृत्त हो जाये तो समझना चाहिए कि हमारे अन्दर निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

विद्याभ्यास करके ऊची उपाधि प्राप्त की जाती है। यद्यपि उच्च उपाधि पाप्त करने का उद्देश्य परम्परा से वकालत करना या डॉक्टर बनना वगैरह भी हो सकता है। किन्तु वकील या डॉक्टर बनना तो विद्या का पारम्परिक फल है। विद्या का तात्कालिक फल है–अविद्या का नाश होना, अज्ञान मिट जाना। अगर पढने मे श्रम किया जाये, फिर भी एक भी अक्षर पढते–लिखते न बने तो यही कहा जा सकता है कि इस दिशा मे किया गया पयत्न व्यर्थ गया। इसी पकार निर्वेद का तात्कालिक फल विषयभोगो की ओर से मन का हट जाना है। लेकिन ऊपर से वैराग्य दिखलाना और भीतर ही भीतर विषयलालसा को पुष्ट करना सच्चा निर्वेद या वैराग्य नही किन्तु ढोंग है।

सच्चा निवेद या वैराग्य तभी समझना चाहिये जब विषयो पर विरक्ति हो जाये तथा अन्तःकरण मे तनिक भी विषयो की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना है।

अन्य प्राणियो को कष्ट देना आरम्भ है और पर पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह है। यह आरम्भ और परिग्रह का सक्षिप्त अर्थ है। आरम्भ और परिग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती है जब विषयभोगो से मन निवृत्त हो जाये और विषयभोगो से मन तब निवृत्त होता है जब आरम्भ–परिग्रह का त्याग कर दिया जाये। आरम्भ–परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को स्वीकार करके भवभ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का पारम्परिक फल मोक्ष है और तात्कालिक फल विषयभोग से निवृत्ति है।

अब आप अपने विषय मे विचार कीजिए कि आप अपने जीवन मे निर्वेद उत्पन्न करना चाहते है या नही? आप किस उद्देश्य से यहा आये हैं? किसलिए साधु की सगति करते हैं? आत्मा को विषयभोगो से निवृत्त करने के लिए ही आप साधुओ की सगति करते हैं। साधु–सगति करने पर भी अगर आप विषयभोगो मे फसे रहे तो यही कहना होगा कि आपने नाम मात्र के लिए ही साधुओ की सगति की है। कहा जा सकता है, क्या यह सभव है कि साधु की सगति करने पर भी कोई विषयभोग मे फसे रहे? इसका उत्तर यह है कि कितनेक साधु भी विषयभोग मे फस जाते है, तो साधारण गृहस्थ की तो बात ही क्या है?

इसी भाति, साधु की सगति या सेवा करने से अमुक वस्तु मिलेगी, इस प्रकार की इच्छा अगर मन मे रही तो समझना चाहिए कि वह वास्तव मे साधु की सगति या सेवा नही वरन् पुद्‌गलो की सगति या सेवा हे। ऐसी दशा मे विषयभोगो मे अधिक फसना ही स्वाभाविक हे। साधु–सगति सच्ची तो तभी कही जा सकती हे, जब साधु के समागम से हृदय मे पुद्‌गल प्राप्ति की भावना उत्पन्न न हो, बल्कि प्राप्त पुद्‌गलो को छोडने की आन्तरिक प्रेरणा पेदा हो।

शास्त्र कहता है कि आरम्भ–परिग्रह ही समस्त पापो का कारण हे। अतएव साधु–सगति करके आरम्भ–परिग्रह से बचने का प्रयत्न करो, उलटे उसमे फसने की चेष्टा मत करो। अगर सासारिक पदार्थो को ज्ञान की दृष्टि से देखा जाये तो उनमे फसने की अभिलाषा ही न होगी। ससार के पदार्थ कामी पुरुषो के चित्त मे कामना उत्पन्न करते हे और ज्ञानी पुरुषो के मन म ज्ञान पेदा करते हैं। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये, एक वेश्या सिगार सजकर बाजार मे निकली है। प्रथम तो ज्ञानी पुरुष उसकी ओर दृष्टि ही नहीं करेगा। कदाचित् अचानक नजर चली जायेगी तो वह विचार करेगा–'इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ऐसा अनुपम सोन्दर्य प्राप्त हुआ हे। किन्तु

बेचारी मोह मे पडकर अपना इतना सुन्दर शरीर थोडे–से पैसो के बदले बेच देती है–जो चार पैसे देता है उसी को सौप देती है। यह कैसी मोहदशा है! अगर इसने अपना शरीर परमात्मा के पवित्र चरणो मे अर्पण कर दिया होता और धर्मध्यान किया होता तो क्या इसका कल्याण न हो गया होता?' इस पकार विचारकर ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान की वृद्धि करते है। किन्तु अज्ञानी पुरुष वेश्या को देखकर तरह–तरह के कुत्सित और मलीन विचारो मे डूब जाते है और पाप का उपार्जन करते है। इस प्रकार सासारिक पदार्थ ज्ञानियो का ज्ञान बढाते है और अज्ञानियो का अज्ञान बढाते है।

ज्ञानी पुरुष पदार्थ का मूल खोजते हैं। एक उपदेशक ने तो यहा तक कह डाला है कि अगर 'स्त्रियो को देखकर हम अपने हृदय मे उठने वाले खराब विचारो को नही रोक सकते तो ऐसी स्थिति मे अपने आखो को फोड डालना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है।' इस उपदेश के अनुसार घटित हुई घटना भी सुनी जाती है। कहा जाता है कि सूरदास ने इसी विचार से अपनी आखे फोड ली थी। इस प्रकार किसी भी वस्तु के विषय मे अगर ज्ञानपूर्वक विचार करने की क्षमता न हो तो उस वस्तु की ओर दृष्टि न देना ही उचित है। ऐसा करते–करते मोह कम हो जायेगा। वीतराग भगवान् किस चीज को नही देखते? उनकी दृष्टि मे सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है। इस विचार को सामने रखकर किसी भी पदार्थ को देखकर वीतराग का ध्यान करना चाहिये और व्यवहार के लिये उन पदार्थो की ओर से आख–कान फेर लेना चाहिये।

श्री ज्ञातासूत्र मे कहा है–सुकुमालिका ने ग्वालिका सती से कहा कि मै बडी ही दु खिनी हू, क्योकि मुझे कोई भी पुरुष नही चाहता। तुम गाव–गाव घूमती हो। ऐसा कोई उपाय जानती हो तो बताओ जिससे पुरुष मुझे चाहने लगे। सुकुमालिका की यह बात सुनकर ग्वालिका सती ने अपने कानो मे उगलिया डालकर कहा–'बहिन! उपाय बतलाना तो दूर रहा' मुझे ऐसी बात सुनना भी नही कल्पता। मै तो सिर्फ वीतराग–मार्ग का ही उपदेश दे सकती हू। सती की यह बात सुनकर सुकुमालिका सोचने लगी – 'वीतराग के मार्ग मे कोई विशेष चमत्कार होगा तभी तो यह सती कहती है कि मै वीतराग मार्ग का ही उपदेश दे सकती हू! मुझे कोई पुरुष नही चाहता तो न सही। धर्म तो सभी को स्थान देता है। मुझे भी देगा ही।' इस तरह विचार कर सुकुमालिका ने ग्वालिका सती से कहा– 'आपको उस मार्ग का उपदेश देना नही कल्पता तो वीतराग–मार्ग का उपदेश देना तो कल्पता ही है! मुझे उसी का उपदेश दीजिये। ग्वालिका सती ने उसे कैसा और क्या उपदेश दिया था यह निश्चित

रूप से नही कहा जा सकता, परन्तु ग्वालिका का उपदेश सुनकर सुकुमालिका इसी निश्चय पर आई कि अब किसी भी पुरुष को यह शरीर न सौंपकर सयम के सेवन मे ही इसे लगा देना उचित है।

कहने का आशय यह है कि ऐसी बाते सुनने का अवसर आये तब कान मे उगली डाल लेना ही उचित है। ऐसा प्रसग तुम्हारे सामने उपस्थित होता है या नही, यह तो मुझे मालूम नही, पर हम साधुओ के समक्ष तो बहुत बार ऐसे अवसर आते हैं।

प्रस्तुत सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन मे यहा तक सवेद और निर्वेद का विचार किया गया है। इन दोनो बोलो के सम्बन्ध मे जो कहा गया है, उसका सार यही है कि सवेग से निर्वेद उत्पन्न होता है और निर्वेद से धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। अर्थात् जिस व्यक्ति मे सच्चा सवेग होता है उसमे निर्वेद अवश्य होता है और जिसमे निर्वेद होता है उसमे धर्मश्रद्धा अवश्य होती है। इस प्रकार सवेग, निर्वेद और धर्मश्रद्धा मे पारस्परिक सम्बन्ध है। आगे सम्यक्त्वपराक्रम के तीसरे बोल के विषय मे विचार किया जाता है।

तीसरा बोल

धर्मश्रद्धा

प्रश्न – धम्मसद्धाए ण भते! जीवे किं जणयइ!

उत्तर – धम्मसद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाण विरज्जइ, आगारधम्म च ण चयइ, अणगारिए ण जीवे सारीरमाणसाण दुक्खाण छेयणभेयणसजोगाईण वोच्छेय करेइ, अव्वाबाह च सुहनिव्वत्तेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवान्! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर – धर्मश्रद्धा से माता और सुख मे अनुराग करने वाला जीव उससे विरक्त हो जाता है, गृहस्थधर्म का त्याग करता है और अनगार बन जाता है। अनगार बना हुआ जीव शारीरिक और मानसिक तथा छेदन, भेदन, सयोग आदि दु खो का नाश करता है और अव्याबाध सुख प्राप्त करता है।

व्याख्यान

उल्लिखित सूत्र मे धर्मश्रद्धा के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है। मगर धर्मश्रद्धा के फल पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि धर्मश्रद्धा क्या है? धर्मश्रद्धा का स्वरूप समझ लेने पर उसका फल समझना सरल होगा।

आजकल बुद्धिवाद का जमाना है। लोग धर्मश्रद्धा को बुद्धि की कसौटी पर चढाकर उसका पृथक्करण करना चाहते हैं। ऐसे बुद्धिवाद के युग मे धर्मश्रद्धा को दृढ करने के लिए और धर्मश्रद्धा का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रखने की आवश्यकता प्रकट करने के लिए धर्मश्रद्धा के विषय मे मै कुछ विस्तार के साथ विवेचन करना चाहता हू। यद्यपि अधिक समय न होने के कारण इस विषय पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता तथापि यथाशक्ति इतना कहने का अवश्य प्रयत्न करूगा कि धर्म क्या है? श्रद्धा क्या है? और धर्मश्रद्धा का जीवन मे स्थान क्या है?

धर्म क्या है? इस प्रश्न का अनेक महात्माओ ने अपनी-अपनी धर्मपुस्तको मे अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार समाधान किया है। इतना ही नही वरन् अब तक जो-जो महान् लोकोत्तर पुरुष हो गये हैं, उन्होने भी धर्म का ही उपदेश दिया है और धर्म का ही समर्थन किया है। वह लोकोत्तर पुरुष धर्म के कारण ही लोकोत्तर पुरुष के रूप मे प्रसिद्ध हुए हैं। इस अवसर्पिणीकाल मे हुए तीर्थंकरो को हम लोग धर्मजागृति करने के कारण ही पूजनीय मानते हैं। उन महापुरुषो ने धर्म का द्वार खोलने के लिए खूब पुरुषार्थ किया था। धर्म की जागृति करने के लिए ही उन्होने राजपाट तथा कुटुम्बीजनो का परित्याग किया था। विविध प्रकार के उपसर्ग, परिषह सहन किये थे और काम-सैन्य के साथ भीषण युद्ध करके काम-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके उन्होने जो केवल-ज्ञान प्राप्त किया था उसका उपयोग धर्मप्रचार द्वारा जनकल्याण करने मे किया।

जिन भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित सूत्र का श्रवण आप कर रहे हैं, उन भगवान् के जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो मालूम होगा कि धर्मोपदेश देने से पहले उन्होने क्या-क्या किया था? और किस समय उन्होने धर्म का उपदेश दिया था?

भगवान् महावीर पहले ही चार ज्ञान के स्वामी थे। उनका अवधिज्ञान इतना उज्ज्वल था कि माता के गर्भ मे रहते हुए ही वे जानते थे कि 'मैं पहले कहा था और कोन-कोनसा भव भोगकर यहा आया हू।' उनके अवधिज्ञान मे ऐसी-ऐसी वाते स्पष्ट रूप से प्रतिभापित होती थी। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। फिर भी उन्होने तत्काल धर्मोपदेश देना आरम्भ नही कर दिया था। सयम की परिपूर्ण साधना के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त होने पर ही उन्होने धर्मदेशना देना आरम्भ किया था। केवलज्ञान की दिव्यज्योति का लाभ होने पर जगत् के हित के लिए उन्हाने धर्म का मर्म जगत्

के जीवो के समक्ष उपस्थित किया था, जिससे उनकी वाणी मे किसी को किसी पकार के सन्देह की गुजाइश न रहे। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने साढे बारह वर्ष पर्यन्त घोर तप किया था और अनेक उपसर्ग सहे थे। केवलज्ञान पकट होने के पश्चात् हम लोगो के कल्याण के लिए भगवान् ने जो अमृतवाणी उच्चारी है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भगवान् ने हमारे कल्याण के लिए केवलज्ञान प्राप्त करके यह वाणी उपदेशी है। भगवान् अगर वाणी द्वारा हमे उपदेश न देते तो भी अपना कल्याण कर सकते थे। उपदेश न देने के कारण उनके आत्मकल्याण मे कोई बाधा उपस्थित होने वाली नही थी। अन्य मार्ग से भी वह अपना कल्याण साधन कर सकते थे।

केवलज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर लगभग 30 वर्ष तक वह धर्म का सतत उपदेश देते रहे। साढे बारह वर्ष तक मौनपूर्वक जिस धर्मतत्त्व का उन्होने मनन किया था, उसी धर्म का सार तीस वर्ष तक परिभ्रमण करके जनता को सुनाया। वह जनता का कल्याण करना चाहते थे। इस कथन का अर्थ यह न समझा जाये कि भगवान् को किसी के प्रति मोह या राग था। ससार के जीवो के प्रति उन्हे किसी प्रकार का मोह या राग नही था। भगवान् मोहहीन और वीतराग थे। मोह और राग को पूर्णतया जीते बिना केवलज्ञान पाप्त ही नही होता।

भगवान् ने किस प्रयोजन से धर्मदेशना दी, यह विचार बहुत विस्तृत है। अतएव सक्षेप मे यही कह देना बस होगा कि भगवान् ने केवलज्ञान प्रकट करने के पश्चात् जो उपदेश दिया वह जगत् के कल्याण के लिये है। उनके हृदयमे जीवो के प्रति एकान्त रूप से महान् भावकरुणा थी। भगवान् ने जगत् के जीवो को विविध प्रकार के दु खो से सतप्त देखकर, उन पर करुणा लाकर उन्हे दु खो से छुटकारा दिलाने के लिए वाणी का उच्चारण किया।

हृदय मे जब करुणाभाव जागृत होता है तो वह दूसरो का दु ख दूर

देने मे प्रवृत्त हुए थे। वह अपना कल्याण तो कर ही चुके थे और किसी जीव के प्रति उन्हे राग या मोह भी नही था, फिर भी ससार के दु खी प्राणियो पर भावकरुणा करके उन्होने वाणी उच्चारी थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि हमारे कल्याण के लिए ही भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया था। भगवान् की ऐसी पवित्रतम वाणी एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना कितने दुर्भाग्य की बात है।

साराश यह है कि जगत् के कल्याण के लिए ही भगवान् ने धर्मोपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र यह रत्नत्रय रूप धर्म ही सच्चा धर्म है। जैनधर्म तो इस रत्नत्रय को ही धर्म मानता है। भगवान् ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र रूप धर्म की जो प्ररूपणा की है, वह धर्म सब जीवो के कल्याण के लिए ही है।

धर्म के विषय मे यह व्याख्या सुनकर कोई कह सकता है कि आप धर्म को जीवो का कल्याण करने वाला प्रकट करके उसकी प्रशसा करते है, मगर यदि धर्म का इतिहास देखा जाय तो प्रतीत होगा कि धर्म के कारण जो अत्याचार और जुल्म किये गये हैं, वैसे शायद ही अन्य कारण किये गये हो। इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि धर्म के कारण बडे से बडे अत्याचार और घोर से घोर अन्याय किये गये हैं। ऐसी स्थिति मे जिस धर्म के कारण ऐसे अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं, उस धर्म की जगत् को क्या आवश्यकता है? कितनेक लोग दो कदम आगे बढकर इन्ही युक्तियो के आधार से यहा तक कहते नहीं हिचकते कि धर्म और ईश्वर का बहिष्कार कर देना चाहिए। उनका यह भी कथन है कि ससार मे यदि ईश्वर ओर धर्म न होता तो अधिक आनन्द–मगल होता। मगर ईश्वर ओर धर्म ने तो इतने जुल्म ढाये हे कि इतिहास के पन्ने के पन्ने रक्त से रगे हुये हे। हिन्दू, मुसलमान, बोद्ध, जेन, वेष्णव आदि के बीच धर्म के नाम पर बडे–वडे युद्ध लडे गये है ओर खूनखच्चर हुए हैं। धर्म के नाम पर ऐसे–ऐसे अनर्थ हुए सुने जाते हैं कि न पूछिए बात। इग्लैंड मे 'मेरी' नाम की एक रानी हो गई हे। उसमे धर्म का इतना अभिनिवेश था कि कदाचित् कोई ईसाई धर्म के विरुद्ध जीभ खोलता तो वह उसे जिदा ही आग मे होम देने मे सकोच नही करती थी। ओरगजेब ने भी धर्म के नाम पर अमानुषिक अत्याचार किया था। इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार, अन्याय, सितम, जुल्म किये गये ह। धर्म के कारण ही रामचन्द्रजी को अयोध्या का राज्य त्याग करके वन मे भटकना पडा था। धर्म के नाम पर ही रामचन्द्रजी ने सीता की अग्निपरीक्षा की थी। धर्म के कारण ही द्रोपदी को

वनवास स्वीकार करना पडा था। धर्म की बदौलत ही पाण्डवो को तरह–तरह की तकलीफे झेलनी पडी थी। धर्म के कारण ही दमयती को भी असह्य कष्ट सहन करने पडे थे। इस पकार धर्म के कारण सबको कष्ट सहने पडे थे।

इस पकार धर्म की निदा करते हुए लोग कहते हैं कि धर्म ने दुनिया को बहुत कष्ट दिया है। कुछ लोग इतने मे ही सतोष न मानकर धर्म और ईश्वर के बहिष्कार का बीडा बडे जोश के साथ उठा रहे है।

जो लोग धर्म और ईश्वर को इस पकार त्याज्य समझते है, उनसे जरा पूछा जाये कि ससार मे जो अन्याय, अत्याचार और जुल्म किया गया है, उसका वास्तविक कारण क्या है– धर्म, धर्मभ्रम या धर्मान्धता? अगर इस पश्न पर शान्ति के साथ तटस्थभाव से विचार किया जाये तो धर्म और धर्मभ्रम का अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। धर्म के नाम पर प्रकट किये जाने वाले भूतकालीन और वर्तमानकालीन अत्याचार और जुल्म धर्मभ्रम या धर्मान्धता के कारण ही हुए और हो रहे है। धर्म तो सदासर्वदा सर्वतोभद्र ही है। जहा धर्म है वहा अन्याय, अत्याचार पास ही नही फटक सकते। साथ ही जिस धर्म के नाम पर अन्याय एव अत्याचार होता है वह धर्म ही नही है। वह या तो धर्मभ्रम है या धर्मान्धता है! शास्त्र स्पष्ट शब्दो मे कहता है–

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा संजमो तवो

अर्थात् – अहिसा, सयम और तप रूप धर्म सदा मगलमय है, कल्याणकारी है। जो लोग जीवन मे धर्म की अनावश्यकता महसूस करते है, उन्होने या तो धर्म का स्वरूप नही समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम मे आकाश–पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिह की चमडी पहना दी जाये तो गधा कुछ सिह नही बन जायेगा। भले ही सिह–वेषधारी गधा थोडे समय के लिए अपने आपको सिह के रूप मे प्रकट [illegible] पर अन्त मे गधा गधा ही सिद्ध हुए बिना रहने का नही। इस प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाये

है और सोना, सोना है। लेकिन मिट्टी मे मिले सोने को सच्चा सुवर्णकार ही अलग कर सकता है। इसी प्रकार धर्म, धर्म हे और धर्मभ्रम, धर्मभ्रम है। मगर धर्मभ्रम मे मिले धर्म को शोधने का कार्य सच्चे धर्मशोधक का है। धर्म को जब धर्भभ्रम से पृथक कर दिया जायेगा तभी वह अपने उज्ज्वल रूप मे दिखाई देगा और तभी उसकी सच्ची कीमत आकी जा सकेगी।

जीवन मे धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, यहा तक कि धर्म के बिना जीवन–व्यवहार भी नही चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नही करते, उन्हे भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पडता है, क्योकि धर्म का आश्रय लिये विना जीवन–व्यवहार निभ ही नही सकता है। उदाहरणार्थ– पाच और पाच दस होते हैं, यह सत्य है और सत्य धर्म है। जिन्हे धर्म आवश्यक नही मालूम होता उन्हे यह सत्य भी अस्वीकार करना होगा। मगर क्या इसे स्वीकार किये बिना काम चल सकता है? मान लीजिए आपको कडाके की भूख लगी है। आपकी माता ने भोजन करने के लिए कहा। आप धर्म–विरोधी होने के कारण कहेगे– 'नही, मुझे भूख नही लगी है।' तो कब तक जीवन निभ सकेगा? धर्म के अभाव मे एक श्वास लेना भी कठिन है। ऐसा होने पर भी धर्म की जो निन्दा की जाती है, उसका एक कारण है– धर्म के नाम होने वाली ठगाई।

बहुत से लोग धर्म के नाम पर दूसरो को ठगते हैं, इसी कारण धर्मनिदको को धर्म की निन्दा करने का मौका मिलता है। अतएव हम लोगो को (साधु–आचार्यों को) सदेव इस बात का खयाल रखना चाहिए कि हमारे किसी भी व्यवहार के कारण धर्म की निदा न होने पाये। साधु–साध्वियो के साथ ही आप–श्रावको को भी अपने कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। धार्मिक कहलाते हुए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे परधन या परनारी का अपहरण करना धर्म की निदा करने के समान हे। अगर आप धर्म की निदा नही कराना चाहते तो एक भी कार्य ऐसा मत करो जिससे धर्म की निदा होती हो। धर्म की निदा या प्रशसा धर्मपालको के धर्मपालन पर निर्भर करती हे। हम और तुम अर्थात् साधु ओर श्रावक अगर दृढतापूर्वक अपने–अपने धर्म का पालन करे तो धर्म–निन्दको पर भी उसका असर हुए विना नही रह सकता। एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब वह भी धर्म का माहात्म्य समझगे ओर धर्म की निदा करने के वदले प्रशसा करने लगेगे।

पहले यह दलील दी गई हे कि धर्म की वदोलत सिर पर सकट आते हैं। इसका सक्षेप मे यही उत्तर दिया जा सकता हे कि कष्ट तो धर्म की

कसौटी है। हममे वास्तव मे धर्म है या नही, इस बात की परीक्षा कष्ट आने पर ही होती है। धर्म के कारण जिन्होने कष्ट उठाये है उनसे पूछो कि धर्म के विषय मे वह क्या कहते है? कदाचित् सीता से पूछा जाता 'रामचन्द्रजी ने तुम्हे अग्नि मे पवेश करने के लिए विवश किया, तो अब रामचन्द्रजी तुम्हे प्रिय है या नही?' तो सीता इस पश्न का क्या उत्तर देती? सीता कहती– रामचन्द्रजी ने मेरी अग्नि–परीक्षा करके मेरे धर्म की कसौटी की है। धर्म के पताप से मै अग्नि को शात करू, धर्म की निन्दा दूर करके धर्म की महिमा का विस्तार करू, इसी मे तो मेरे धर्म की सच्ची कसौटी है।

कहा जाता है कि धर्म के कारण ही रामचन्द्रजी को राज्य त्याग कर वनवास करना पडा था। मगर जिस धर्म के पालन के लिए रामचन्द्रजी को राज्य छोडना पडा था, वह धर्म उन्हे प्रिय लगा था या अप्रिय? अगर रामचन्द्रजी को धर्म पिय लगा था तो दूसरो को राम के नाम पर धर्म की निन्दा करने का क्यो अधिकार है?

नल–दमयन्ती और पाण्डवो वगैरह के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। मगर नल–दमयन्ती और पाण्डव आदि– जिन्होने कष्ट भोगे थे– जब धर्म को बुरा नही कहते तो फिर उनका नाम लेकर धर्म की निन्दा करने का किसी गैर को क्या अधिकार है? नल–दमयन्ती और पाण्डव वगैरह कष्टो को जब धर्म की कसौटी समझते थे, तो फिर इन्ही का नाम लेकर धर्म को बदनाम करना कहा तक उचित है! सत्य तो यह है कि धर्म किसी भी समय निन्दनीय नही गिना गया है। धर्म सर्वदा सर्वतोभद्र है। अतएव धर्मभ्रम या धर्मान्धता को आगे लाकर धर्म की निन्दा करना किसी भी प्रकार समुचित नही है।

धर्म का सम्बन्ध सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र के साथ है। जहा इनमे से एक भी नही है वहा धर्मतत्त्व भी नही है। जहा यह रत्नत्रय है वही सच्चा धर्म है। धर्मभ्रम या धर्मान्धता तो स्पष्टत धर्माभास है– अधर्म

भी नही करूगा। मैं थप्पड का वदला थप्पड से नहीं, प्रेम से दूगा। जिसके अन्त करण मे धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड का वदला थप्पड से देते हैं अथवा परधन और परस्त्री के अपहरण की चिन्ता मे दिन–रात डूवे रहते हैं वही लोग धर्म की निन्दा करते है।

दूसरो की वात जाने दीजिए, सिर्फ आप अपनी आत्मा से प्रश्न कीजिए– 'आत्मन्! तू धर्म की निन्दा करवाती हे या प्रशसा?' अगर आप धर्म की प्रशसा कराना चाहते है तो विचार कीजिए कि आपको कैसा व्यवहार करना चाहिए? आप भूलकर भी कभी ऐसा व्यवहार मत कीजिए जिससे धर्म की निन्दा हो। सदा ऐसा ही व्यवहार कीजिए जिससे धर्म की प्रशसा हो। इस प्रकार धर्मोदय का विचार करके सद्व्यवहार कीजिए। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने का परिणाम यह होता है कि साता वेदनीय कर्म उदय से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति वेराग्य उत्पन्न होता है और हृदय मे यह भावना प्रबल होने लगती है कि मैं अपने सुख के लिए किसी और को दु ख नही पहुचा सकता। मेरा धर्म ही दूसरो को सुख पहुचाना है। इस तरह विचार करके धर्मश्रद्धालु व्यक्ति भोगो से विरक्त रहेगा और दूसरो के सुख के लिए आप कष्ट सहन करेगा।

भर्तृहरि ने कहा है कि दृढधर्मी सत्पुरुप पराये हित के लिए स्वय कष्ट सहन करते हैं। लोग 'धर्म–धर्म' चिल्लाते हैं, मगर धर्म के इस मौखिक उच्चार से धर्म नही आ जाता। जीवन मे धर्म मूर्त्त स्वरूप तभी धारण करता है जव अपने सुख का बलिदान करके दूसरो को सुख दिया जाता हे ओर दूसरो को दु ख से बचाने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखो का भी परित्याग कर दिया जाता हे।

धार्मिक दृष्टि से, दूसरो से पेसा लेना अच्छा हे या दूसरो को पेसा देना अच्छा हे? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जायेगा कि पेसा देना अच्छा हे– लेना नही, लेकिन इस उत्तर को व्यवहार से सक्रिय रूप दिया जाता हे या नहीं, यह विचारणीय ह। व्यवहार मे तो हाय पेसा, हाय पेसा की ध्वनि ही सर्वत्र सुनाई पडती हे। फिर भले ही दूसरो का कुछ भी हा– वे चाहे जीयें या मरे। जब इस प्रवृत्ति मे परिवर्तन किया जाये ओर दूसरा क सुख म ही सुख मानने की भावना उदभूत हा आर अपने सुख के लिए दूसरे को दु ख देने की भावना बदल जाये, तब समझना चाहिए कि धर्मश्रद्धा का फल हम प्राप्त हो गया ह।

आज तो धर्म के विषय मे यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि और नव–निधि प्राप्त हो, वही धर्म है। अष्टसिद्ध और नव–निधि का मिलना ही धर्म का फल है। किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते है, वह इससे विपरीत है। शास्त्रकारो का कथन यह है कि धर्मश्रद्धा का फल सातावेदनीय के उदय से पाप्त होने वाले सुखो से विरक्त होना है।

अब आपको यह सोचना है कि आपको किस भावना से धर्म पर श्रद्धा रखनी है? अगर आपको अपना ही सुख, सासारिक सुख चाहिए तो यह दुनिया मे चला ही आ रहा है, मगर इस चाह मे धर्मश्रद्धा नही है। अगर आप धर्मश्रद्धा उत्पन्न करना चाहते है और धर्म का वास्तविक स्वरूप जानना चाहते है तो आपको सदैव यह उच्च भावना रखनी होगी कि– मै दूसरो को सुख देने मे ही प्रयत्नशील रहू। इस प्रकार की उच्च भावना टिकाये रखिये और इस भावना को मूर्त्त स्वरूप देने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त सुखो के प्रति उदासीन रहिए। अगर आपको यह भावना प्रिय लगती है तो उसे जीवन मे व्यवहृत करने के लिए प्रभु के प्रति यह प्रार्थना करो–

दयामय! ऐसी मति हो जाय!
भूले भटके उलटी मति के जो है जन समुदाय,
उन्हे सुझाऊ सच्चा सत्पथ निज सर्वस्व लगाय।।दया।।

अर्थात् – हे प्रभो! मेरी बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाये कि भान भूले हुए, भटके हुए या उलटी बुद्धिवाले मनुष्यो को देखकर मेरे हृदय मे घृणा या तिरस्कार उत्पन्न न हो वरन् ऐसा मैत्रीभाव पैदा हो कि अपना सर्वस्व लगाकर भी उसे सन्मार्ग पर लाऊ और उसका कल्याण करू। दूसरे को सुधारने के लिए अपना सर्वस्व होम देने वाले सत्पुरुषो के ज्वलन्त उदाहरण शास्त्र के पन्नो मे लिखे हुए है।

अर्जुन माली महापापी और अधर्मी था, लेकिन सुदर्शन सेठ ने उसका सुधार किया। शास्त्र मे इस बात का तो कोई उल्लेख नही मिलता कि सुदर्शन सेठ ने अपना कल्याण किस प्रकार और किस समय किया, लेकिन अर्जुन माली के विषय का उल्लेख शास्त्र मे अवश्य पाया जाता है। उसने उसी भव

सच्ची धर्मनिष्ठा हो तो अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न न हो।' इस प्रकार की उच्च भावना करके और अपने सर्वस्व का त्याग करके भी अर्जुन माली जैसे अधर्मी का उसने उद्धार किया। हालाकि सुदर्शन का सर्वस्व नष्ट नही हो गया, फिर भी उसने अपनी ओर से तो त्याग कर ही दिया था। जिस सुदर्शन ने अर्जुन माली जैसे अधर्मी का उद्धार किया था, उसने गृहस्थ होते हुए भी परमात्मा से यह प्रार्थना की थी कि – 'हे प्रभो! मेरे अन्त करण मे अर्जुन के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न न हो।' इसी सद्भावना के प्रताप से अर्जुन विनाशक के बदले उसका सेवक बन गया। सुदर्शन की सद्भावना ने अर्जुन माली जैसे नरघातक को भी सबका रक्षक बना दिया। क्या सद्भावना की यह विजय साधारण है?

जो सद्भावना आसुरी प्रकृति को भी दैवी बना सकती है, उस सद्भावना को अपने जीवन मे प्रकाशित करो तो आपका कल्याण अवश्य होगा। जहा ऐसी सद्भावना है वही सच्ची धर्मश्रद्धा है। इस प्रकार सद्भावना धर्मश्रद्धा की कसौटी है। सच्ची धर्मश्रद्धा को अपने जीवन मे जिसे प्राप्त करना है उसे दुर्भावना का त्याग कर इसी प्रकार की सद्भावना प्राप्त करनी चाहिए।

मूल प्रश्न है – धर्मश्रद्धा का फल क्या है? इस सबध मे थोडी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मगर इस विषय मे थोडा और विचार करना आवश्यक है। आज बहुत से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध मे गडबड मे पडे हुए हैं। कुछ लोगो ने समझ रखा है कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति अर्थात् सासारिक ऋद्धि–सिद्धि आदि मिलना है। पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धनी को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त हो जाये तो समझना चाहिए कि धर्म का फल मिल गया। ऐसा होने पर ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। जेसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती हे, पानी पीने से प्यास बुझ जाती हे, उसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकताओ की पूर्ति हो तभी धर्म पर श्रद्धा जाग सकती हे।

इस प्रकार धर्म से पुत्र–धन आदि की आशा रखनेवालो से शास्त्रकार कहते हैं कि तुमने अभी धर्म–तत्व समझा ही नही हे। कुम्हार जब मिटटी लेकर घडा बनाने बैठता हे तब वह मिट्टी मे से हाथी–घोडा निकलने की आशा नही रखता। जुलाहा सूत लेकर कपडा बुनने बेठता हे तो सूत मे से ताबा–पीतल निकलने की आशा नही रखता। किसान बडे परिश्रम से खेती करता है, मगर पौधो मे से हीरा–मोती निकलने की आकाक्षा नही रखता। कुम्हार, जुलाहा ओर किसान भी ऐसी भूल नही करते तो धर्मात्मा कहलान

वाले लोग धर्म से पुत्र या धन की प्राप्ति की आशा किस प्रकार रख सकते है? यह तो कुम्हार भी जानता है कि कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नही होती। जो जिसका कारण ही नही, उससे वह कैसे पैदा होगा? स्त्रिया जब भात पकाती है तो क्या बर्तन मे मोती पैदा हो जाने की बात सोचती है? ऐसा न सोचने का कारण यही है कि उन्हे पता है कि कारण होगा तो कार्य होगा, अन्यथा नही। इस पकार लोक मे कारण के विरुद्ध कार्य की कोई इच्छा नही करता तो फिर धर्म के विषय मे ही यह भूल क्यो हो रही है? जो धर्म ससार का कारण ही नही है उससे सासारिक कार्य होने की इच्छा क्यो की जाती है?

तो फिर धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने बतलाया है कि– 'धर्मश्रद्धा का फल ससार मे पदार्थो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सासारिक पदार्थो के प्रति रही हुई रुचि हट जाती है–अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति मे ससार के भोगविलास एव भोगविलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नही होते। लोग ध र्मश्रद्धा के फलस्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सासारिक पदार्थो के प्रति अरुचि जागना है। कहा तो सासारिक पदार्थो के प्रति निर्ममत्व और कहा सासारिक पदार्थो की चाह। धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहा तक उचित है? यह पहले ही कहा जा चुका है कि आजकल धर्म की जो अवहेलना हो रही है, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना है। लोगो को यह भी पता नही कि धर्म किस कार्य का कारण है? धर्म सम्बन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नही तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्त करण मे धर्मश्रद्धा है या नही, इस बात की परीक्षा करने का 'धर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'धर्मामीटर' द्वारा अपनी जाच कीजिए कि वास्तव मे आप मे धर्मश्रद्धा है या नही। अगर आपमे धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीयजन्य सुखो के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

सुखो के प्रति रुचि नही हो सकती। इस प्रकार जव सासारिक विषयभोगो के प्रति विरक्ति हो तो समझना चाहिए कि मुझ मे धर्मश्रद्धा है।

कहा जा सकता है कि, हम तो उसी को धर्म मानते हैं जो हमे अधिक से अधिक सुख प्रदान करे, सुखो के प्रति अरूचि उत्पन्न करने वाले को हम धर्म नही, अधर्म समझते हैं। उसे जीवन मे किस प्रकार स्थान दिया जा सकता है? आपके कहे धर्म से तो कोई सुख नही मिलता। इसके विपरीत विज्ञान द्वारा सभी प्रकार के सुख सुलभ हो जाते हैं। विज्ञान ने मानव–समाज को कितना सुखी बना दिया है? जिस जगह पहुचने मे महीनो लगते थे, वहा अब कुछ ही घटो मे वायुयान द्वारा पहुच सकते हैं। अमेरिका का गायन और भाषण घर बैठे–बैठे सुनना पहले क्या शक्य था? लेकिन विज्ञान की कृपा से आज वह सभी के लिए सुलभ हो गया है। जिस सुख और सुविधा की कल्पना भी नही की जा सकती थी, वही सुख आज विज्ञान की बदौलत प्राप्त हो रहा है। टेलीग्राफ, ग्रामोफोन, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक आविष्कार द्वारा कितनी सुविधाए हो गई हैं? इस प्रकार विज्ञान ने मनुष्य समाज के कितने दु ख दूर कर दिये हैं? जो विज्ञान हमे इतना सुख पहुचा रहा है उसे ही क्यो न माना जाये? कुछ भी सुख न देने वाले बल्कि प्राप्त सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले धर्म को मानने की अपेक्षा सब प्रकार की सुख सुविधाए देने वाले विज्ञान को ही उपास्य क्यो न माना जाए?

इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर वहुत–से लोग धर्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्व देते हैं। धर्म वस्तु का स्वभाव हे। अतएव जिस वस्तु मे जो स्वभाव हे, उचित कारण–कलाप मिलने पर अवश्य ही उसका प्राकट्य होता है। इस दृष्टि से विज्ञान को कोन नही मानता? परन्तु जो विज्ञान धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ ओर सकल सुखदाता माना जाता हे, वह वास्तव मे ही सुखदायक हे या दु खदायक? इस प्रश्न पर यहा विचार करना आवश्यक है। जिस विज्ञान ने जितनी सुख–सामग्री प्रस्तुत की हे, उसी विज्ञान ने सहारक–सामग्री भी उतनी ही उत्पन्न की हे। इस दृष्टि से गभीर विचार करने पर पता चलेगा कि विज्ञान की वदोलत सुख की अपेक्षा दु ख की ही अधिक वृद्धि हुई हे। विज्ञान का जव इतना विकास नही हुआ था तव राष्ट्र सुखी था या दु खी? विज्ञान ने मानव समाज का रक्षण किया या भक्षण? शान्ति प्रदान की है या अशान्ति? ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता हे कि विज्ञान ने सुख–साधन प्रदान किये हें। मगर विचारणीय तो यह हे कि इन सुख–साधनो ने राष्ट्र को सुख पहुचाया भी हे या नही? यही नही बल्कि

सुख के बदले दु ख तो नही पहुचाया? सावधानी से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि विज्ञान ने राष्ट्र को दु ख, दारिद्र्य और घोर अशान्ति की ही भेट दी है।

विज्ञान की सहारक शक्ति के कारण कोई भी राष्ट्र आज सुखी, शान्त या निर्भय नही है। सारा ससार आज भयग्रस्त और अशान्त है। ऐसी स्थिति मे विज्ञान का साक्षात् फल देखते हुए भी विज्ञान को सुखदायक किस पकार कहा जा सकता है? पहले जब कभी युद्ध होता था तो योद्धागण ही तलवारो से आपस मे लडते थे। लडने के उद्देश्य से जो सामने आता, उसी पर तलवार का प्रहार किया जाता था। मगर आज विज्ञान के अनुग्रह से युद्ध मे भाग न लेने वाले और शान्ति से घर मे बैठे हुए लोग भी बमो के शिकार बनाये जाते है। यह विज्ञान का ही आविष्कार है। बमगोलो की मार से अबीसीनिया और चीन देश के हजारो–लाखो नागरिको को जान–माल से हाथ धोना पडा है। विज्ञान की बदौलत वहा अमानुषिक और रोमाचकारी अत्याचार किये जा रहे है और विनाश का ताण्डवनृत्य हो रहा है। यह विज्ञान का आविष्कार या विनाश का आविष्कार है? ※ एक सज्जन ने मुझे बतलाया था कि एक ग्लास पानी मे विशेष प्रकार की वैज्ञानिक क्रिया–विक्रिया करने से ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो सम्पूर्ण लन्दन नगरी को थोडी ही देर

देश, विज्ञान के बल पर युद्ध करके राज्यलिप्सा को तृप्त करना चाहते हैं। इस कुत्सित लिप्सा के कारण ही मानव–सृष्टि के शीघ्र से शीघ्र सहार की शोध आज विज्ञान कर रहा है। इस प्रकार विज्ञान ही मानव–समाज की सस्कृति का विनाश करने के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है।

इस प्रकार आज विज्ञान का दुरुपयोग किया जा रहा है। अगर विज्ञान का दुरुपयोग न किया जाये तो वह धर्म और सस्कृति की रक्षा करने मे अच्छा सहायक बन सकता है। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी होता है, यह एक सामान्य नियम है। किन्तु प्राय देखा जाता है कि सदुपयोग बहुत कम मात्रा मे होता है और दुरुपयोग अधिक मात्रा मे। यही कारण है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु से विकास की अपेक्षा विनाश ही अधिक होता है। विज्ञान का अगर सदुपयोग किया जाये तो उससे मानव–समाज का बहुत कुछ कल्याण– साधन किया जा सकता।* आज तो विज्ञान धर्म और सस्कृति के ह्रास का ही कारण बना हुआ है।

ससार मे धर्म न होता तो दुनिया मे कितना भयकर हत्याकाड मच रहा होता, यह कल्पना भी दु खदायक प्रतीत होती है। मानव सस्कृति के होने वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र द्वारा – अहिसा द्वारा ही यह हिसाकाण्ड अटकाया जा सकता है। धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नही देता जो मानव सस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोश के साथ बढे चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो। जो धर्म आज दु खरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव मे सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही, जोविज्ञान वास्तव मे दु खरूप और विनाश के लिए आवश्यक हे। यह सत्य आज नही तो कल निकट भविष्य मे सिद्ध हुए बिना नही रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ मे न आए, मगर समय आप समझा देगा।

---

* सम्पूर्ण व्याख्यान को पढने से प्रतीत होगा कि आचार्य श्री का आशय है यह कि– विज्ञान का सदुपयोग होना उसी समय सभव है, जब धर्मभावना की प्रधानता हो और धर्म ही विज्ञान का पथ–प्रदर्शन करता हो। आज के वैज्ञानिक इस तथ्य को भूले हुए हे। उन्होने धर्म को नाचीज मानकर विज्ञान को ही सृष्टि का एकमात्र सम्राट बनाने की चेष्टा की हे। इसी कारण विज्ञान, विनाश का सहचर बन गया हे। जब धर्म को नेतृत्व मिलेगा और विज्ञान उसका अनुचर बनेगा तभी वह विश्वकल्याण का साधन बन सकेगा। धर्म जहा नेता होगा वहा विज्ञान के द्वारा किसी का विनाशा होना सभव नही, अन्याय और अत्याचार को अवकाश नही। धर्म के अभाव मे विज्ञान मनुष्य समाज के लिए विष ही बना रहेगा। धर्म का अनुचर बनकर वह अमृत बन सकता हे।

– सम्पादक

धर्म और विज्ञान पर विवेक दृष्टि के साथ विचार किया जाये तो धर्म की महत्ता समझ मे आये बिना नही रहेगी। जो लोग निष्पक्ष दृष्टि से देख सकते है और विज्ञान के कटुक फलो का विचार कर सकते है, उन्हे "धम्मो मगल" अर्थात् धर्म मगलकारी है, यह सत्य समझते देर नही लग सकती।

पाचीन काल मे वायुयान, टेलीफोन, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक साधन नही थे। फिर भी प्राचीनकाल के लोग अधिक सुखी थे या वैज्ञानिक साधनो वाले इस समय के लोग सुखी है? उस समय अधिक शान्ति थी या इस समय अधिक शान्ति है? वैज्ञानिक साधन न होने पर भी प्राचीनकाल का मनुष्य-समाज अधिक सुख और शान्ति भोगता था। यह किसके प्रताप से? धर्म के प्रताप से या किसी और के प्रताप से? आज लोग विज्ञान पर ऐसे मुग्ध हो रहे है कि उन्हे धर्म का नाम तक नही सुहाता। इसका एकमात्र कारण लोगो की मोहावस्था ही है। विज्ञान की उन्नति को देखकर ज्ञानीजन प्रसन्न ही होते हैं। वह सोचते है कि पहले अधिकारपूर्वक नही बतलाया जा सकता था कि विज्ञान शान्ति का सहारक है। कदाचित् बतलाया जाता तो लोगो को इस कथन पर प्रतीति न होती। मगर आज हमे प्रमाणपूर्वक कहने का कारण मिला है कि आजकल विज्ञान का इतना विकास होने पर भी और वैज्ञानिक साधनो की प्रचुरता होने पर भी क्या मानव-जीवन का अस्तित्व और सुख-शान्ति सुरक्षित है? इस प्रकार आज हम धर्म का महत्व प्रमाणित करने मे समर्थ हो सके है और प्रमाण-पुरसर कह सकते हैं कि 'धर्म ही सच्चा मगल है। धर्म ही अशरण का शरण है। धर्म मे ही मानव समाज की सुख-शान्ति सुरक्षित है।

कहने का आशय यह है कि धर्म का फल, विषय-सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है और जब विषयसुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न हो, समझना चाहिए कि हमारे अन्त करण मे धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।

कहा जा सकता है कि- हम तो यही सुनते आये हैं कि धर्म से स्वर्ग, इन्द्रपद चक्रवर्ती का वैभव आदि सुख-सामग्री प्राप्त होती है। मगर शास्त्र बतलाता है कि धर्म से विषयसुख के पति अरुचि उत्पन्न होती हैं। यह तो हमे

प्रत्येक कार्य का फल दो प्रकार का होता है – एक साक्षात् फल और दूसरा परम्परा का फल। शास्त्र मे दो प्रकार के फलो की जो कल्पना की गई है, वह निराधार नही है। धर्म के विषय मे भी इन दोनो प्रकार के फलो की कल्पना भुलाई नही जा सकती। धर्म से जो फल मिलने वाला है, वह तो मिलेगा ही, लेकिन तुम धर्म द्वारा ऐसे फल की आकाक्षा न करो कि धर्म से हमे साता–सुख की प्राप्ति हो। सासारिक सुखो के प्रति अरुचि ही धर्म के फलस्वरूप चाहो। इस प्रकार का विचार रखते हुए कदाचित् परम्परा फलस्वरूप इन्द्रपद भी मिल सकता है, किन्तु उसकी आकाक्षा मत करो। आकाक्षा धर्म का मैल है उससे धर्मभावना कलुषित हो जाती है और धर्म का प्रधान फल मिलने मे रुकावट होती है।

धर्म के प्रति लोगो को अश्रद्धा क्यो उत्पन्न होती है। इसका सामान्यत कारण यह है कि लोग जिस साता–सुख मे फस जाते हैं उन सुखो के पीछे रहे हुए विकारो को या दु खो को वह देखते नही और इसी कारण धर्म पर उनकी श्रद्धा नही जमती। अतएव सबसे पहले यह देखना चाहिए कि धर्म के द्वारा जो सुख–साता चाही जाती है, उसके पीछे सुख रहा हुआ है या दु ख? सासारिक सुखो के पीछे क्या छिपा हुआ है, यह देखने से प्रतीत होता है कि वहा एकात दु ख ही दु ख है। इस प्रकार दु ख की प्रतीति होने के फलस्वरूप धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी। यह बात विशेषतया स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए जिससे सब सरलतापूर्वक समझ सके।

एक नगर मे दो मित्र रहते थे। उनमे से एक मित्र धर्म पर श्रद्धा रखता था और सासारिक सुखो को दु खरूप मानता था। दूसरा मित्र ससार के भोगविलास को सुखरूप समझता था। पहला मित्र दूसरे को बार–बार समझाता था कि ससार मे एक भी ऐसी वस्तु नहीं जो दु खरहित हो तब दूसरा मित्र पहले से कहता 'भाई साहब! ससार मे उत्तम भोजन–पान, नाचरग ओर स्त्रीभोग मे जैसा सुख हे, वैसा सुख ओर कही नही हे।' इस प्रकार दोनो एक दूसरे को भूल बतलाया करते थे। अन्त मे एक बार पहले मित्र ने कहा– इसका निर्णय करने के लिए मै एक उपाय बतलाता हू। आप राजा के पास जाओ ओर उनसे कहो– 'मे आपको अमुक भेट दना चाहता हू। आप वह भेट लेकर दो घडी के लिए पाखाने मे बैठ जाइए।' 'क्या राजा तुम्हारी यह प्रार्थना स्वीकार करेगा?' दूसरे मित्र ने कहा– 'नही!' तब पहले मित्र ने प्रश्न किया 'राजा तुम्हारी प्रार्थना क्यो स्वीकार नही करेगा? क्या धन मे सुख नही ह?' दूसरे मित्र ने उत्तर दिया – 'धन मे सुख तो ह, फिर भी राजा एसी शर्त मजूर

नही कर सकता। वह तो उलटा मुझे मूर्ख बतलाएगा। वह कहेगा, कही इस भेट की खातिर पाखाने मे जाया जाता है! मै ऐसा करूगा तो दुनिया मूर्ख कहेगी।'

'राजा धन की भेट पाकर के भी जिस पाखाने मे बैठने के लिए तैयार नही होता, उसी मे बिठलाने का काम मैं सरलता से ही कर सकता हू।' यह कह कर पहला मित्र स्वादिष्ट चूर्ण तैयार करके राजा के पास ले गया। राजा को उसने चूर्ण बतलाया। राजा ने चूर्ण चखा। देखा कि चूर्ण स्वादिष्ट है तो उसकी तबीयत खुश हो गई। स्वादिष्ट होने के साथ चूर्ण मे एक गुण यह भी था कि उसके खाने से दस्त जल्दी और साफ लगता था। स्वादिष्ट होने के कारण राजा ने चूर्ण खा तो लिया, मगर उसके खाने के थोडी ही देर बाद उसे शौच जाने की हाजत हुई। राजा उठकर पाखाने मे जाने लगा। तब चूर्णवाले मित्र ने कहा– 'महाराज! विराजिये, कहा पधारते हैं?' राजा बोला– 'पाखाने जाना है।' उसने उत्तर दिया 'महाराज! पाखाना कैसा दुर्गन्धवाला स्थान है! आप महाराज है, सुगधमय वातावरण मे रहने वाले हैं। फिर उस सडनेवाले पाखाने मे क्यो पधारते हे?' राजा ने कहा– 'तू तो महामूर्ख मालूम होता है। दुर्गन्ध के बिना कही काम भी चलता है? शरीर का ऊपरी भाग कैसा ही क्यो न हो, मगर इसके भीतर रक्त, मास आदि जो कुछ है वह सब तो दुर्गन्धवाला ही है। इसी दुर्गन्ध के आधार पर शरीर टिका हुआ है।' यह सुनकर पहले मित्र ने कहा– ठीक है। जब आप पाखाने मे गये बिना रह ही नही सकते तो आपसे कुछ अधिक कहना बेकार ही है।

हुए हैं। धर्म के प्रति श्रद्धा न होने के कारण ही लोग विज्ञान पर मोहित हो रहे है। मगर जब धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी तब ससार के समस्त पदार्थों पर अरुचि उत्पन्न हो जायेगी। साप को पकडने की इच्छा तभी तक हो सकती है, जब तक यह मालूम न हो जाये कि इस साप मे विष है। साप ऊपर से कोमल दिखाई देता है मगर उसकी दाढ मे विष भरा होता है। इसी कारण लोग उससे दूर भागते हैं। साप मे विष न होता तो उसकी कोमलता देखकर लोग उसे गले का आभूषण बना लेते। मगर विष होने के कारण कोमल होने पर भी उसे कोई हाथ मे लेना नही चाहता। इसी तरह जब तक धर्म पर श्रद्धा नही होती, तब तक मालूम नही होता कि साता–सुख मे कैसा दु ख छिपा हुआ है। धर्मश्रद्धा उत्पन्न होते ही साता–सुख मे दु खरूपी विष का पता चलता है। तब उसके प्रति स्वभावत अरुचि पैदा हो जाती है। इस तरह जब साता–सुख मे रुचि न रहे तब समझना चाहिए कि हम मे धर्मश्रद्धा है। सभी जानते हैं कि शरीर मे दुर्गन्ध है और दुर्गन्ध के आधार पर ही शरीर की स्थिति है। फिर भी कोई दुर्गन्ध पसन्द नही करता। जब दुर्गन्ध पसन्द नही है तो दुर्गन्ध के घर इस शरीर पर क्यो ममत्व रखा जाता है? कहावत है–

पगिया बाधे पैच सवारे, फूले गोरे तन मे।
धन जीवन डूंगर का पानी, ढलक जाय इस छन मे।
मुखडा क्या देखे दर्पण मे, तेरे दयाधर्म नही मन मे।

अर्थात् – अपना सुन्दर शरीर देखकर लोग फूल जाते हे। उसे अधिक सुन्दर बनाने के लिए पगडी–टोपी सवारकर पहनते है। भाति–भाति के सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं और फिर अपने सोन्दर्य की परीक्षा के लिए दर्पण मे मुख देखते हैं। मगर ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि जिस शरीर को तेल–इत्र लगाया जाता है, वह किस क्षण नष्ट हो जायेगा, इसका क्या भरोसा हे? जेसे पहाड पर बरसा पानी क्षणभर मे नीचे आ जाता हे उसी प्रकार यह 'तनरग पतग सरीखो जाता वार न लागेजी' कथन के अनुसार धन–योवन–रूपरग वगैरह पलभर मे समाप्त हो जाते हैं। अतएव जगत के जीवो! दर्पण मे मुखडा क्या देखते हो! दयाधर्म के पालन से तुम्हारी आत्मा की कितनी शोभा वढ सकती है, यह वात ज्ञानरूपी दर्पण मे देखो! इनसे तुम्हारा कल्याण हो सकता हे।

शास्त्र की जो चर्चा चल रही हे वह हितकारी सरल ओर सुलभ है। इस धर्म–चर्चा का विरोधी कोई नही हो सकता। आप किसी भी विरक्त महात्मा के पास जाइए वह आपको ससार से विरक्त होने का ही उपदेश दगे।

आप भी स्वय ससार के पदार्थो का मूल खोजो और उसे खोजकर वैराग्य धारण करो। शरीर ऊपर से कितना ही सुन्दर दिखाई देता हो, लेकिन यह देखो कि उसमे कितना विकार भरा है। जो नाक सुन्दरता की जड समझी जाती है, उसे काटकर हथेली मे लो तो कैसी बुरी मालूम होगी। जैसे शरीर ऊपर से अच्छा मालूम होने पर भी भीतर से खराब है और ऊपर से देखने वाले उस पर मुग्ध हो जाते है, उसी प्रकार विषयभोगो मे भी विचार भरा हुआ है, लेकिन ऊपरी विचार करने वाले उन पर मोहित हो जाते हैं। अन्त करण मे जब धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी तो सासारिक सुखो के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा और जब वैराग्य होगा तो सासारिक पदार्थो के प्रति अरुचि उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी।

धर्मश्रद्धा का क्या फल मिलता है, यह प्रश्न चल रहा है। इस प्रकार के उत्तर मे भगवान् ने कहा है –

धम्मसद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जई, आगारधम्मं च ण चयइ, अणगारिए ण जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसजोगाईणं वोच्छेय करेइ, अव्वाबांह च सुह निव्वत्तेइ,

धर्म कोई आजकल की नई चीज नही, अनादिकालीन है। मगर इस धर्म का भान आपको अब तक क्यो नही हुआ? इसका कारण यही है कि आपको धर्म पर श्रद्धा नही है। धर्म पर श्रद्धा होती तो धर्म का भान हुए बिना न रहता। ससार मे अनेक पुस्तके है, लेकिन उनका ज्ञान आपको क्यो नही है? कारण यही है कि आपने उनका अध्ययन नही किया। पुस्तको की मौजूदगी से ही कोई विद्वान नही हो जाता। क्षयोपशम के अनुसार पुस्तको

सासारिक लोग सासारिक पदार्थों के प्रति तीव्र ममत्वभाव रखते है। सासारिक पदार्थ तो आत्मा को अपना नही मानते, मगर आत्मा उन पदार्थों को अपना मानता है। इसी भूल के कारण आत्मा अव तक मोक्ष नही पा सका है। उदाहरणार्थ अपनी इच्छा न होने पर भी काले वाल सफेद हो जाते हे। जिनके वाल सफेद हो गये हैं उन्होने भी कभी वाल सफेद हो जाने की इच्छा नहीं की थी। फिर भी वह सफेद हो गये। इतने पर भी मनुष्य वालो को अपना समझता है। इसी प्रकार पुद्गल तो आपको अपना नही मानते। मगर आप पुद्गलो को अपना मानते हैं। इस भूल का कारण यही है कि आपको धर्म पर श्रद्धा नही है। धर्मश्रद्धा होती तो पुद्गलो के प्रति अरुचि होती और पुद्गलो के प्रति अरुचि होती तो आप परमात्मा की प्रार्थना करने योग्य बन जाते। परमात्मा की प्रार्थना करने के योग्य बनने के लिए सर्वप्रथम पौद्गलिक पदार्थों पर से ममत्व उतारने की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न करना अनिवार्य है।

कहा जा सकता है कि लोग 'धर्म–धर्म की पुकार करते रहे, मगर वास्तव मे धर्म है कैसा? धर्म क्या लाल, पीला, काला या किसी और रग का है? वह सुगन्धवाला है या दुर्गन्धवाला है?' इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि धर्म इनमे से किसी प्रकार का नही है। वह तो अरूपी हे। पुन प्रश्न किया जा सकता है कि धर्म यदि अरूपी है तो उसे किस प्रकार स्वीकार किया जाये? इस प्रश्न का यही उत्तर दिया जा सकता है कि धर्म अरूपी है, फिर भी उसकी आवश्यकता हे। अरूपी होने पर भी धर्म की किसलिए और किस प्रकार आवश्यकता हे यह वात यहा वतलाना हे।

ससार के पदार्थों मे कोई स्थूल होता हे और कोई सूक्ष्म होता हे। मगर देखना चाहिए कि स्थूल वस्तु से काम चलता हे या सूक्ष्म से? यहा स्थूल ओर सूक्ष्म का अभिप्राय यह हे कि जो वस्तु आखो से दिखाई दे सके वह स्थूल हे और दिखाई न दे सके वह सूक्ष्म हे। अपने शरीर मे भी सूक्ष्म ओर स्थूल दोनो प्रकार की वस्तुए मोजूद हें। मगर भूल तो तव होती हे जब मनुष्य स्थूल वस्तुओं पर ललचा जाता हे ओर सूक्ष्म वस्तुओ को भुला देता हे। परन्तु वास्तव मे स्थूल वस्तु, सूक्ष्म के सहारे ही रही हुई हे ओर सूक्ष्म वस्तु के विना तनिक भी काम नही चल सकता।

कल्पना कीजिए, स्थूल शरीर मे से सूक्ष्म प्राण निकल जाये तो स्थूल शरीर किस काम का रहेगा? किसी मृत स्त्री का शव वस्त्राभूपणा से अलकृत कर दिया जाये तो भी क्या किसी पुरुप का वह आकर्पित कर सकेगा? स्त्री

का स्थूल शरीर तो जैसा का तैसा सामने पडा है। सिर्फ सूक्ष्म प्राण उसमे से निकल गये हैं। इसी कारण उसे कोई स्पर्श भी नही करना चाहता। इस प्रकार स्थूलता, सूक्ष्मता के आधार पर ही स्थिर है। अतएव सूक्ष्मता की सर्वप्रथम आवश्यकता है पर जब तुम सूक्ष्म आत्मा को पहचानोगे तो परमात्मा को भी पहचान सकोगे। आत्मा सूक्ष्म है, फिर भी वही सब से अधिक प्रिय है। दूसरी जो वस्तुए पिय लगती है वह भी आत्मा के लिए ही प्रिय लगती है। सूक्ष्म आत्मा न होती तो स्थूल वस्तु किसी को भी प्रिय न लगती। मुर्दा को आभूषण पहना दिये जाए तो चाहे पहनाने वाले को आनन्द प्राप्त हो, मगर मुर्दा को किसी प्रकार का आनन्द नही हो सकता। मुर्दे को आनन्द क्यो नही मिलता? इसलिए कि उसमे से सूक्ष्म आत्मा निकल गया है। स्थूल शरीर तो सामने पडा ही है, मगर सूक्ष्म आत्मा नही है। यह बात ध्यान मे रखकर तुम मुर्दा जैसी स्थूल वस्तु पर क्यो मुग्ध होते हो? तुम जीवित हो तो जीवित वस्तु अपनाओ अर्थात् सूक्ष्म आत्मा को देखो। स्थूल वस्तु पर मुग्ध मत बनो।

पर परिणामिकतायता छे जे पुद्गल तुझ योग हो मित्त,
जड चल जगनी एठणी न घटे तुझने भोग हो मित्त।
वयो जाणु क्या बनी आवशे अभिनन्दन रस रीति हो मित्त,
पुद्गल–अनुभव त्याग थी करवी तस परतीति हो मित्त।

कोई कह सकता है – आप हमे परमात्मा की भक्ति करने का उपदेश देते है पर हम परमात्मा की प्रीति–भक्ति किस पकार कर सकते हैं? हमारा आत्मा कर्मलिप्त है और परमात्मा पवित्रात्मा है। इस प्रकार हम उस सच्चिदानन्द को किस तरह भेट सकते है?

कोई मनुष्य शरीर पर अशुचि धारण कर ले तो वह राजा से मिल सकता है? कदाचित् ऐसा गन्दा आदमी राजा से मिलने की इच्छा करे तो क्या राजा उससे मिलना चाहेगा? कदाचित् राजा भी ऐसे आदमी से मिलना चाहे तो क्या उस आदमी की राजा से मिलने की हिम्मत हो सकेगी? इसी प्रकार हमारा आत्मा कर्मो से मलीन है। इस अवस्था मे हम पवित्र और सच्चिदानन्द परमात्मा से किस पकार मिल सकते है? इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजन

अवश्य होता है। परमात्मा से मिलने का शौक किस प्रकार पैदा हो सकता है, इस विषय मे कहा गया है कि पर–पदार्थो का त्याग कर दो। जो तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य नही करते वह सब पर–पदार्थ हैं। जब तक पर–पदार्थो के प्रति ममता का भाव विद्यमान रहता है तब तक परमात्मा से मिलने का शौक पैदा नही होता और जब तक परमात्मा से मिलने का शौक ही उत्पन्न नही होता तब तक परमात्मा से भेट हो ही कैसे सकती है? तुम शरीर पर ममत्व रखते हो परन्तु शरीर तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं। इस शरीर के पीछे कैसे–कैसे दु ख लगे हुए हैं? क्या तुम वह दु ख चाहते हो? नही। तो फिर शरीर पर ममता क्यो रखते हो? शरीर पर ममता रखने के कारण ही शारीरिक दु ख उठाने पडते है। शरीर के पीछे कैसे–कैसे दु ख लगे है, इस बात का वर्णन करते हुए कहा गया है –

जम्मदुक्ख जरादुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हि ससारो जत्थ किच्चइ जतुणो।।

–उत्तराध्ययन, 1–16

अर्थात्–जन्म दु खरूप है, जरा दु खरूप है, रोग तथा मरण दु खरूप हैं। अरे यह ससार ही दु खरूप है, जहा जीव दु ख पाते हैं।

शरीर जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु आदि से घिरा है। शरीर का यह स्वरूप जानते हुए भी इसे अपना मानना कितनी बडी भूल है। तुम जिस शरीर पर ममत्व रखते हो, उस शरीर को टिका रखने मे समर्थ हो? तुम्हारे–हमारे शरीर की तो बात ही क्या है! जिनके शरीर की रक्षा दो–दो हजार देव–करोड चक्रवर्तियो की शक्तिवाला एक–एक देव होता है–करते हें, उनका शरीर भी सुरक्षित नही रह सका! सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के शरीर मे जब रोग उत्पन्न हुए तो क्या देव भी उसे बचा सके थे? रोगो से सुरक्षित रख सके थे? जब देव भी शरीर की रक्षा करने मे ओर शरीर टिकाये रखने मे सहायक न हो सके तो दूसरो से क्या आशा की जा सकती हे? ओर इस तरह शरीर भी जव तुम्हारा नही रह सकता तो अन्य पदार्थ तुम्हारे किस प्रकार रह सकेगे?

ससार के स्थूल पदार्थ पुद्‌गलो से बने हे। गलना, सडना, नप्ट होना ओर विखर जाना पुद्‌गलो का स्वभाव हे। पुछ्‌गलो का स्वभाव जड ओर चल है। यह जड पदार्थ ससार की जूठन ह। मकोडे गुड की भेली खा जाए ओर उसके स्थान पर हग जाए तो क्या वह गुड खाने की आपकी इच्छा होगी? नही। आप यह बात तो समझते ह मगर अन्य पुद्‌गलो के विषय मे भी यह बात समझ लीजिए। क्या ससार मे कोई पुदगल ऐसा हे जो अब तक किसी

के उपभोग मे न आया हो? अगर कोई भी पुद्‌गल ऐसा नही है तो पुद्‌गल को ससार की जूठन क्यो न कहा जाये? पुद्‌गल मात्र दुनिया की जूठन है। इस जूठन के उपयोग की इच्छा क्यो करते हो? जब तुम पुद्‌गलो के गलन-स्वभाव की बात समझ जाओगे तब सासारिक पदार्थो के प्रति तुम्हे स्वभावत अरुचि, विरक्ति उत्पन्न हो जायेगी और जब सासारिक पदार्थो के पति विरक्ति हो जायेगी तो परमात्मा के साथ अवश्य भेट होगी। अतएव अगर परमात्मा से भेट करने की इच्छा हो तो सासारिक पुद्‌गलो पर से ममता का भाव त्याग दो।

पुद्‌गल लोभी जीवा, जेने जग्या न अन्तर दीवा।

जो जीव पुद्‌गलो का लोभी बनकर उनके ममत्व मे पडा रहता है, उसके हृदय मे परमात्मा से मिलने की भावना नही जागती। पौद्‌गलिक पदार्थो की खोज करते-करते जब 'नेति-नेति अर्थात् यह वह नही है', ऐसा कहकर छोडते जाओगे तभी परमात्मा का साक्षात्कार होगा। वेदान्तस्तोत्र मे कहा है –

हित्वा हित्वा दृश्यमशेष सविकल्पं,
मत्वा श्रेष्ठं भादृशमात्र गगनाभम्।
त्यक्त्वादेह चानुप्रविशन्त्यच्युभक्त्या,
त ससारध्वान्तविनाश हरिमीडे।।

इस स्तोत्र का भावार्थ यही हो सकता है कि परमात्मा से भेटने का सरल मार्ग यह है कि पौद्‌गलिक पदार्थो को यह कहकर छोडते जाओ कि – यह परमात्मा नही है। तुमने आत्मा को पौद्‌गलिक इच्छा का जो वेष पहना दिया है वह वेष उतार कर फेक दो। तुम पुद्‌गलो की इच्छा न करो उल्टा ऐसा विचार करो कि पुद्‌गलो का भोग करना मेरे लिए योग्य नही है। क्योकि पौद्‌गलिक पदार्थ जड नाशवान् और जगत् की जूठन के समान हैं। पौद्‌गलिक पदार्थो का यह स्वरूप समझ मे न आने के कारण ही उनके प्रति ममत्व भाव

वह दिखाई नही देता। फिर भी प्राण के समान उसकी आवश्यकता है। जब धर्म की आवश्यकता है तो उसे जीवन मे उतारने के लिए श्रद्धा की भी आवश्यकता है। धर्मश्रद्धा जागृत होने पर सासारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति हो जाती है। इस विरक्ति से क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि सासारिक पदार्थो पर विरक्ति होने से मनुष्य गृहस्थधर्म का त्याग कर अनगारधर्म स्वीकार कर लेता है।

सूत्र मे प्रत्येक बात की सूचना मात्र की जाती है। यह सूचना हृदय मे जितनी फैलाई जाये, उतना ही अधिक प्रकाश मिलता है। सूर्य एक ही है, मगर उसका प्रकाश इतना फैला होता है, उसी प्रकार सूत्र के शब्द भी जीवन मे अपार प्रकाश डालने वाले है। अतएव सूत्र मे कही हुई इस बात पर भी विस्तारपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने से हृदय मे सासारिक पदार्थो के प्रति अरुचि और विरक्ति की उत्पति होती है ओर विरक्ति उत्पन्न होने से आगारधर्म का त्याग कर अनगारधर्म स्वीकार किया जाता है। विरक्त पुरुष सासारिक वन्धनो का त्याग कर देता है। धर्मश्रद्धा से वेराग्य होगा ओर वैराग्यवान् पुरुष अनगार वन जाएगा। इस प्रकार धर्मश्रद्धा का फल तो अनगारिता को स्वीकार करता है। लेकिन आजकल तो कुछ लोगो को धर्म का नाम तक नही सुहाता। ऐसी स्थिति मे यह किस प्रकार कहा जा सकता हे कि लोगो मे धर्मश्रद्धा होती हे उन्हे सासारिक पदार्थों के ऊपर वेराग्य होता हे ओर जिन्हे वेराग्य होता हे, वह अनगारिता स्वीकार कर लेते हे। आप मे से किसी को मिट्‌टी के वदले सोना मिलता हो तो आप उसे लेते देर लगाएगे? नही। इसी प्रकार जिसके अन्त करण मे धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी ओर जिसे सासारिक पदार्थों पर विरक्ति हो जायेगी वह अनगारिता स्वीकार करने मे विलम्ब नही लगाएगा। वास्तव मे दीक्षा का पात्र वही है, जिसका मन ससार से विरक्त हो गया हो। जिसका मन सासारिक पदार्थों मे अनुरक्त हे वह दीक्षा का पात्र नही हे, ऐसा समझ लेना चाहिए।

अनगारधर्म स्वीकार करने के पश्चात् मजा--मोज नही लूटी जाती। वरन् भगवान् आज्ञा का पालन करना पडता हे। 'एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो' ऐसी आज्ञा भगवान् ने साधुआ को दी। कदाचित गृहस्थ अपने गृहस्थ होने का वहाना करके भगवान की आज्ञा से दूर भी हा सकत हा मगर हम साधु तो उनकी आज्ञा पालने के लिए ही उनके सनिक वने हैं। कितना ही उत्सर्ग क्यो न करना पडे हम तो भगवान की आज्ञा का पालन करना ही

चाहिए। जब युद्ध चल रहा हो तो दूसरे लोग भले ही भाग जाए, मगर यदि सैनिक ही युद्ध से भाग गये तो उन्हे क्या कहा जायेगा? इसी प्रकार हम साधु तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए निकले है। हमे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी ही चाहिए।

कहने का आशय यह है कि धर्मश्रद्धा जागृत होने पर सासारिक पदार्थो पर वैराग्य आ ही जाता है। जिसे वैराग्य आ जाता है वह अनगारधर्म को स्वीकार करता है। और जिसने वैराग्य-पूर्वक अनगारधर्म स्वीकार किया है वही पुरुष अनगारधर्म का भलीभाति पालन कर सकता है।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र मे पालित श्रावक का वर्णन आता है। उसमे कहा है – पालित श्रावक था और जैनशास्त्रो का ज्ञाता था। वह व्यापार के लिए समुद्रयात्रा भी करता था। एक बार समुद्र यात्रा करता-करता पिहुड नामक नगर मे आया। वहा पालित को बुद्धिमान और व्यापारकुशल समझ कर एक गृहस्थ ने अपनी कन्या के साथ विवाह कर दिया।

इस प्रकार विदेश मे किसी की कन्या के साथ श्रावक का विवाह हो सकता है? अगर कोई ऐसा करता है तो क्या वह जैन कहला सकता है? मगर पहले के लोग आजकल के लोगो की भाति सकुचित विचार के नही थे। आज तो जाति के नाम पर निकम्मे बन्धन खडे किये गये है। प्राचीनकाल मे ऐसे बधन नही थे। उस समय तो वर-कन्या की योग्यता और समानता देखी जाती थी। आज यह देखा जाता है कि वर के पास धन है या नही? अगर धन हो तो क्या साठ वर्ष का धनिक वृद्ध भी छोटी-सी कन्या के साथ विवाह करने को तैयार होता नही देखा जाता? यह क्या कन्या के ऊपर अत्याचार-अन्याय नही है? लोकलज्जा के कारण या किसी अन्य कारण से मुझे इस विषय मे कुछ कहते सकोच होता होगा लेकिन समाज का अन्न ग्रहण करने के कारण मुझे समाज के हित के लिए बोलना ही पडेगा। इसलिए मै तुमसे कहता हू इस पकार के वृद्ध-विवाह, अयोग्य-विवाह और बाल-विवाह आदि समाजनाशक विवाहो को प्रत्येक उचित उपाय से रोको। समाज मे इस प्रकार के जो अन्याय हो रहे है उन्हे अगर तुम नही ही

पालित श्रावक का विवाह अन्तर्देशीय (परदेशीय) और अन्तर्जातीय (परजातीय) कन्या के साथ हुआ। कुछ समय पश्चात् अपनी उस नवविवाहिता पत्नी को लेकर समुद्रमार्ग से पालित अपने घर की ओर रवाना हुआ। पालित की वह पत्नी गर्भवती थी। उसने समुद्र के अन्दर जहाज मे ही पुत्र का प्रसव किया।

आज के लोग कहते हैं कि आधुनिक जहाजो मे ही इस प्रकार की सुविधाए होती हैं, मगर पुराने वर्णनो से प्रतीत होता है कि उस समय भी जहाजो मे कितनी सुन्दर सुविधाए होती थीं। प्रसवकाल अत्यन्त कठिन होता है। लेकिन प्राचीनकाल के लोग जहाज मे भी उस स्थिति को सभालने मे समर्थ होते थे।

पालित का पुत्र समुद्र मे जन्मा, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रख गया। पालित अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर घर पहुचा। पालित ने समुद्रपाल को बहत्तर कलाओ मे पण्डित बनाया।

वही सच्चे माता–पिता हैं जो अपनी सतानो को कलाशिक्षण के द्वारा शिक्षित और सस्कारी बनाते हैं। कहावत है –'काचा सूत जैसा पूत।' अर्थात् बालक कच्चे सूत के समान हैं। जैसा बनाना हो वैसे ही वह बन सकते है। आप वस्त्र पहनते हैं, किन्तु वस्त्र की जगह यदि सूत लपेट लो तो क्या ठीक कहलाएगा? नही। इसी प्रकार बालक कच्चे सूत के समान हैं। जैसा चाहो, उन्हे वैसा ही बना लो। अगर आप बालक को जन्म देकर ही रह गये और उन्हे सस्कारी नहीं बनाया तो वे कच्चे सूत की तरह ही निकम्मे रह जाएगे।

प्राचीनकाल के लोग अपने बालक को बहत्तर कला के कोविद और शास्त्र मे विशारद बनाते थे। ऐसा करके वह माता–पिता की हेसियत से अपना कर्त्तव्य पूरा करते थे। लेकिन आज कितने मा–बाप ऐसे ह जो अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन करते है? पहले के लोग अपनी सन्तान को, जीवन की आवश्यकताए पूर्ण करने के लिए, बहत्तर कलाए सिखलाते थे। मगर आज कितने लोग हे जो अपने ही जीवन की आवश्यकताए पूर्ण कर सकते हें? आज मोटर मे बेठकर मटरगश्त करने वाले तो हें मगर एस कितन हें जो स्वय मोटर बना सकते हो या मोटर सुधार भी सकते हा? जो मनुष्य स्वय किसी चीज का बनाना नही जानता, वह उसक लिए पराधीन हे। आप भोजन करते हें पर क्या भोजन बनाना भी जानते ह? अगर नही जानत ता क्या आप पराधीन नहीं हें? पहले बहत्तर कलाए सिखलाई जाती थी उनम अन्नकला भी थी। अन्नकला के अन्तर्गत यह भी सिखलाया जाता था कि अन्न किस प्रकार पकाना आर खाना चाहिए?

लोग कहते हैं कि जैनशास्त्र सिर्फ त्याग ही बतलाता है, लेकिन जैनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट दिखाई देगा कि जैनशास्त्र जीवन को दुखी नही वरन् सुखी बनाने का राजमार्ग प्रदर्शित करता है। जैनशास्त्र बतलाता है कि जीवन किस प्रकार सास्कारिक और सुखमय बनाया जा सकता है और किस प्रकार आत्मल्याणसाधन किया जा सकता है?

समुद्रपाल युवक हुआ। पालित ने योग्य कन्या के साथ उसका विवाह कराया। आज के लोग अपनी सतान का विवाह छुटपन मे गुडिया–गुड्डा की भाति करा देते है। वृद्धविवाह की अपेक्षा भी बालविवाह को मै अधिक भयकर समझता हू। बालविवाह से देश, समाज और धर्म को अत्यन्त हानि पहुचती है। वह हानि कितनी और किस प्रकार पहुचती है, यह बतलाने का अभी समय नही है। किसी अन्य अवसर पर इस विषय मे मै अपने विचार प्रकट करूगा।

समुद्रपाल का विवाह रूपवती और सुशीला कन्या के साथ किया गया था। एक दिन समुद्रपाल अपने भवन के झरोखे मे बैठा था। वहा उसने देखा–

कालो मुख कियो चोर नो फेरो नगर मझार,
समुद्रपाल तिन जोइने, लीनो सजम–भार।
जीवा चतुर सुजान, भज लो नी भगवान्,
मुक्ति नो मारग दोयलो, तज दो नी अभिमान।।

समुद्रपाल ने झरोखे मे बेठे–बैठे देखा कि एक मनुष्य का मुह काला करके उसे फासी पर चढने की पोशाक पहनाई गई है। उसके आगे बाजे बज रहे है और बहुत से लोग उसके साथ चल रहे है। फिर भी वह मनुष्य उदास है। यह दृश्य देखकर समुद्रपाल विचारने लगा– यह मनुष्य उदास क्यो है? और इसे इस प्रकार क्यो ले जाया जा रहा है? तलाश करने पर मालूम हुआ कि इसने इन्द्रियो के वश मे होकर राज्य का अपराध किया है और राजा ने इसे फासी पर लटका देने का दण्ड दिया है। यह जानकर समुद्रपाल फिर

इस प्रकार विचार करते–करते समुद्रपाल वैराग्य के रग मे रग गया। उसने सयम स्वीकार कर लिया। जव धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती हे तव सासारिक वस्तु का मूल स्वरूप खोजा जाता हे ओर फलस्वरूप सासारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रहता ओर जव वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तब सयम स्वीकार करने मे भी देर नही लगती। सासारिक पदार्थ मनुष्य को किस प्रकार ससार मे फसाते हैं ओर दु ख देते हैं यह बात समझने योग्य है।

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनगारिता स्वीकार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से शारीरिक और मानसिक दु खो से मुक्ति मिलती है।

शारीरिक और मानसिक दु खो मे ससार के सभी दु खो का समावेश हो जाता है। शारीरिक दु खो मे छेदन, भेदन, ताडन आदि दु खा का समावेश होता है। शरीर का वाहर से छेदा जाना छेदन कहलाता हे ओर भीतर से छेदा जाना भेदन कहलाता हे। थप्पड मारना, घूसा मारना आदि ताडन कहलाता है। इस प्रकार छेदन, भेदन, ताडन आदि शारीरिक कष्ट हे।

इष्ट का वियोग और अनिष्ट का सयोग आदि दु खो का मानसिक दु ख मे समावेश होता हे। इष्ट वस्तु के वियोग से ओर अनिष्ट पदार्थ के सयोग से मन को जो दु ख होता हे, वह मानसिक दु ख कहलाता हे। मानसिक दु ख आर्त्तध्यान मे गिना गया हे। आर्त्तध्यान के विषय म श्री उववाई सूत्र मे विस्तारपूर्वक विचार किया गया हे। यहा विस्तृत विचार करने का समय नही हे। अत सक्षेप मे इतना ही कहता हू कि मानसिक दु ख अर्थात् आर्त्तध्यान दूर करके परमात्मा की प्रार्थना करने से आत्मकल्याण हो सकता है। आर्त्तध्यान का स्वरूप वतलाते हुए कहा गया हे–

इष्टवियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट योग दु खारी।
तन की व्यापी मन ही झूरे, अग्रशोच करी वछित पूरे।
ये आर्त्तध्यान के चारो पाये, महा महोरस से लिपटाये।।

अर्थात् – इष्ट वस्तु का वियोग होने से तथा अनिष्ट वस्तु का सयोग होने से महान् मनस्ताप अर्थात् मानसिक दु ख उत्पन्न होता हे। शारीरिक व्याधि के कारण भी मन जलता रहता हे आर भविष्य मे कौन जाने क्या होगा अतएव अमुक वस्तु मिल जाय तो अच्छा हे इस भविष्य सम्बन्धी विचार से भी मानसिक दु ख होता हे। इन चार प्रकारो से होने वाला मनस्ताप आर्त्तध्यान कहलाता हे। धर्मध्यान करने के लिए आर्त्तध्यान से दूर रहना आवश्यक हे।

शास्त्र मे कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से छेदन–भेदन–ताडन रूप शारीरिक दु ख तथा इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग आदि मानसिक दु खो से छुटकारा मिल जाता है। शारीरिक और मानसिक दु खो से मुक्ति पाने के लिए ही अनगारिता स्वीकार की जाती है। अतएव साधुओ और साध्वियो से मुझे यही कहना है कि हमे खूब गम्भीर विचार करना चाहिए कि हमने किस उद्देश्य से गृहत्याग किया है और शिरोमुण्डन कराया है? अगर हमने शारीरिक और मानसिक दु खो से बचने के लिए ही गृहत्याग किया हो तो सबसे पहले हमे यह बात समझ लेनी चाहिए कि दु ख क्या है? दु ख का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए शास्त्र मे कहा गया है –

जम्मदुक्ख जरादुक्ख रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हि ससारो जत्थ किच्चइ जतुणो।।

उत्त0 19–16

अर्थात् – जन्म दु खरूप है, जरा दु खरूप है, जन्म और जरा के बीच होने वाले रोग आदि भी दु खरूप है और मरण का दु ख तो सबसे बडा है। इस प्रकार इस ससार मे दु ख ही दु ख है। ज्ञानीजन कहते हैं कि ससार को असार और दु खमय समझकर जो उसका त्याग करते है वे अनगारिता स्वीकार कर दु खमुक्त बन जाते है।

यहा एक नया प्रश्न उपस्थित होता है। अनगारिता स्वीकार करने के पश्चात अनगार ऐसा क्या करता है जिससे वह दु खमुक्त हो जाता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह देखने की आवश्यकता हे कि दु ख आता कहा से है? कुछ लोग दु ख का मूल कारण न खोज सकने के कारण कहते है – दु ख परमात्मा देता है अदृष्ट से दु ख होता है या काल दु ख पहुचाता है। ऐसा कहने वाले लोगो को दु ख का और कोई कारण मालूम नही हुआ, इस कारण उन्होने ईश्वर अदृष्ट या काल पर दु ख देने का दोषारोपण कर दिया है। मगर ज्ञानीजनो का कहना यह है कि आत्मा ने स्वय ही द ख पेदा

मे ऐसा नही हे। आत्मा स्वभावत सुखसागर है। इसीलिए दु खमुक्त होने का उपदेश दिया जाता है। जव मूल शुद्ध होता है ओर ऊपर से कोई विकार–आवरण आ जाता है, तभी उसे दूर करने के लिए उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी पुरुष आत्मा को दु खमय नहीं मानते, वल्कि उनकी मान्यता तो यह हे कि ईश्वर को दु ख देने वाला मानना उसे कलक लगाना है। अगर ईश्वर ही दु ख देता हो तो उसकी प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है? वास्तव मे ईश्वर दु ख नही देता ओर न अदृष्ट काल ही दु ख देता है।

लेकिन यह प्रश्न तो अव भी ज्यो का त्यो खडा है कि यदि आत्मा स्वभावत दु खमय नही है, ईश्वर दु ख नही देता, अदृष्ट या काल भी दु ख नहीं पहुचाता तो फिर दु ख आता कहा से है? इस प्रश्न के समाधान मे भगवान ने इसी उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा कि दु ख का मूल कारण आत्मा का तृष्णा नामक विभाव ही है। तृष्णा से दु ख की उत्पत्ति होती है। उत्तराध्ययन मे कही भगवान् की यह वात सब दार्शनिको को स्वीकार्य है। इसे कोई अस्वीकार नही करता। भर्तृहरि भी कहते हैं–

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कगहना धैर्यद्रुमध्वसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुगचिन्तातटी।
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वरा ।।

कवि कहता हे– आशा नाम एक नदी हे, इस आशा–नदी मे मनोरथरूपी जल भरा हुआ हे। जेसे पानी मे तरगे उठती हैं उसी प्रकार आशा–नदी के मनोरथरूपी जल मे तृष्णा की तरगे उठती हैं। तृष्णा की ऐसी ऐसी तरगे उठती हैं कि उनका पार पाना कठिन हे। नदी मे जेसे मगरमच्छ रहते हें, उसी प्रकार आशा–नदी मे राग–द्वेष रूपी मगरमच्छ रहते हैं। जहा तृष्णा होती है वहा राग–द्वेष भी हाते ही ह। नदी के किनारे पक्षी भी रहते हैं। इस आशा–नदी के किनारे कपट–वितर्क रूपी वगुला–पक्षी रहते हैं। आशा–तृष्णा के कारण ही झूठ–कपट सेवन करना पडता हे। नदी मे जव पूर आता हे तो वह किनारो के पेडो को भी उखाड फँकता हे। इसी प्रकार तृष्णा की अधिकता से धैर्य रूपी वृक्ष भी उखड जाता हे। कितने ही लोग कहते हे कि सामायिक मे हमारा मन नहीं लगता, मगर जव तृष्णा वढी हुई हा तव मन सामायिक मे केसे लग सकता हे? तृष्णा धेर्य का नाश कर डालती हे ओर धेर्य के अभाव मे मन का एकाग्र न होना स्वाभाविक ही हे। तृष्णा का उच्छेद किय विना शाति नही मिलती। जसे गहरी नदी मे भवर पडते हैं उसी प्रकार आशा–नदी

मे भी मोह के भवर पडते हैं। मोह के भवर–जाल मे फसा हुआ मनुष्य सरलता से बाहर नही निकल सकता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ससार की असारता समझ गये है और ससार का त्याग करने की इच्छा भी रखते है, फिर भी मोह के कारण ससार का त्याग नही कर सकते। जब तक मनुष्य मोहावस्था मे फसा रहता है तब तक आत्मोन्नति नही साध सकता। जैसे नदी मे तट होता है, उसी प्रकार आशा–नदी का तट चिन्ता है। जहा आशा–तृष्णा होती है वहा चिन्ता का होना स्वाभाविक ही है।

ऐसी दुस्तरा महानदी को कौन पार कर सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कवि ने कहा है–विशुद्ध भावनारूपी नौका मे बैठने वाले, इस नौका की सहायता से दुस्तरा आशा–नदी को पार कर लेते हैं। इस आशा–नदी को पार करने के लिए ही अनगार–धर्म स्वीकार किया जाता है। अनगारिता स्वीकार कर विशुद्ध भावना भाने वाले अनगार आशारूपी नदी पार करते है और इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक दु खो से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द पाप्त करते है।

शारीरिक और मानसिक दु खो मे से कौन–सा दु ख बुरा है? शारीरिक दु ख दूर कने के लिए डाक्टर है, लेकिन उनसे पूछो कि क्या वे मानसिक दु ख भी मिटा सकते है? डाक्टर शारीरिक दु ख दूर कर सकते है। मानसिक दु ख दूर करना उनके सामर्थ्य से बाहर है। अतएव शारीरिक दु ख की अपेक्षा मानसिक दु ख महान् है। शास्त्रकार ही इस मानसिक दु ख को दूर करने का उपाय बतलाते है और स्पष्ट कहते है कि अगर तुम मानसिक दु ख से मुक्त होना चाहते हो तो सर्वप्रथम दु खो के मूल तृष्णा को हटाओ। तृष्णा को दूर किये बिना मानसिक दु ख नही मिट सकता। कुछ लोग कहा करते है कि हमारा दु ख मिटता नही है किन्तु जब तक दु ख का कारण तृष्णा मौजूद है दु ख किस प्रकार दूर होगा?

प्रश्न किया जा सकता है–तृष्णा कैसे जीती जाये ? इसक उत्तर मे कहा गया है –

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाण भावनात् चित्तप्रसादनम्।

अर्थात्–मैत्री करुणा पमोद और उपेक्षा की भावना करने से तथा इस प्रकार चित्त को प्रसन्न रखने से तृष्णा मिट सकती हे आर शाति प्राप्त हो सकती है।

[illegible]

इस कथन पर फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्ध भावना रखने से तृष्णा मिट जाती है, यह तो ठीक है, लेकिन भावना–शुद्धि का उपाय क्या है? इस सम्बन्ध मे कहा –

सत्वेषु मैत्री गुणिसु प्रमोदम्,
क्लिष्टेसु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव!।।

अर्थात्– हे प्रभो! मेरे हृदय मे प्रत्येक जीव के प्रति मैत्रीभाव रहे, गुणीजनो के प्रति प्रमोदभाव रहे, दु खी जीवो के प्रति मेरे हृदय मे करुणाभाव रहे और विपरीत वृत्ति वालो के प्रति मेरे हृदय मे समभाव रहे।

इस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रार्थना करना और तदनुसार जीवन–व्यवहार चलाना चित्तशुद्धि का मार्ग है। तृष्णा से निवृत्ति होने के लिए भावना की शुद्धि होना आवश्यक है। योग के लिए भी योगशास्त्र मे यही कहा गया है कि भावना शुद्ध हुए विना योग की सिद्धि नही होती।

आप सब लोग चित्तशुद्धि करने के लिए ही यहा एकत्र हुए है, मगर देखना चाहिए कि चित्त की शुद्धि किस प्रकार होती है? चित्त शुद्ध करने के लिए अथवा भावना को विशुद्ध बनाने के लिए योगसूत्र मे कहा है कि जीवो को सुखी देखकर अपने मे मैत्रीभावना प्रकट करो। सुखी को देखकर ही सुख का स्मरण होता है और सुख का स्मरण आने से सुखी–जन के प्रति ईर्षाभावना उत्पन्न होती है।

बन्दरो की टोली मे खाने–पीने की चीजो को लेकर ही झगडा होता है, लेकिन मनुष्यो मे झगडे के अनेक कारण है। इसका मूल कारण यही है कि सुखी जीवो को देखकर अन्त करण मे मैत्रीभावना प्रकट नही होती। सुखी जीवो को देखकर यदि मैत्रीभाव उत्पन्न हो तो झगडे उत्पन्न न हो और चित्त भी प्रसन्न रहे। जब किसी सुखी मनुष्य को देखे तो यह सोचकर ईर्षा मत करो कि इसे सुख क्यो मिला? यह सुख मुझे क्यो नही मिला? जहा ईर्षा या द्वेष होता है वहा मैत्रीभावना नही टिक सकती। जब किसी मनुष्य को कामभोग के साधन प्राप्त नही होते और दूसरो को वह प्राप्त होते है तब उसे दूसरे के प्रति ईर्षा–द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार मनुष्य दूसरे को सुखी देखकर आप दु खी बन जाता है। इसी कारण ज्ञानीजन कहते है कि सुखी–जनो को देखकर अपने चित्त मे मैत्रीभाव लावो।

प्रश्न किया जाता है कि ससार मे सभी तो सुखी हो नही सकते कुछ

लोग हमारी अपेक्षा भी अधिक दु खी है। ऐसे दु खियो के पति हमे कैसा व्यवहार रखना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जिस पकार सुखी जीवो के पति मैत्रीभाव रखना बतलाया गया है, उसी प्रकार दुखियो के पति करुणाभावना रखनी चाहिए। दु खी जीव अपने कर्मो के कारण दु ख भोग रहे है इस प्रकार विचार करके उनके पति उपेक्षा रखना उचित नही है। करुणा दु खी जीवो पर ही की जाती है अतएव किसी दु खी को देखकर यह मानना चाहिए कि मुझे करुणाभाव पकट करने का शुभ अवसर मिला है। आप लोग इस मानव–जीवन मे रहकर दूसरो की जो भलाई कर सकते हैं, परोपकार कर सकते हैं और साथ ही आत्मकल्याण की जो साधना कर सकते हैं, वह देवलोक मे रहने वाले इन्द्र के लिए भी शक्य नही है। इस दृष्टि से विचार करो कि मानव–जीवन मूल्यवान् है या देव–जीवन? डाक्टरो को देवलोक भेजा जाये तो वह वहा जाकर किसकी दवा करेगे? रोगी की दवा करने का अवसर तो यही प्राप्त होता है वहा नही। अतएव दु खियो को देखकर उनके प्रति मन मे करुणाभावना लाना चाहिए। आप 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् सब जीवो के साथ मेरा मैत्रीभाव है इस पकार का पाठ तो पाय प्रतिदिन उच्चारण करते होगे, मगर [illegible] देखते हो कि इसका पालन कहा तक किया है? जिसे आप अपना मित्र समझते है क्या उसे दु ख मे ही रहने देना चाहिए? जो सच्चे हृदय से किसी का मित्र अपने को मानता होगा वह अपने मित्र को दु ख मे रखकर [illegible] सुखी नही रहना चाहेगा। इसलिए यदि आप सब जीवो को मित्र समान [illegible] तो दुखीजन को देखकर उसके पति अन्त करण मे करुणा–भावना [illegible] और उसका दु ख अपना ही मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न

करोगे। डाक्टर सर्वप्रथम उसी रोगी की जाच करता है जो अधिक बीमार होता है। इसी प्रकार तुम उस पर करुणा करो जो ज्यादा दु खी हो। करुणा करने पर भी दु खी का दु ख मिटे या न मिटे, पर तुम्हारा दु ख तो मिटेगा ही। जो बहुत से रोगियो का रोग मिटाता है, वह बडा डाक्टर माना जाता है। इसी प्रकार जो बहुत से दु खियो का दु ख मिटाता है वह बडा दयालु कहलाता है, और जो बडा दयालु होता है वह दूसरो पर अधिक करुणा करके अपने हृदय का अधिक दु ख मिटाता है।

किसी भी दु खी प्राणी को घृणा करना उचित नहीं। जिसके हृदय मे करुणा–भावना होती है वह किसी से घृणा नही करता। आजकल करुणाभावना की कमी के कारण दु खी जीवो के प्रति घृणा की जाती है, ऐसा देखा जाता है। आज शहरो मे बसने वाले लोग यह सोचते हैं कि शहर मे तो दु खी लोग बहुत हैं, किस–किस का दु ख दूर किया जाये? गाव मे तो कोई–कोई दु खी होता है। वहा किसी का दु ख दूर किया जा सकता है। मगर शहर मे किस–किस का दु ख दूर किया जाये । इस प्रकार का विचार करना नागरिक जीवन का दुरुपयोग करने के समान है। नागरिक जीवन का सदुपयोग तो तभी कहा जा सकता है जब दु खी को देखकर, उसके प्रति करुणा भाव लाया जाये और उसका दु ख दूर करने का प्रयत्न किया जाये।

गुणीजनो को देखकर हृदय मे प्रमोदभावना लाना चाहिए, प्रसन्नता अनुभव करना चाहिए। तनिक भी ऐसा विचार नही करना चाहिए कि यह मनुष्य इतना सद्गुणी क्यो है? इसे इतना यश क्यो मिल रहा हे? लोगो मे इसका इतना सम्मान क्यो हो रहा है? गुणीजनो के प्रति सद्भावना न प्रकट करना अपने लिए दु ख उत्पन्न करने के समान है। बहुत से लोग गुणीजनो के छिद्र ढूढते रहते हें, इतना ही नही, कितनेक छिद्रान्वेपी तो ऐसे होते हैं कि गुण को भी दोष का रूप देने मे नही हिचकते। यहा साम्प्रदायिक भेदभाव के कारण यह बात बहुत अधिक देखी जाती हे। लेकिन गुणी पुरुषो के गुण देखने के बदले दोष देखना अपनी आत्मा को पतित करने के समान हे।

चौथी मध्यस्थभावना हे। किसी विपरीत वृत्ति वाले अर्थात् शत्रु या पापी को देखकर माध्यस्थभाव धारण करना चाहिए। सच्चा ज्ञानी वही है जो किसी पापी या नीच मनुष्य को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता। पापी को देखकर वह विचार करता है कि सूर्य की महिमा अन्धकार के कारण ही हे– अन्धकार न होता तो सूर्य का क्या मूल्य ठहरता? इसी प्रकार पाप के अस्तित्व से ही धर्म या पुण्य का महत्व हे। पाप ही धर्म या पुण्य का महत्व बढाता हे।

पाप न होता तो धर्म का या पुण्य का भाव ही कौन पूछता? इस तरह विचार कर ज्ञानीजन पापात्मा या नीच मनुष्यो के पति माध्यस्थ भावना रखते है। ऐसा करने वाला पुरुष अपनी ही चित्तशुद्धि करता है और इस प्रकार दु ख से मुक्त बन जाता है। इन चार भावनाओ को धारण करने से तृष्णा का निरोध और चित्त की शुद्धि होती है। भावनाशुद्धि द्वारा तृष्णा का निरोध करना दु ख से मुक्त होने का और अव्याबाध सुख प्राप्त करने का सच्चा और सरल उपाय है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष अनगारिता स्वीकार कर भावनाशुद्धि द्वारा तृष्णा का निरोध करता है वह शारीरिक और मानसिक दु खो से मुक्त हो जाता है। अनगार शारीरिक और मानसिक दु खो से किस प्रकार मुक्त हो जाता है, इसके लिए गजसुकुमार मुनि का उदाहरण सर्वोत्तम है।

गजसुकुमार मुनि शरीर और अवस्था से कोमल थे। फिर भी जब सोमल ब्राह्मण ने उनके मस्तक पर धधकते अगार रखे तो ऐसे विकट समय मे भी उन्होने अपनी अन्तरात्मा मे अशुभ भावना उत्पन्न नही होने दी। असह्य कष्ट के अवसर पर भी उन्होने ऐसी शुभ भावना धारण की कि सोमल तो मेरे सयम की परीक्षा कर रहा है अर्थात् सयम धारण करके मैं शारीरिक और मानसिक दु ख से मुक्त हुआ हू या नही, इस बात की जाच कर रहा है। इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धधकते अगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण पर भी मध्यस्थभाव धारण किया। ऐसी मध्यस्थभावना से तृष्णा का नाश होता है और दु ख के मूल कारण—तृष्णा का नाश होने से दु ख का भी नाश हो जाता है अगर आप दु ख का नाश करना चाहते हैं और अव्याबाध सुख प्राप्त करना चाहते है तो भावना द्वारा तृष्णा का निरोध कीजिए। तृष्णा का निरोध करने मे ही कल्याण है।

चौथा बोल

गुरु – साधार्मिक – शुश्रूषा

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के 29वे अध्ययन के सवेग, निर्वेद और धर्मश्रद्धा इन तीन बोलो पर विचार किया गया है। अब चौथे बोल 'गुरुसाधार्मिक शुश्रूषा' पर विचार करना है। इस विषय मे भगवान् से निम्नलिखित प्रश्न किया गया है।

मूल पाठ

प्रश्न – गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाए णं भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर – गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाए ण विणयपडिवत्ति जणयइ विणयपडिवन्नेय ण जीवे अणुच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्स देवदुग्गईओ, वण्णसजलणभत्ति वहुतमाणयाए मणुस्सदेवगईओ निवधई सिद्धि सोग्गइ च विसोहेइ, पसत्थाइ च ण विणयमूल इ सव्वकज्जाइ साहेइ अन्नेय वहवे विणिइत्ता भवइ।। 4।।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! गुरु और साधर्मी की शुश्रूषा से जीवो को क्या लाभ होता है?

उत्तर – गुरु ओर सहधर्मी के सेवा–शुश्रूषा से विनीतता उत्पन्न होती है। विनययुक्त जीव अनासातनाशील होता हे, अनासातनाशील जीव नरक तिर्यंच, मनुष्य ओर देव की दुर्गति से वच जाता हे ओर जगत म यश–कीर्ति पाता हुआ अनेक गुण प्राप्त करता हे तथा मनुष्य दवगति पाता है। सिद्धि और सद्गति के मार्ग को विशुद्ध करता हे तथा विनय स सिद्ध हाने वाले समस्त प्रशस्त कार्यों को साधता हे ओर दूसरे वहुतो का उसी मार्ग पर चलाता है।

व्याख्यान

यह सूत्र का मूलपाठ है। नाम–सकीर्तन की महिमा वर्णन करते हुए ज्ञानी पुरुष कहते है कि नाम और परमात्मा को एक रूप देखना चाहिए। इसी पकार परस्तुत सूत्र मे परमात्मा और आराधक को एक रूप देखने के लिए कहा है। यहा यह पश्न पूछा गया है कि –

'भगवन! गुरु और सहकर्मी की सेवा–शुश्रूषा करने से जीव को किस फल की पाप्ति होती है?'

इस प्रश्न पर विचार करते समय पहले यह देख लेना आवश्यक है कि गुरु किसे कहते है? और किस उद्देश्य से गुरु बनाया जाता है? गुरु शब्द का पदच्छेद करते हुए वैयाकरण कहते है कि 'गु' शब्द अन्धकार अर्थ का द्योतक है और 'रु' शब्द अन्धकार नाश का द्योतक है। इस पदच्छेद के अनुसार 'गुरु शब्द का अर्थ अन्धकार का नाशक होता है।

घर मे अन्धकार हो तो कितनी कठिनाई होती है, यह सभी जानते है। इस कठिनाइ से बचने के लिए घर मे दीया जलाया जाता है। घर मे दीपक न हो तो चोर और साहूकार का तथा रस्सी और साप का विवेक नही हो सकता। अन्धकार के कारण बहुधा विपर्यास भी हो जाता है और एक चीज के बदले दूसरी चीज मालूम होने लगती है। अन्धकार से उत्पन्न होने वाला यह विपर्यास पकाश द्वारा दूर होता है। पकाश द्वारा ही चोर अथवा साहूकार, साप या रस्सी का विवेक हो सकता है। आप रात्रि मे व्यापार करते है किन्तु यदि प्रकाश न हो और अन्धकार मे व्यापार किया जाये तो वह व्यापार भी प्रामाणिक नही माना जाता। इस पकार व्यवहार मे भी प्रकाश की आवश्यकता है। अन्धकार मे किया गया व्यावहारिक कार्य भी पमाण नही माना जाता। यह हुई प्रकाश–अन्धकार की बात।

वह उलटी होती है। पुरुष को ठूठ और ठूठ को पुरुष समझना अज्ञान है परन्तु वह है क्षयोपशम भाव। क्षयोपशम भाव के अभाव मे ससारी जीव कुछ जान ही नही सकता। इस प्रकार अज्ञान का अर्थ यहा कुत्सित ज्ञान या मिथ्याज्ञान है और वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, अतएव क्षायोपशमिकभाव के अन्तर्गत है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो वह अज्ञान बन जाता है। इस विपरीत को विपर्य ज्ञान भी कहते है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्धकार दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अज्ञान दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। जो अज्ञान–अधकार हटाकर सच्चे ज्ञान का प्रकाश देता है वह गुरु है। गुरु कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध मे श्री सूयगडागसूत्र मे कहा है – 'गुरु भले ही आर्य हो या अनार्य, सुरूप हो या कुरूप हो, स्थूल शरीर वाला हो या दुबला–पतला हो, परन्तु उसमे अज्ञान–अन्धकार का नाश करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए।' जिसमे ज्ञान का प्रकाश देने की शक्ति हो, समझना चाहिए कि वही गुरु है। दीपक सोने का हो या चादी का हो, अगर प्रकाश न दे सके तो किस काम का? इसके विपरीत दीपक मिट्टी का भले ही हो, अगर प्रकाश देता है तो काम का है। इसी प्रकार गुरु शरीर या रूप से कैसा ही क्यो न हो, अगर उसमे अज्ञान दूर करने की शक्ति है तो वह गुरु बन सकता है, अन्यथा नही। आजकल गुरु बनाते समय यह बात नही देखी जाती। आज सिर्फ ऊपर का रग–ढग देखा जाता है। मगर वास्तव मे अज्ञान का अन्धकार दूर करने वाला ही गुरु होना चाहिए।

यहा यह कहा जा सकता हे कि गुरु मे प्रकाश देने की योग्यता हो सो तो ठीक हे, मगर वह यदि अपने ज्ञान के अनुसार स्वय बर्ताव न करता हो तो क्या करना चाहिए? हमे गुरु से ज्ञान का प्रकाश लेना हे, फिर गुरु चाहे कैसा ही बर्ताव करे। उसके वर्ताव से हमे क्या प्रयोजन हे? क्या यह विचारसगत नही हे?

इस प्रश्न के उत्तर मे जनशास्त्र कहते हे– जो पुरुप अपने ज्ञान के अनुसार व्यवहार नहीं करता, उसका ज्ञान भी अज्ञान हे। ऐसा अज्ञानी गुरु तुम्हारे भीतर ज्ञान के वदले अज्ञान ही भरेगा।

अहमदनगर मे एक नाटक–कम्पनी आई थी। वहा के लोग कम्पनी की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते थ। कहते थे– आज तक ऐसी कम्पनी कभी नहीं आई। वह कम्पनी नाटक खेलकर लोगा का ऐसा रिझाती कि लोग प्रसन्न

हो जाते थे। एक दिन मैं जगल के लिए जा रहा था। सयोगवश नट भी उधर ही आये हुए थे। वह लोग आपस मे जो बातचीत कर रहे थे, वह सुनकर और उनकी ओछी हसी–दिल्लगी सुनकर मैं चकित रह गया। मैने सोचा – यह लोग नाटक मे राम और हरिश्चन्द्र का पार्ट खेलते है, मगर इनके हृदय की भावना कितनी नीच है! क्या इनकी नीच भावना का प्रभाव दर्शको पर नही पडता होगा? पडे बिना कैसे रह सकता है?

इसी पकार नाटकीय गुरु का पभाव क्या शिष्य पर नही पडता होगा? जो अपने अन्त करण मे ज्ञान को स्थान नही देता, जो ज्ञान के अनुसार आचरण नही करता, वह पुरुष शास्त्र के अनुसार गुरुपद का अधिकारी नही है। महात्माओ ने ऐसे लागो की, जो कहते कुछ और करते कुछ और हैं, निन्दा की है। आवश्यक निर्युक्ति मे कहा है –

कि पुच्छसि साहूण तव च नियम च सजमं च।
तओ करिस्ससि वदिय एव मे पुच्छिओ साहू।।

एक मनुष्य साधु को देख रहा था, मगर उसने वन्दन नही किया। किसी ने उससे कहा–साधु को देखता क्या है? क्या उनका तप देखता है, नियम देखता है, सयम देखता है या ब्रह्मचर्य देखता है?

आकृति देखने से यह बात समझी जा सकती है कि किसी मे अमुक गुण है या नही? वृक्ष की जड दिखाई नही देती, फिर भी ऊपर से उसे हराभरा देखकर समझा जा सकता है कि इसकी जड अच्छी है। इसी प्रकार आकृति देखने मात्र से यह भी जाना जा सकता है कि इसमे तप, नियम, सयम, ब्रह्मचर्य आदि गुण है या नही?

उस साधु को खडा–खडा देखने वाला विचार करता है कि मे इन्हे अपना गुरु बनाना चाहता हू। अतएव मैं इनके तप नियम सयम, आदि गुण

इस सूत्रपाठ से यह वात समझनी चाहिए कि केवल नाटक के खेल की भाति ऊपर से ज्ञान का ढोग वतलाने वाला, किन्तु स्वय ज्ञान के अनुसार आचरण न करने वाला गुरुपद का अधिकारी नही है। जो दूसरो को तो ज्ञान की वात बतलाता है, किन्तु स्वय तदनुसार व्यवहार नही करता उसे आडम्वरी समझना चाहिए। यह वात दूसरी है कि स्वय वीतराग न होते हुए भी वीतराग का स्वरूप वतलावे, किन्तु ऐसी स्थिति मे उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि मै अभी वीतराग नही हुआ हू, मैं सिर्फ वीतराग के मार्ग का पथिक हू। इस प्रकार वीतराग–मार्ग का पथिक (मुमुक्षु) होकर वीतराग का मार्ग बतलाना योग्य ही है। परन्तु जो स्वय उस मार्ग का पथिक नही बनता और सिर्फ दूसरो को ही मार्ग बतलाता है, वह आडम्बरी है। आडम्वर करने वाला पुरुष गुरुपद का गौरव नही प्राप्त कर सकता।

शास्त्र के अनुसार ज्ञान और चारित्र–दोनो की आवश्यकता है। जिसमे ज्ञान और क्रिया दोनो है, वही गुरु बन सकता है। जिसमे ज्ञान होने पर भी क्रिया नही है या क्रिया होने पर भी ज्ञान नही है, वह गुरु नही वन सकता। जिस दीपक मे केवल वत्ती होगी या केवल तेल ही होगा, वह प्रकाश नही दे सकेगा। प्रकाश देने के लिए दोनो आवश्यक है। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव मे अकेली क्रिया से या क्रिया के अभाव मे अकेले ज्ञान से कल्याण नही हो सकता। आत्मकल्याण के लिए दोनो आवश्यक है।

यह गुरु का स्वरूप हुआ। साराश यह है कि अज्ञान–अधकार का नाश करने वाला ही गुरु कहलाता है।

अव प्रश्न उपस्थित होता है कि साधर्मी किसे कहते है? आप धर्म करे किन्तु क्या अकेले से धर्म चल सकता है? नही। जिस खेत मे चने का एक ही पोधा होता है, वह चने का खेत नही कहला सकता। जिसमे अनाज के पोधे अधिक होते है, वही अनाज का खेत कहलाता है। यही वात धर्म के विषय मे भी समझनी चाहिए। धर्म का पालन करने वाले जव अनेक होते है तभी धर्म चल सकता है। अनेक मनुष्य धर्म पालने वाले न हो सिर्फ एक ही मनुष्य किसी धर्म का पालन करे तो इस अवस्था मे धर्म का पालन होना कठिन हो जाता है। कल्पना कीजिए, किसी नगर मे सब लोग चोर और लुटेरे बसते हो, कोई नीतिमान् मनुष्य न हो तो तुम्हारा जीवन–व्यवहार वहा ठीक–ठीक चल सकता है? नहीं। वहा नीतिमान मनुष्य वसते हो तो तुम्हारा जीवन–व्यवहार सरलतापूर्वक चल सकता है। इस प्रकार अपने नैतिक जीवन का व्यवहार सरल वनाने के लिए नीतिमान लोगो की आवश्यकता है। जो मनुष्य

पामाणिकतापूर्वक लेन–देन करता है, भले ही वह किसी भी जाति का हो, आपको उस पर विश्वास होगा। इसके विरुद्ध जो प्रामाणिक नही है, वह आपका भाई ही क्यो न हो, आप उस पर विश्वास नही करेगे। इस प्रकार व्यवहार मे भी सहधर्मी की आवश्यकता है।

जैसे व्यवहार धर्म मे सहधर्मी की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तर धर्म मे भी सहधर्मी की आवश्यकता रहती है। हम साधुओ को भी सहधर्मी की आवश्यकता है। अगर हमे सहधर्मी की सहायता प्राप्त न हो तो हमारा काम चलना ही कठिन हो जाये। उदाहरणार्थ– हमे श्रावक–श्राविका वगैरह की सहायता मिली है तब हमारा चातुर्मास यहा (जामनगर मे) हो सका है और हम यहा रह सके है। इस प्रकार की सहायता हमे प्राप्त न होती तो कदाचित् भाद्रपद महीने मे भी हमे विहार करना पडता। भगवान् ने शास्त्र मे ऐसी आज्ञा दी है कि– हे साधुओ! अगर तुम्हारे व्रत–सयम मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती हो तो तुम भाद्रपद महीने मे भी उस स्थान से अन्य स्थान पर विहार कर सकते हो।

इस पकार हम लोगो के लिए साधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है और उनकी सहायता मिलने पर ही हम निर्विघ्नरूप से अपने धर्म का पालन कर सकते है। साधु और श्रावक हमारे सहधर्मी हैं। साधु तो लिग (वेप) से भी सहधर्मी है और धर्म से भी सहधर्मी हैं? किन्तु श्रावक सिर्फ धर्म से सहधर्मी है। कहा जा सकता है कि साधु अनगार धर्म का पालन करते हैं और श्रावक आगारधर्म का पालन करते है। दोनो का धर्म जुदा–जुदा है। ऐसी स्थिति मे साधु और श्रावक सहधर्मी किस पकार कहे जा सकते है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि श्रावको मे अणुव्रत होते है और साधु महाव्रत का पालन करते है। अणुव्रत और महाव्रत परस्पर सबद्ध है अर्थात् अणुव्रत के आधार पर ही महाव्रत है और महाव्रत के आधार पर ही अणुव्रत

इस सूत्रपाठ से यह वात समझनी चाहिए कि केवल नाटक के खेल की भाति ऊपर से ज्ञान का ढोग वतलाने वाला, किन्तु स्वय ज्ञान के अनुसार आचरण न करने वाला गुरुपद का अधिकारी नही है। जो दूसरो को नो ज्ञान की बात बतलाता है, किन्तु स्वय तदनुसार व्यवहार नही करता, उसे आडम्बरी समझना चाहिए। यह बात दूसरी है कि स्वय वीतराग न होते हुए भी वीतराग का स्वरूप बतलावे, किन्तु ऐसी स्थिति मे उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि मै अभी वीतराग नही हुआ हू, मै सिर्फ वीतराग के मार्ग का पथिक हू। इस प्रकार वीतराग-मार्ग का पथिक (मुमुक्षु) होकर वीतराग का मार्ग बतलाना योग्य ही है। परन्तु जो स्वय उस मार्ग का पथिक नही बनता और सिर्फ दूसरो को ही मार्ग बतलाता है, वह आडम्बरी है। आडम्बर करने वाला पुरुप गुरुपद का गौरव नही प्राप्त कर सकता।

शास्त्र के अनुसार ज्ञान और चारित्र-दोनो की आवश्यकता है। जिसमे ज्ञान और क्रिया दोनो है, वही गुरु बन सकता है। जिसमे ज्ञान होने पर भी क्रिया नही है या क्रिया होने पर भी ज्ञान नही है, वह गुरु नही वन सकता। जिस दीपक मे केवल बत्ती होगी या केवल तेल ही होगा वह प्रकाश नही दे सकेगा। प्रकाश देने के लिए दोनो आवश्यक है। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव मे अकेली क्रिया से या क्रिया के अभाव मे अकेले ज्ञान से कल्याण नही हो सकता। आत्मकल्याण के लिए दोनो आवश्यक है।

यह गुरु का स्वरूप हुआ। साराश यह है कि अज्ञान-अधकार का नाश करने वाला ही गुरु कहलाता है।

अव प्रश्न उपस्थित होता है कि साधर्मी किसे कहते है? आप धर्म करे किन्तु क्या अकेले से धर्म चल सकता है? नही। जिस खेत म चने का एक ही पौधा होता है, वह चने का खेत नही कहला सकता। जिसमे अनाज के पौधे अधिक होते है, वही अनाज का खेत कहलाता है। यही बात धर्म के विषय मे भी समझनी चाहिए। धर्म का पालन करने वाले जव अनेक होते है तभी धर्म चल सकता है। अनेक मनुष्य धर्म पालने वाले न हो सिर्फ एक ही मनुष्य किसी धर्म का पालन करे तो इस अवस्था मे धर्म का पालन होना कठिन हो जाता है। कल्पना कीजिए, किसी नगर मे सव लोग चोर और लुटेरे वसते हो, कोई नीतिमान् मनुष्य न हो तो तुम्हारा जीवन-व्यवहार वहा ठीक-ठीक चल सकता है? नही। वहा नीतिमान् मनुष्य बसते हो तो तुम्हारा जीवन-व्यवहार सरलतापूर्वक चल सकता है। इस प्रकार अपने नैतिक जीवन का व्यवहार सरल बनाने के लिए नीतिमान् लोगो की आवश्यकता है। जो मनुष्य

प्रामाणिकतापूर्वक लेन–देन करता है, भले ही वह किसी भी जाति का हो, आपको उस पर विश्वास होगा। इसके विरुद्ध जो पामाणिक नही है, वह आपका भाई ही क्यो न हो, आप उस पर विश्वास नही करेगे। इस पकार व्यवहार मे भी सहधर्मी की आवश्यकता है।

जैसे व्यवहार धर्म मे सहधर्मी की आवश्यकता है, उसी पकार लोकोत्तर धर्म मे भी सहधर्गी की आवश्यकता रहती हे। हम साधुओ को भी सहधर्मी की आवश्यकता है। अगर हमे सहधर्मी की सहायता पाप्त न हो तो हमारा काम चलना ही कठिन हो जाये। उदाहरणार्थ– हमे श्रावक–श्राविका वगैरह की सहायता मिली है तब हमारा चातुर्मास यहा (जामनगर मे) हो सका है और हम यहा रह सके है। इस प्रकार की सहायता हमे प्राप्त न होती तो कदाचित् भाद्रपद महीने मे भी हमे विहार करना पडता। भगवान् ने शास्त्र मे ऐसी आज्ञा दी है कि– हे साधुओ! अगर तुम्हारे व्रत–सयम मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती हो तो तुम भाद्रपद महीने मे भी उस स्थान से अन्य स्थान पर विहार कर सकते हो।

इस प्रकार हम लोगो के लिए साधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है और उनकी सहायता मिलने पर ही हम निर्विघ्नरूप से अपने धर्म का पालन कर सकते है। साधु और श्रावक हमारे सहधर्मी हैं। साधु तो लिग (वेष) से भी सहधर्मी है और धर्म से भी सहधर्मी है? किन्तु श्रावक सिर्फ धर्म से सहधर्मी है। कहा जा सकता है कि साधु अनगार धर्म का पालन करते है ओर श्रावक आगारधर्म का पालन करते है। दोनो का धर्म जुदा–जुदा है। ऐसी स्थिति मे साधु ओर श्रावक सहधर्मी किस प्रकार कहे जा सकते है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि श्रावको मे अणुव्रत होते है और साधु महाव्रतो का पालन करते हे। अणुव्रत और महाव्रत परस्पर सबद्ध है अर्थात् अणुव्रत के आधार पर ही महाव्रत है और महाव्रत के आधार पर ही अणुव्रत है। इस पकार एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण ही साधु और श्रावक साधर्मी है। धर्म के पालन के लिए दोनो की आवश्यकता है। अणुव्रत का पालन न किया जाये तो महाव्रतो का पालन करना ही मुश्किल हो जाये। अगर कोई भी पुरुष अणुव्रती न हो तो हमे महाव्रतो का पालन करने मे अतीव कठिनता हो। मान लीजिए कि आप सब लोग अगर मिल के ही वस्त्र पहनते हो तो हमे खादी के वस्त्र कहा से मिले? इस प्रकार हमे महाव्रतो का पालन करने के लिए अणुव्रती श्रावको की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। जैसे नीतिधर्म के होने पर ही लोकोत्तर धर्म का पालन हो सकता हे, उसी

प्रकार अणुव्रतो का पालन होने पर ही महाव्रतो का भलीभाति पालन किया जा सकता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र मे कहा है कि सर्वप्रथम लोकोत्तर धर्म का उच्छेद होगा और सबके अन्त मे लौकिक धर्म का उच्छेद होगा। इस सूत्र–कथन का आशय यही है कि प्रीतिधर्म का पालन न होने पर लोकोत्तर धर्म का भी पालन नही हो सकता।

मैं तुम्हारे ऊपर महाव्रतो के पालन करने का उत्तरदायित्व नही लादता। मैं यह भी नही कहता कि तुम्हे महाव्रतो का पालन करना ही चाहिए। हा, इतना अवश्य कहता हू कि आप श्रावक कहलाते हो तो अणुव्रतो का भलीभाति पालन करो। उनके पालन मे किसी तरह की कोताही मत करो। अगर तुम अणुव्रतो का पालन न करो, तुम हिसक, मिथ्यावादी, चोरी करने वाले और परस्त्रीगामी बन जाओ तो क्या तुम्हारे हाथ से आहार लेना हमारे लिए उचित कहा जा सकता है? लेकिन हम आहार न ले तो जाए कहा? अतएव विवश होकर हमे आहार लेना पडेगा। तथापि वह आहार हमारे उदर मे जाकर किस प्रकार की दुर्भावना उत्पन्न करेगा? और अगर तुम अणुव्रतो का पालन करते होओगे तो तुम्हारे हाथ से दिया आहार हमारे उदर मे पहुचकर कितनी सद्भावना उत्पन्न करेगा? तुम्हारे अणुव्रतो के पालन की पवित्रता हमारे महाव्रतो मे भी पवित्रता का सचार करेगी। तुम धर्म की दृष्टि से हमारे सहधर्मी हो तो अपने व्रतो का सम्यक् प्रकार से पालन करके, महाव्रतो के पालन मे हमे सहकार दो।

सहधर्मी की सहायता के बिना जीवन भी नही निभ सकता। जीवन के लिए भी अनेको की सहायता की आवश्यकता रहती है। वृक्ष–वनस्पतिया तो मनुष्यो से दूर हैं, परन्तु विज्ञान का कथन हे कि मनुष्य का जीवन वनस्पति की सहायता के आधार पर ही टिका हुआ है। मनुष्य समाज ऑक्सीजन हवा पर जीवित हे। क्षणभर के लिए भी मनुष्य को ऑक्सीजन वायु न मिले तो उसका जीवन दूभर हो जाये। ऑक्सीजन वायु मानवसमाज के लिए प्राणवायु है, इसी प्राणवायु के आधार पर मनुष्य जीवित हे। मनुष्य अपने भीतर ऑक्सीजन वायु खीचता है ओर उसके बदले कारबॉनिक हवा श्वास द्वारा बाहर निकालता हे। अगर वह कारबॉनिक हवा सचार मे फेल जाये तो दुनिया के लोग जीवित न रहे। किन्तु वृक्ष–लता आदि वनस्पति मानो मानव–समाज की रक्षा के लिए, उस कारबॉनिक वायु को अपने अन्दर खीच लेते हे ओर उसके बदले ऑक्सीजन हवा देते हैं। वृक्षो को ऑक्सीजन हवा की आवश्यकता नही है। उन्हे कारबॉनिक हवा चाहिए। इस प्रकार जा ऑक्सीजन वायु

मानवसमाज के लिए प्राणवायु है, वही वृक्षो के लिए विषवायु है और जो कार्बोनिक वायु मानव समाज के लिए विषैली है, वह वृक्षो के लिए प्राणवायु है। अब देखना चाहिए कि मानवसमाज पर वृक्षो का कितना उपकार है? तुम वनस्पति को तोडने मरोडने के लिए उद्यत रहते हो, लेकिन वनस्पति का तुम्हारे ऊपर कितना महान् उपकार है! तुम उसका महत्व नही समझते। पाश्चात्य लोग धर्म को भले ही न जानते हो, पर वे शरीर व्यवहार को भलीभाति जानते है और इसी कारण अपने बगलो मे बाहर वृक्षारोपण करते हैं। उनकी स्त्रिया वृक्षो की सिचाई का भी काम करती हैं। वे लोग धर्म समझकर तो यह कार्य करते नही हैं, किन्तु जीवन के लिए वृक्षो को सहधर्मी मानकर उनका आरोपण, सिचन आदि करते हैं, उन्हे भली–भाति मालूम है कि वृक्ष हमारे जीवन को प्राणवायु देते हैं, वे हमारे प्राणरक्षक हैं और इस कारण वे सहधर्मी हैं।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार व्यवहार मे सहधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार धर्म का पालन करने मे भी सहधर्मी की सहायता आवश्यक है।

जिस प्रकार तुम हमारे साधर्मी हो, उसी प्रकार श्रावक–श्रावक भी आपस मे सहधर्मी हैं। श्रावको को भी पारस्परिक सहायता की अपेक्षा रहती है। किन्तु कुछ लोगो का कहना है कि साधुओ की सेवा करना तो धर्म है मगर श्रावक की सेवा करना पाप है। इस तरह कहने वाले लोग इतना भी नही सोचते कि अकेले मे तो धर्म भी नही टिक सकता। धर्म के लिए सहधर्मी की सहायता की आवश्यकता है और इस कारण साधर्मी की सेवा करना कल्याण का मार्ग है। साधुओ को श्रावको की सहायता की आवश्यकता है और श्रावको को साधुओ की सहायता आवश्यक है। परन्तु साधु और श्रावक लिग से साधर्मी न होने के कारण साधु, श्रावको की सेवा नही कर सकते। मगर श्रावक, श्रावक की सेवा करे तो वह पाप का नही वरन् कल्याण का मार्ग है।

गुरु और साधर्मी किसे कहना चाहिए, बस, विषय का विवेचन किया जा चुका। ऐसे सुपात्र गुरु और सहधर्मी की सेवा करने से महान् फल की प्राप्ति होती है। अतएव गुरु और साधर्मी की सेवा करके कल्याण प्राप्त करो।

तीसरे बोल मे धर्मश्रद्धा का फल बतलाया गया था और इस चौथे बोल मे गुरु और साधर्मी की सेवा की चर्चा की गई है। तीसरे और चौथे बोल के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार करने से स्पष्ट मालूम होता है कि जिसमे धर्मश्रद्धा होगी, वह गुरु और साधर्मी की सेवा करेगा ही। अर्थात् गुरु और

साधर्मी की सेवा वही कर सकता है जिसमे धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा होगी। सच्ची श्रद्धा के अभाव मे सेवा–शुश्रूपा करना कठिन है। भर्तृहरि ने भी कहा है –

सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य ।

अर्थात्–सेवाधर्म ऐसा गहन है कि वह योगियो के लिए भी कठिन है। इस प्रकार सेवा करना योगियो के लिए भी अत्यन्त कठिन माना गया है। किन्तु जिसमे धर्म श्रद्धा होगी वह किसी कठिनाई का अनुभव किये विना ही सेवा करेगा और गुरु तथा सहधर्मी की सेवा के पीछे अपना सर्वस्व अर्पण कर देगा।

गुरु और सहधर्मी किसे कहते है और उन दोनो का आपस मे क्या सम्बन्ध है।' इस सम्बन्ध मे पहले कुछ विचार किया जा चुका है। यहा फिर प्रकाश डाला जाता है।

शास्त्र मे गुरु के मुख्य दो भेद किये गये हैं–लोकिक गुरु और लोकोत्तर गुरु। साधर्मी के भी ऐसे ही दो भेद हैं पहले लौकिक गुरु के विषय मे विचार करे। इससे लोकोत्तर गुरु का भी परिचय मिल जायगा। श्री दशवेकालिक सूत्र मे कहा गया है –

अप्पणट्ठा परट्ठावा सिप्पार्ण वा गिंहकारणा।
गिहिणो उवभोगठ्ठा इहलोगस्साकारणा।।
जेण बध वह घोर परियाव च दारुण।
सिक्खमाणा अच्छति जुत्ता ते ललिइ दिया।।

दश अ 9 उ गा 13–14

अर्थात्–शिष्य लोग इस विचार से शिल्पकला आदि का शिक्षण लेते है कि शिल्पकला के शिक्षण से अपने को तथा अपने कुटुम्वी अथवा आश्रितो को जीवनोपयोगी वस्तुए प्राप्त हो सकेगी और इस प्रकार ससार–व्यवहार भली–भाति निभ सकेगा।

शिल्पकला मे अनेक कलाओ का समावेश हो जाता है। दर्जी सुतार लुहार, सुनार आदि की कलाए शिल्पकला मे समाविष्ट है और इसलिए इस प्रकार की अन्यान्य कलाए भी शिल्पकला ही कहलाती ह।

आज अक्षरज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता हे आर पोथिया पढाई जा ।। हैं। किन्तु कोरे अक्षरज्ञान से क्या जीवन स्वतन्त्र स्वावलम्बी वन सकता हे? आज तो उलटा यही दिखाई दे रहा ह कि कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण से जीवन परतन्त्र वन रहा हे। जीवन की इस परतन्त्रता का प्रधान कारण

शिल्पकला की शिक्षा का अभाव है। जीवन को स्वतन्त्र बनाने मे शिल्पकला की शिक्षा की बडी आवश्यकता है। वस्तुत सच्ची शिक्षा वही है जो परतत्रता के बन्धनो से आत्मा को मुक्त करती है। 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात विद्या वही है जो मुक्ति पदान करे। मुक्ति, बन्धनो से ही होती है, अतएव परतन्त्रता के बन्धन तोडकर बन्धन–मुक्त करने वाली विद्या ही सच्ची विद्या है।

जीवन परतन्त्र न बने, इसलिए शास्त्रकारो ने 72 कलाओ के शिक्षण का विधान किया है। बहत्तर कलाओ मे समस्त कलाओ का समावेश हो जाता है। जिसने बहत्तर कलाओ की शिक्षा ली होगी, वह कभी पराया मुह नही ताकेगा। उसका जीवन परतत्र नही, स्वतत्र होगा। मनुष्य को परतत्र बनाने वाली विद्या वास्तव मे विद्या ही नही है।

आज की कहलाने वाली विद्या पाप्त करके भले ही थोडे से वकील या डाक्टर पैदा हो जाए, मगर इतने मात्र से यह नही कहा जा सकता कि आधुनिक शिक्षा परतत्रता मिटाने वाली और स्वतन्त्रता दिलाने वाली है। थोडे से डाक्टरो और वकीलो को अच्छी कमाई हो जाती है, इस कारण आज की शिक्षा अच्छी ओर परतन्त्रता दूर करने वाली है, यह कदापि नही कहा जा सकता। वास्तव मे आधुनिक शिक्षा स्वतन्त्रता दिलाने वाली नही है शिल्पकला का जानकार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आजीविका उपार्जन कर सकता है। कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण से स्वतन्त्रभाव से आजीविका नही चलाई जा सकती। यह बात तो आज स्पष्ट दिखाई देती है। इसी कारण आज अक्षरज्ञान के साथ शिल्पकला के शिक्षण की आवश्यकता है। आज सर्वत्र इस प्रश्न की चर्चा हो रही है। मानसिक शिक्षा के साथ शारीरिक–औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता रहती हे। अक्षरज्ञान की शिक्षा के साथ शिल्पकला की शिक्षा दी जाये तो सरलतापूर्वक आजीविका चलाई जा सकती है ओर जीवन व्यवहार स्वाध ीनभाव से निभाया जा सकता हे।

अक्षरज्ञान या शिल्पकला की शिक्षा पाने के लिए शिष्यो को गुरु की आज्ञा माननी पडती है और उनकी आज्ञा के अनुसार शिक्षा लेने से ही शिष्य शिक्षित बन सकता है। श्री दशवैकालिकसूत्र मे कहा है कि शिष्य लौकिक कला सिखलाने वाले लौकिक गुरु के आज्ञानुसार चलता है और उनकी आज्ञा के अनुसार ही शिक्षा लेता है। प्राचीन काल मे लौकिक गुरु की आज्ञा का भी कितनी सुन्दरता के साथ पालन किया जाता था, इस बात पर प्रकाश डालने वाले अनेक उदाहरण पाचीन ग्रन्थो मे देखे जाते है। श्रीकृष्ण को भी उनके लौकिक गुरु सादीपिनी की पत्नी ने जगल मे लकडी काट लाने के लिए भेजा

था। श्रीकृष्ण जैसे शिष्य भी गुरुपत्नी की आज्ञा शिरोधार्य कर जगल मे लकडी काटने गये थे।

जब लौकिक गुरु की आज्ञा का भी इस प्रकार पालन किया जाता है तो सूत्रज्ञान देने वाले लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का किस प्रकार पालन करना चाहिए? यह बात सहज ही समझी जा सकती है। जब लौकिक और लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का पालन किया जाता है तभी उनके द्वारा दी गई शिक्षा फलदायिनी सिद्ध होती है। ऐसा किये बिना शिक्षा सफल नही होती।

आज शिक्षक नौकर समझे जाते हैं। शिक्षक भी अपने आपको नौकर ही समझते हैं और जिस किसी उपाय से अपनी नौकरी बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भले ही उनके द्वारा किसी विद्यार्थी को लाभ पहुचे या नही। पहले विद्या का विक्रय नही होता था, आज विक्रय हो रहा है। इसी कारण विद्यार्थी को पढने और शिक्षक को पढाने मे जैसी चाहिए वैसी रुचि और प्रीति नही होती। फलस्वरूप विद्या फलदायिनी नही होती, जैसा कि आजकल देखा जा रहा है। विद्या ग्रहण करने मे विनय की और विद्या देने मे प्रेम की आवश्यकता रहती है। विनय के बिना विद्या ग्रहण नही की जा सकती और प्रेम के अभाव मे विद्या चढती नही है। आज विद्यार्थी मे शिक्षको के प्रति विनयभाव नही देखा जाता, तब शिक्षको मे भी विद्यार्थियो के प्रति प्रेम का अभाव पाया जाता है। इस कारण विद्योपार्जन और विद्यादान दोनो ही नहीं देखे जाते। जैसे विद्योपार्जन के लिए विद्यार्थियो मे विनय की आवश्यकता है, उसी प्रकार विद्यादान देने मे शिक्षको के हृदय मे प्रेम की आवश्यकता है।। विद्योपार्जन करने के लिए विद्यार्थियो को शिक्षको का विनय करना चाहिए। जो विद्यार्थी शिक्षक की सेवा या विनय–भक्ति नही करता वरन् अवज्ञा करता है, वह अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनाता है। इसी प्रकार शिक्षको को भी, विद्यादान देने के लिए विद्यार्थियो के प्रति प्रेम ओर वात्सल्य का भाव रखना चाहिए। ऐसा करना ही विद्या की सच्ची उपासना करना हे।

जिस प्रकार गुरु की सेवा शुश्रूषा करना आवश्यक हे, उसी प्रकार सहधर्मी की सेवा–सुश्रूषा करना भी आवश्यक हे। जेसे गुरु उपकारक हें उसी प्रकार सहधर्मी भी उपकारक हे। सहधर्मी के भी दो भेद हें– लोकिक ओर लोकोत्तर। जैसे लोकिक गुरु ओर सहधर्मी की सेवा करना आवश्यक हे उसी प्रकार लोकोत्तर गुरु और सहधर्मी की सेवा–शुश्रूषा करना भी आवश्यक हे। गुरु और सहधर्मी दोनो जीवनसाधना के पथप्रदर्शक होने के कारण उपकारक है और इसीलिए उनकी सेवा–शुश्रूषा करना भी आवश्यक हे।

गुरु और सहधर्मी की शुश्रूषा करने से किस गुण की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते हैं– गुरु और सहधर्मी की सेवा करने से सेवक को विनयगुण की प्राप्ति होती है। जिसमे सेवा करने की भावना होती है उसमे विनयगुण होता ही है। इस कथन के अनुसार गुरु और सहधर्मी की सेवा करने वाले मे भी विनयगुण आता है। यो तो विनय और सेवा एक ही बात है, परन्तु धर्मश्रद्धा से उत्पन्न हुए सेवाभाव को शास्त्रकार ने कदाचित् 'शुश्रूषा' नाम दिया है और सेवाभावना के कियात्मकरूप को विनय कहा है। हृदय मे जब सेवाभाव होता है तभी विनय आता है। केवल ऊपर से नम्रता धारण करना विनय नही कहलाता, पर जो नम्रता सेवाभाव के साथ हो उसी को विनय कहते हैं। विनय, सेवाभाव के साथ किस प्रकार होता है यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू–

दो मित्र हैं। उनमे एक भीख मागकर पैसा लाता है और दूसरा मेहनत द्वारा कमाई करके पैसा लाता है। तुम इन दो मित्रो मे से किसे अच्छा समझोगे? निस्सन्देह तुम उसी को अच्छा मानोगे जो कमाई करके पैसा लाता है। भीख मागने वाले को तुम अच्छा नही मानोगे। इसी प्रकार जो विनय गुरु और सहधर्मी की सेवा रूपी मेहनत करके प्राप्त किया जाता है, उसी विनय का महत्व है और ऐसा सेवायुक्त विनय ही लाभकारक सिद्ध होता है।

विनय का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि आठ कर्मो के कारण ससारचक्र मे भ्रमण करने वाले आत्मा को मुक्त करने के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'विनय' कहलाती है। यद्यपि विनय भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का है, किन्तु यहा लोकोत्तर विनय के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसी का वर्णन किया गया है। जो अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहता होगा, उसमे विनय भी होगा ही।

विनयगुण की प्राप्ति होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि विनयगुण की प्राप्ति से आत्मा मे अनासातना का गुण प्रकट होता है। अनासातना क्या है?

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति मे जो बाधक हो उसे आसातना कहते हैं। उदाहरणार्थ–जब लक्ष्मी तिलक काढने आये तब मनुष्य मुह धोने चला जाये, या लक्ष्मी को लट्ठ मारकर भगा दे–उसे अपने पास न आने दे, इसी प्रकार जो आत्मा मे रत्नत्रय को न आने दे, वह आसातना दोष कहलाता है। जब आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी लक्ष्मी आने को होती है, तब यह आसातना दोष उन्हे रोकता है। इस

प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी को आत्मा मे न आने देने के लिए आसातना दोष डण्डे की तरह काम करता है।

आत्मा अनादिकाल से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी ऐश्वर्य का स्वामी है फिर भी वह अपने ही आसातना दोष के कारण अपने इस ऐश्वर्य को प्राप्त नही कर सकता। जैसे कोई मनुष्य अपने यहा आती हुई लक्ष्मी को लठ्ठ मार कर भगा दे, या अपने घर का द्वार बन्द कर ले, और फिर दु खडा रोता फिरे कि मेरे यहा लक्ष्मी नहीं आती ! तो ऐसी स्थिति मे दोषी कौन? इसी तरह जव आत्मा के पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी आती है, तब आत्मा स्वय ही आसातना करके उसे रोक देता है और उसे आने नही देता। आत्मा को रत्नत्रय रूप लक्ष्मी तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा मे विनय हो और विनयगुण द्वारा अनासातना गुण प्रकट हो। जहा तक आत्मा आसातना रूपी द्वार बन्द किये रखता है तव तक आत्ममन्दिर मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी का प्रवेश नही हो सकता।

घर के सभी द्वार और खिडकिया बन्द कर दी जाए तो हवा या प्रकाश का किस प्रकार प्रवेश हो सकता हे? हालाकि प्रकृति हवा और प्रकाश देती है, मगर इस अवस्था मे वह भी किस तरह दे सकेगी? यह वात वैज्ञानिक दृष्टि से देखो। वैज्ञानिको का कथन हे कि घर मे वायु ओर प्रकाश आना आवश्यक हे। आजकल के लोग तो वडे–वडे मकान बनवाकर अभिमान से फूले नही समाते, परन्तु वेज्ञानिक कहते हे कि बडा भारी विशाल मकान वनवाकर तुमने कुदरत के साथ लडाई मोल ली है। कुदरत का कोप होने पर वहुधा वडे–वडे मकान छोडने पडते हे ओर जगल की शरण लेनी पडती हे। यह विशाल भवन स्वास्थ्य का नाश करने वाले होते हैं। वेज्ञानिको के कथनानुसार वडे–वडे मकान बनवा कर तुम घमड मत करो। वल्कि यह समझो कि ऐसा करके हमने कुदरत के साथ लडाई ठानी हे ओर कुदरत से मिलने वाला लाभ गवा दिया हे।

इसी प्रकार शरीर पर ठास–ठास कर वस्त्र लादकर भी प्रकृति के साथ वेर बाधा जाता हे ओर प्रकृति से मिलने वाले लाभ से लोग वचित होते हैं। इस उष्ण देश मे अधिक कपडा लादने की आवश्यकता नही है। मगर आज शरीर पर तीन से कम कपडा पहनना फेशन के खिलाफ माना जाता है। लोग यह नही समझते कि अधिक कपडा पहनना शरीर–स्वास्थ्य को हानि पहुचाता हे। अधिक वस्त्र धारण करके शरीर–स्वास्थ्य को हानि पहुचाना ही क्या फेशन हे ? यह फेशन नही वरन् शरीर विगाडने के लिए एक प्रकार का 'लेसन' (Lesson) है। फेशन–लेशन का पाठ न पढने मे ही कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार घर के द्वार और खिडकिया बन्द कर रखने से घर मे हवा पकाश का आना रुक जाता है, उसी प्रकार आसातना दोष रूपी द्वार बन्द कर देने से आत्मा मे सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी का प्रवेश नही होता। आत्मा जब आसातना दोष से रहित होकर विनयशील एव अनासातनाशील बन जाता है तभी उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है।

सोने मे रत्न जडने के लिए सोने को कुन्दन बनाया जाता है अर्थात् विकार होने के कारण सोने मे जो कडकपन होता है, उसे अग्नि द्वारा दूर करके सोना नरम बनाया जाता है। उसी प्रकार आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नो को जडने के लिए आत्मा को विनयशील और अनासातनाशील बनाने की आवश्यकता है। जब तक सोने का विकार हटाकर उसमे स्वाभाविक नरमाई न आये, तब तक सोने मे रत्न को पकड रखने की शक्ति नही आ सकती। यद्यपि कोई महापुरुष ही आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्न जडता है, परन्तु आत्मा इन रत्नो को तभी पकड सकता है जब आत्मा मे स्वाभाविक नम्रता आ जाती है। आसातना दोष के कारण आत्मा मे एक प्रकार की अकड रहती है। यह अकड जब तक बनी रहती है तब तक आत्मा रत्नत्रय को नही पकड सकता। अतएव आत्मा को सबसे पहले विनयशील और अनासातनाशील बनाने की आवश्यकता है।

अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा है कि अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा नरक, तिर्यंच और मनुष्य, देव की दुर्गतियो मे से बच जाता है और सद्गति प्राप्त करता है। शास्त्रकारो ने नरक और तिर्यंचगति दुर्गति बतलाई ही है मगर मनुष्यगति और देवगति मे भी दुर्गति कही है। इस दुर्गति से बचने का उपाय अनासातना गुण ही है। आत्मा प्रत्येक गति मे जा चुका है लेकिन उसमे अभी तक नम्रता नही आई और इसी कारण वह ससार मे भ्रमण कर रहा है। आज भी बहुतेरे लोग लक्कड की तरह अकड कर रहते है। ऐसी अकड वाले लोगो की आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी त्रिरत्न किस तरह जडे जा सकते हैं? इसलिए जैसे माता अपने बालक को हितशिक्षा देती है उसी प्रकार शास्त्रकार हम लोगो को शिक्षा देते है कि—हे जीवो, अकड कर मत रहो, अभिमानी मत बनो नम्रता धारण करो। तुम मे जैसे अकड कर रहने की शक्ति है, उसी प्रकार नम्र बनने की भी शक्ति है। फिर अकड मे रहकर दुर्गति मे किसलिये भ्रमण करते हो? और विनम्र बनकर दुर्गत के भ्रमण से क्यो नही बचते?

सब जीव सद्‌गति पाने की ही अभिलाषा करते हैं, परन्तु इस अभिलाषा के साथ विनम्र बनने की इच्छा नही करते हैं। यद्यपि विनम्रता धारण करने मे किसी का किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नही है, फिर भी आत्मा धर्म के समय अकड कर रहता है। आत्मा किस प्रकार अकडबाज बन जाता है, यह बात महावीर स्वामी ने शास्त्र मे बतलाई है।

ज्ञातासूत्र मे बतलाया गया है कि मेघकुमार ने भगवान् महावीर के निकट दीक्षा अगीकार की थी। वह सब से छोटे साधु थे, अत उन्हे सोने के लिए रात्रि मे सब से अन्त का स्थान मिला। मेघकुमार की शय्या अन्त मे होने के कारण रात्रि मे उनकी शय्या के पास से जब साधु बाहर जाते–आते तो उनके पैर की ठोकर मेघकुमार को लगती। उन्हे आराम से नीद नही आई। साधुओ की ठोकरे लगने के कारण नीद न आने से वह सोचने लगे – यह तो जान–बूझकर नरक की यातना भोगना है। यहा मेरी कोई कद्र ही नही करता। मैं जब राजकुमार था तब यही साधु मेरी कद्र करते थे। जब मै साधु हो गया हू तो कोई परवाह ही नही करता। उलटी इनकी ठोकर खानी पड रही है। ऐसा साधुपन मुझसे नही पलने का। बस, सुबह होते ही यह साधुपन छोडकर मैं घर चल दूगा। लेकिन चुपचाप चला जाना ठीक न होगा। जिनके निकट मैंने दीक्षा अगीकार की हे उन भगवान् की आज्ञा लेकर और उन्हे यह उपकरण सौंपकर अपने घर का रास्ता लूगा।

मेघकुमार ने रात के समय यह विचार किया ओर सुबह होते ही वह भगवान् के पास आ पहुचे। भगवान् तो सर्वज्ञ ओर सर्वदर्शी थे, उनसे क्या छिपा था? वह पहले–से ही सब जानते थे। उन्होने अपने पास आये मेघकुमार से कहा 'मेघ! रात्रि के समय साधुआ की ठोकरो के परिषह से घबराकर तुमने साधुपन छोडने और घर जाने का विचार किया हे। इसलिए तुम मेरे पास आये हो।'

मेघकुमार कुलीन थे। वह मन ही मन कहने लगे – अच्छा ही हुआ कि में भगवान् के पास चला आया। भगवान के पास आये विना ही परबारा चला गया होता तो वहुत बुरी वात होती भगवान् तो घट–घट की जानत हें। मेरे कहने से पहले ही उन्होंने मेरे मन की वात कह दी हे।

इस प्रकार विचार करते हुए मेघकुमारने भगवान् से कहा–'भगवन आपका कथन सत्य हे। मुझसे भूल हो गई हे।

भगवान् ने कहा—'मेघ! आज तुम इतने से कष्ट से घबरा गये, पर इससे पहले वाले भव मे तुमने कैसे—कैसे कष्ट सहन किये हैं, इस बात पर जरा विचार करो। इससे पहले भव मे तुम हाथी थे। हाथी के उस भव मे दावानल से बचने के लिए तुमने घास—फूस आदि हटा कर एक मडल तैयार किया था और जगल मे दावानल सुलगने पर जब बहुत—से जीव अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से तुम्हारे बनाये मडल मे आने लगे, तब तुमने प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्वो पर करुणा करके उन्हे स्थान दिया था। इतना ही नही, खुजली आने पर जब तुमने अपना एक पैर ऊपर उठाया तो एक खरहा तुम्हारे पैर से खाली हुई जगह मे आ बैठा। उस खरहे पर दयाभाव लाकर तुमने अढाई दिन तक अपना पैर ऊपर उठाये रखा था। इस नम्रता और करुणा की बदौलत ही तुम्हे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। हाथी के भव मे तो तुमने इतनी नम्रता और करुणा धारण की और इस भव मे साधारण से कष्ट सहन न कर सकने के कारण साधुपन छोडने को तैयार हो गए। पहले के कष्टो की तुलना मे यह कष्ट तो बहुत साधारण है। तिस पर पहले हाथी थे और अब मनुष्य हो। ऐसी स्थिति मे विचार करके तो देखो कि तुम्हे कितनी सहिष्णुता रखनी चाहिए।

हे मेघ! हाथी की पर्याय मे जीवो पर करुणा रखने और नम्रता धारण करने से इस भव मे तुम राजा श्रेणिक के पुत्र और मेरे शिष्य हो सके हो। हाथी के भव मे इतनी अधिक सहनशीलता धरण की थी तो क्या इस भव मे थोडी—सी सहिष्णुता भी नही रख सकते? साधुओ की ठोकर लगने से ही साधुपन छोडने के लिए तैयार हो गये हो! क्या साधुपन त्याग देने से तुम सुखी बन जाओगे? मेघ! तुम इन सब बातो पर विचार करो और साधुपन त्याग का विचार त्याग दो।'

भगवान् के वचन सुनकर मेघकुमार प्रभावित हुआ। उसने यहा तक निश्चय कर लिया कि सयम पालन के लिए आवश्यक आखो के सिवाय मेरा सारा शरीर साधुओ की सेवा के लिए समर्पित है। इस प्रकार की नम्रता धारण करने से मेघकुमार आयुक्षय होने पर विजय नामक विमान मे उत्पन्न हुआ। वहा से पुन मनुष्य—जन्म धारण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

कहने का आशय यह कि कभी—कभी आत्मा मे ऐसी कठोरता आ जाती है तथापि आत्मा जितनी जल्दी नम्रता धारण करे, उतनी ही जल्दी सुगति प्राप्त करेगा। प्राचीनकाल के पुरुष धर्मकार्य के लिए कितने नम्र होते थे ओर धर्मकार्य मे कितना रस लेते थे और उसके लिए कितना उत्सर्ग करते

थे, इस बात का विचार करो। आजकल तो किसी युक्ति से धर्मकार्य से वच निकलने मे ही बुद्धिमता समझी जाती है। मगर यह सच्ची बुद्धिमता नही हैं। हमारी समझ मे सच्ची बुद्धिमत्ता इसमे हैं –

सर जावे तो जावे, मेरा सत्यधर्म नही जावे।
सत्य के कारण रामचन्द्र जी वनफल बीनकर खावे।।मेरा।।

यह तो पुराने जमाने की बात है। मध्यकाल मे भी ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाए सुनी जाती है कि सत्यधर्म की रक्षा के लिए प्राणो तक की परवाह नही की गई। सत्यधर्म की रक्षा करने के लिए सिख शिरोमणि तेगबहादुर ने प्राणो को भी निछावर कर दिया था।

तेगबहादुर की कथा औरगजेब के जमाने की है। औरगजेब बडा ही धर्मान्ध बादशाह था। वह किसी भी उपाय से लोगो को मुसलमान बनाना चाहता था। एक दिन कुछ लोगो ने उसे मुसलमान बनाने का उपाय सुझाया। वह उपाय यह था कि अगर लोगो को कष्ट झेलना पडे तो वे घबराकर मुसलमान बन जाएगे। अब प्रश्न हुआ कि कौनसा कष्ट पडने पर लोग मुसलमान बन सकेगे? इस प्रश्न के समाधान मे उसे सूझा–दुष्काल के समान ओर कोई कष्ट नहीं है। अगर दुष्काल का कष्ट पडे तो लोग जल्दी मुसलमान बन सकते हैं। इस विचार के साथ ही उसने सोचा–मगर दुष्काल पडना तो कुदरत के हाथ की बात हे। मुझसे यह किस प्रकार हो सकता हे?

मुसिलम धर्म नही कहता कि किसी को बलात्कार से मुसलमान बनाया जाये या किसी पर अत्याचार किया जाये, मगर मनुष्य जब धर्मान्ध बन जाता है तो उसमे वास्तविक धर्माधर्म के या योग्यायोग्य के विचार करने की शक्ति नही रहती। राजा का धर्म तो यह हे कि किसी सकट के समय प्रजा की सहायता करे, मगर ओरगजेब तो धर्मान्धता के कारण उलटा दुष्काल बुलाने का विचार कर रहा हे।

ओरगजेब सोचने लगा अगर दुष्काल पड जाये ओर लोगो का अन्न न मिले तो वे जल्दी मुसलमान हो जायेगे। लेकिन कुदरत का कोप हुए विना दुष्काल कैसे पड सकता हे। ऐसी दशा मे मैं अपना विचार अमल म कैसे लाऊ? विचार करते–करते आखिर वह कहने लगा–म बादशाह हू। क्या बादशाह के जोर से म अकाल पेदा नही कर सकता? इस प्रकार सोचकर बादशाह ने करीब दो लाख सेनिक काश्मीर म भेजे ओर वहा क धान्य स

लहराते हुए खेतो पर पहरा बिठला दिया। किसान धान्य काटने आते तो उनसे कहा जाता–मुसलमान बनना मजूर हो तो धान्य काट सकते हो, वर्ना अपने घर बैठो। इस पकार अन्न–कष्ट के कारण कितने ही किसान मुसलमान बन गये। जब बादशाह को यह वृत्तात विदित हुआ तो वह अपनी करतूत की सफलता अनुभव करके बहुत पसन्न हुआ। साथ ही उसने अन्य पातो मे भी यह उपाय आजमाने का निश्चय किया। दूसरा नम्बर पजाब का आया।

पजाब मे बादशाह ने यही तरीका अख्तियार किया। लोग त्राहि–त्राहि पुकारने लगे। इस दुर्दशा के समय क्या करना चाहिए, यह विचार करने के लिए बहुत से लोग तेगबहादुर के पास आये और कहने लगे 'बादशाह ने सारे पात मे यह जुल्म आरम्भ कर दिया है। अब क्या करना उचित है?' गुरु तेगबहादुर ने कहा–'तुम लोग बादशाह के पास यह सन्देश भेज दो कि हमारा गुरु तेगबहादुर मुसलमान बन जायेगा तो हम सब भी मुसलमान हो जाऐगे। कदाचित् वह मुसलमान न बने तो हम भी नही बनेगे। आप तेगबहादुर को पकडकर उनसे पहले निबट लीजिए।'

तेगबहादुर की बात सुनकर लोग कहने लगे–यह सन्देश भेजने से तो आपके ऊपर आपदा आ पडेगी। मगर बहादुर तेगबहादुर ने कहा–'सिर पर आपत्ति आ पडे या प्राण चले जाए, तो भी परवाह नही। कष्ट सहन किये बिना धर्म की रक्षा कैसे हो सकती है?'

अन्तत लोगो ने उपर्युक्त सन्देश बादशाह के पास भेज दिया। बादशाह ने तेगबहादुर को बुला भेजा। वह जाने को तैयार हुए। उनके शिष्यो ने कहा–'आप हमे यही छोडकर कैसे जा सकते हैं? बादशाह आपके प्राण ले लेगा।' तेगबहादुर ने उत्तर दिया–'यह तो मैं भी जानता हू। लेकिन, मेरे प्राण देने से औरो की रक्षा होती है, अगर मै अपने प्राण बचाता हू तो दूसरो की रक्षा नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे अपने प्राण देना ही मेरे लिए उचित है। मेरे बलिदान से दूसरो की रक्षा होगी यही नही वरन् धर्मरक्षा के लिए प्राणार्पण करने की भावना भी जनता मे जाग उठेगी।'

इस प्रकार अपने शिष्यो को समझा–बुझाकर गुरु तेगबहादुर औरगजेब से मिलने गये। औरगजेब ने उन्हे मुसलमान बनने के लिए बहुत समझाया और प्रलोभन दिये। मगर तेगबहादुर ने बादशाह को यही उत्तर दिया–'आपको अपना धर्म प्यारा है और मुझे अपना धर्म प्यारा है। धर्म पालन के विषय मे किसी प्रकार का दबाव नही होना चाहिए। आप अपना धर्म पाले, मैं अपना धर्म पालू। अगर आपको अपने धर्म के प्रति इतना आग्रह है तो क्या मुझे अपने धर्म पर दृढ नही रहना चाहिए?'

बादशाह बोला–'तुम्हारा धर्म झूठा है। अगर उसमे कुछ सचाई है तो दिखलाओ कोई चमत्कार।'

तेगबहादुर ने कहा– 'चमत्कार बतलाना जादूगरो का काम है। परमात्मा का सच्चा भक्त चमत्कार दिखलाता नहीं फिरता।'

बादशाह–'चमत्कार नहीं दिखा सकते तो यह क्यो नही कहते कि चमत्कार जानते ही नही हो।'

तेगबहादुर–'प्रकृति की प्रत्येक वस्तु मे चमत्कार भरा है। उस चमत्कार को देखो।'

बादशाह कहने लगा – 'अगर तुम मुसलमान धर्म स्वीकार नहीं करना चाहते तो मृत्यु का आलिगन करने के अतिरिक्त तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं।'

तेगबहादुर–'मरने के लिए तो मै तैयार ही हू। धर्म के लिए प्राण देने से अधिक प्रसन्नता की और क्या बात हो सकती हे?'

बादशाह ने हुक्म दिया–'तेगबहादुर को बाजार के बीचोबीच ले जाओ और वहा इसका सिर काट डालो।' सिर काटने के पश्चात् तेगबहादुर के गले मे एक चिट्ठी पाई गई। उसमे लिखा था सिर तो दिया, मगर शिखा नही दी। अर्थात् प्राणो का उत्सर्ग कर दिया किन्तु हिन्दूधर्म का त्याग नही किया।

इस उदाहरण को सामने रखकर आप अपने विषय मे विचार कीजिए कि आपने सत्यधर्म की रक्षा के लिए क्या दिया हे? पहले के लोग धर्मरक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, लेकिन धर्म नही जाने देते थे। आप म कोई ऐसा तो नहीं हे जो थोडे से पेसो के लिए भी धर्म का त्याग कर देता हो? जिस मनुष्य मे से नीति चली जाती है, उसमे धर्म भी नही रहता।

औरगजेब ने सोचा तो यह था कि तेगबहादुर को मरवा डालने रा लोग जल्दी मुसलमान बन जाएगे लेकिन उसका विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध हुआ। तेगबहादुर के बलिदान ने लोगो मे एक प्रकार की धार्मिक वीरता उत्पन्न की। लोगो मे धर्म के लिए मर–मिटने की दृढता देखकर अन्त म ओरगजेब को बलात् मुसलमान बनाने का विचार छोड देना पडा।

इस उदाहरण को उपस्थित करने का आशय यह हे कि धर्म क लिए सभी कुछ त्याग किया जा सकता ह। आजकल अनेक लाग तुच्छ–सी बात के लिए भी धर्म का त्याग करने मे या धर्म की सागन्ध खाने म सकाच नहीं

करते। धर्म सौगन्ध खाने की चीज नही है। धर्म का सम्बन्ध प्राणो के साथ है। प्राण जैसा प्यारा लगता है उसी पकार धर्म प्यारा लगना चाहिए। धर्म जब प्राणो के समान पिय लगे तब समझना चाहिए कि हम मे धर्मश्रद्धा मौजूद है और जब धर्मश्वद्धा प्रकट होगी तो गुरु और सहधर्मी की सेवा-शुश्रूषा द्वारा विनयगुण और अनासातना गुण पकट हुए विना नही रहेगा। अनासातना गुण पकट होकर वह आपको दुर्गति मे जाने से बचाएगा। यही नही वह सद्गति या सिद्धिगति को भी प्राप्त कराएगा। अनासातना गुण विनय की विद्यमानता मे ही पकट होता है। अतएव जीवन मे सबसे पहले विनय-गुण प्रकट करने की आवश्यकता है। विनय धारण करने मे अपना और पर का एकान्त कल्याण ही है।

गुरु और सहधर्मी की सेवाभक्ति करने से आत्मा विनयगुण प्राप्त करता है और विनयगुण से आसातना दोष का नाश होता है। आसातना दोष नष्ट होने पर और अनासातना का गुण प्रकट होने पर आत्मा नरक और तिर्यंच की दुर्गति से बचकर देव और मनुष्य सम्बन्धी सुगति पाता है। मनुष्यो और देवो मे भी दुर्गति और सुगति दोनो प्रकार की गतिया होती है। पुण्य क्षीण होने से नीचे गिरना दुर्गति मे है और अधिकतर आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करना सुगति मे है। अर्थात् देवगति या मनुष्यगति पाकर जो आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करता है वह सुगति मे है और आत्मा का अकल्याण करने वाला दुर्गति मे है। यद्यपि देवभव या मनुष्यभव पाकर भी दु खी रहना दुर्गति है और सुखी रहना सुगति है, परन्तु अनासातना द्वारा पौद्गलिक सुखो की आकाक्षा कदापि नही करनी चाहिए। मनुष्य या देव होकर सुखी बनने का कार्य तो पुण्य से भी हो सकता है। इसीलिए शास्त्रकार यहा तक कहते है कि पुण्य से मनुष्यभव और देवभव मिल सकते है, पर अनासातना गुण प्रकट होने से सिद्धिरूपी सुगति प्राप्त होती है।

यहा मनुष्यगति और देवगति सुगति कही गई है। मेरे ख्याल से, यहा कारण मे कार्य का उपचार किया गया है। मनुष्यगति और देवगति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और इस कारण यह दोनो गतिया मोक्षप्राप्ति मे परम्परा-कारण है। मोक्षरूपी सुगति का कारण होने से इन गतियो को भी सुगति कहा है। यही कारण मे कार्य का उपचार है।

बहुत से देव या मनुष्य देवगति या मनुष्यगति प्राप्त करके भी आत्मिक अकल्याण का कार्य कर बैठते हैं और इसी कारण पुण्य का क्षय होने पर वे पतित हो जाते हैं—अधोगति मे जाते है। इन पतित होने वाले देवो या मनुष्यो के लिए उनकी देवगति या मनुष्यगति भी सुगति नही है।

परमात्मा के आराधक के विषय मे भगवान् ने कहा है कि वह जघन्य उसी भव मे मोक्ष जाता है और उत्कृष्ट 15 भवो मे, मगर वह नीचे नही गिरता। जैसे महल की एक—एक सीढी चढकर महल मे प्रवेश किया जाता है और थोडी सीढिया चढने से भी महल मे पहुचने का मार्ग तय होता है, उसी प्रकार सिद्धिरूप सुगति प्राप्त करने के लिए आगे वढते जाना चाहिए। यह भी सुगति के मार्ग मे जाना कहलाता है।

आत्मा प्रशस्त विनय द्वारा ही सिद्धिगति की साधना कर सकता है और प्रशस्त विनय द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध कर सकता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए, विनय मे भी प्रशस्त विनय की ही आवश्यकता है। जो मनुष्य किसी प्रकार के लोभ से या लालच से, कीर्ति अथवा बडप्पन पाने के लिए नम्रता धारण करता हे, उसकी नम्रता प्रशस्त विनीतता नही कही जा सकती। प्रशस्त विनय वह हे जिसमे किसी भी प्रकार का, तनिक भी लोभ या ऐसा कोई अन्य उद्देश्य न हो। इस प्रकार के लोभहीन विनय आदि गुण ही प्रशस्त है ओर वही मोक्ष के साधक हें। जिसमे प्रशस्त विनय होता हे, वह यह नही सोचता कि यह काम वडा हे या यह छोटा हे। उसकी निगाह मे सभी कार्य एक सरीखे हे।

घर के अनेक कामो मे से कान वडा ओर कोन छोटा हे? कमाई करने को वडा काम ओर भोजन वनाने को छोटा काम समझना क्या भूल नही हे? तुम व्यापार कर रहे हो लेकिन घर पर भोजन न वनाया गया हा तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो? कामो मे छोटे—वडे की कल्पना करके लाग अनेक अनावश्यक दु ख बुला लेते हे। साधुओ के लिए व्याख्यान देना वडा काम हे या वयावच्च (वेयावृत्य मुनियो की सेवा) करना वडा काम हे? किसी का छोटा—वडा मानन से ही विषमता उत्पन्न हाती हे अतएव अपने म जो शक्ति ह उसी के अनुसार काम करना चाहिए ओर पारस्परिक सहकार स काम लेना चाहिए। कार्य मे छाटे—वडे का भेद करना उचित नही ह।

छोटे वडे की विषमता न ही ससार म वडी गडवडी मचा रखी ह। उदाहरणार्थ—चार वर्णो म ब्राह्मण ऊचा माना जाता हे ओर शूद्र नीचा समझा जाता ह। इस ऊच—नीच के भेद—भाव न भीषण विषमता उत्पन्न की ह।

वर्णव्यवस्था तो पहले भी थी, मगर पहले इस पकार का ऊच्च नीच्च का भाव नही था। यह भेदभाव तो पीछे से पैदा हुआ है। ग्रन्थो मे कहा है– भगवान ऋषभदेव ने तीन वर्ण स्थापित किये थे और चोथा वर्ण भरत राजा ने कायम किया था। गीता मे कहा है –

चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट. गुणकर्मविभागश.,
तस्स कर्त्तारमपि मा विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।।4–14।।

अर्थात्–श्रीकृष्ण कहते हैं कि चारो वर्ण मैंने बनाये है। इस पकार वर्ण बनाने वाले भगवान् ऋषभदेव, भरत या कृष्ण हैं। क्या इन्होने किसी को नीच बनाया होगा? नीच तो वह बनाता है जो स्वय नीच हो। क्या भगवान् ऋषभदेव, भरत या श्रीकृष्ण को नीच कहने का साहस किया जा सकता है? कार्य की दृष्टि से वर्णो की व्यवस्था की गई थी, क्योकि वर्ग बनाये बिना काम व्यवस्थित नही होता। इसी अभिपाय से वर्ग या वर्ण की व्यवस्था की गई है, मगर उसमे ऊच–नीच की कल्पना पीछे का विकार है।

चार वर्णो की भाति सघ मे भी साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका यह चार भेद किये गये है। इस चतुर्विध सघ मे से किसे बडा कहा जाये और किसे छोटा माना जाये? क्या साधु ऊच और साध्विया नीच हैं? अथवा श्रावको का दर्जा ऊचा और श्राविकाओ का नीचा है? सब मे इस प्रकार का भेदभाव नही है। यह चारो। श्रमणसघ के भेद है। यह सच है कि साधु, श्रावको की अपेक्षा आचारधर्म का पालन करते है, फिर भी श्रद्धा की दृष्टि से सब समान ही हैं और सब श्रमणसघ मे ही सम्मिलित हैं। श्रमणसघ अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर का सघ। सघ के यह चारो अग सभी कार्य सिद्ध कर सकते है और चारो के होने पर ही सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं। यह भगवान् का कथन है। यद्यपि पत्येक विभाग अपना–अपना कार्य करता है किन्तु उसमे भी आपस की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। मस्तक का काम मस्तक करता है और पैर का काम पैर करता है। तथापि मस्तक को पैर के लिए और पैर को मस्तक के लिए यही समझना चाहिए कि यह काम मेरा ही है। इसी प्रकार सघ मे भी ऊच–नीच का भेद मानकर अनैक्य उत्पन्न करना योग्य नही है। सूत्र मे कहा है कि चौथा व्रत भग करने वाले साधु को आठवा प्रायश्चित आता है लेकिन सघ मे रहते हुए सघ मे तथा कुल मे रहते हुए कुल मे फूट पैदा करने वाला साधु दशवे प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस प्रकार सघ मे फूट

बहुत से देव या मनुष्य देवगति या मनुष्यगति प्राप्त करके भी आत्मिक अकल्याण का कार्य कर बैठते हैं और इसी कारण पुण्य का क्षय होने पर वे पतित हो जाते हैं–अधोगति मे जाते हैं। इन पतित होने वाले देवो या मनुष्यो के लिए उनकी देवगति या मनुष्यगति भी सुगति नही है।

परमात्मा के आराधक के विषय मे भगवान् ने कहा है कि वह जघन्य उसी भव मे मोक्ष जाता है और उत्कृष्ट 15 भवो मे, मगर वह नीचे नहीं गिरता। जैसे महल की एक–एक सीढी चढकर महल मे प्रवेश किया जाता है और सारी सीढिया चढने से भी महल मे पहुचने का मार्ग तय होता है, उसी प्रकार सिद्धिरूप सुगति प्राप्त करने के लिए आगे बढते जाना चाहिए। यह भी सुगति के मार्ग मे जाना कहलाता है।

आत्मा प्रशस्त विनय द्वारा ही सिद्धिगति की साधना कर सकता है और प्रशस्त विनय द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध कर सकता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए, विनय मे भी प्रशस्त विनय की ही आवश्यकता है। जो मनुष्य किसी प्रकार के लोभ से या लालच से, कीर्ति अथवा बडप्पन पाने के लिए नम्रता धारण करता है उसकी नम्रता प्रशस्त विनीतता नही कही जा सकती। प्रशस्त विनय वह है जिसमे किसी भी प्रकार का, तनिक भी लोभ या ऐसा कोई अन्य उद्देश्य न हो। इस प्रकार के लोभहीन विनय आदि गुण ही प्रशस्त है और वही मोक्ष के साधक हैं। जिसमे प्रशस्त विनय होता है, वह यह नही सोचता कि यह काम बडा है या यह छोटा है। उसकी निगाह मे सभी कार्य एक सरीखे हैं।

घर के अनेक कामो मे से कौन बडा और कौन छोटा है? कमाई करने को बडा काम और भोजन बनाने को छोटा काम समझना क्या भूल नही है? तुम व्यापार कर रहे हो लेकिन घर पर भोजन न बनाया गया हो तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो? कामो मे छोटे–बडे की कल्पना करके लोग अनेक अनावश्यक दुःख बुला लेते है। साधुओ के लिए व्याख्यान देना बडा काम है या वैयावच्च (वैयावृत्य मुनियो की सेवा) करना बडा काम है? किसी को छोटा–बडा मानने से ही विषमता उत्पन्न होती है अतएव अपने मे जो शक्ति है, उसी के अनुसार काम करना चाहिए और पारस्परिक सहकार से काम लेना चाहिए। कार्य मे छोटे–बडे का भेद करना उचित नही है।

छोटे बडे की विषमता ने ही ससार मे बडी गडबडी मचा रखी है। उदाहरणार्थ–चार वर्णो मे ब्राह्मण ऊचा माना जाता है और शूद्र नीचा समझा जाता है। इस ऊच–नीच के भेद–भाव ने भीषण विषमता उत्पन्न की है।

वर्णव्यवस्था तो पहले भी थी, मगर पहले इस प्रकार का ऊच नीच का भाव नही था। यह भेदभाव तो पीछे से पैदा हुआ है। ग्रन्थो मे कहा है– भगवान् ऋषभदेव ने तीन वर्ण स्थापित किये थे और चौथा वर्ण भरत राजा ने कायम किया था। गीता मे कहा है –

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं, गुणकर्मविभागश,
तस्स कर्त्तारमपि मा विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।।4–14।।

अर्थात्–श्रीकृष्ण कहते है कि चारो वर्ण मैने बनाये हैं। इस प्रकार वर्ण बनाने वाले भगवान् ऋषभदेव, भरत या कृष्ण है। क्या इन्होने किसी को नीच बनाया होगा? नीच तो वह बनाता है जो स्वय नीच हो। क्या भगवान् ऋषभदेव, भरत या श्रीकृष्ण को नीच कहने का साहस किया जा सकता है? कार्य की दृष्टि से वर्णो की व्यवस्था की गई थी, क्योकि वर्ग बनाये बिना काम व्यवस्थित नही होता। इसी अभिप्राय से वर्ग या वर्ण की व्यवस्था की गई है, मगर उसमे ऊच–नीच की कल्पना पीछे का विकार है।

चार वर्णो की भाति सघ मे भी साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका यह चार भेद किये गये है। इस चतुर्विध सघ मे से किसे बडा कहा जाये और किसे छोटा माना जाये? क्या साधु ऊच और साध्विया नीच हैं? अथवा श्रावको का दर्जा ऊचा और श्राविकाओ का नीचा है? सब मे इस प्रकार का भेदभाव नही है। यह चारो। श्रमणसघ के भेद है। यह सच है कि साधु, श्रावको की अपेक्षा आचारधर्म का पालन करते है, फिर भी श्रद्धा की दृष्टि से सब समान ही है और सब श्रमणसघ मे ही सम्मिलित हैं। श्रमणसघ अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर का सघ। सघ के यह चारो अग सभी कार्य सिद्ध कर सकते हैं और चारो के होने पर ही सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं। यह भगवान् का कथन है। यद्यपि पत्येक विभाग अपना–अपना कार्य करता है किन्तु उसमे भी आपस की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। मस्तक का काम मस्तक करता है और पैर का काम पैर करता है। तथापि मस्तक को पैर के लिए और पैर को मस्तक के लिए यही समझना चाहिए कि यह काम मेरा ही है। इसी प्रकार सघ मे भी ऊच–नीच का भेद मानकर अनैक्य उत्पन्न करना योग्य नही है। शास्त्र मे कहा है कि चौथा व्रत भग करने वाले साधु को आठवा प्रायश्चित आता है किन्तु सघ मे रहते हुए सघ मे तथा कुल मे रहते हुए कुल मे फूट पैदा करने वाला साधु दसवे प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस प्रकार सघ मे फूट

एव अनैक्य पैदा करने का अपराध चौथा व्रत भग करने के अपराध से भी गुरुत्तर है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चोथे व्रत को भग करने वाला अपनी ही हानि करता है। परन्तु सघ मे अनैक्य उत्पन्न करने वाला सम्पूर्ण सघ की और धर्म की भी हानि करता है।

कहने का मूल आशय यह है कि उच्च–नीच की कल्पित भावना से ऊपर उठकर जो मनुष्य विनय की आराधना करता हे वही आत्मकल्याण साध सकता है। वास्तव मे दूसरो का कल्याण करने वाला अपना भी कल्याण करता है और जो दूसरो का कल्याण नही करता वह अपना भी कल्याण नहीं करता। विनयवान् पुरुष दूसरो को भी विनीत बनाता हे और इस प्रकार भगवान के धर्म का प्रचार करता है। विनय के द्वारा भगवान् का धर्म फैलाने वाला भगवान् के समान ही आदरणीय बन जाता है। उदाहरणार्थ एक पुरुष किसी डूबते को बचाता है और दूसरा एक डूबती हुई नोका को बचाता है। हालांकि नौका लकडी की बनी हुई है, फिर भी नौका की रक्षा करने वाला लकडी की नही वरन् नोका के आधार पर रहे हुए अनेक मनुष्यो की रक्षा करता है। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो समदृष्टि की रक्षा करता हे, वही बडा है।

एक मनुष्य ऐसा हे जो सिर्फ अपनी ही सार सभाल रखता है और दूसरा सम्यग्दृष्टि की भी सार–सभाल करता है और इसके लिए कटुक शब्द भी सुन लेता है। इन दोनो प्रकार के मनुष्यो मे से वही बडा हे जो सम्यग्दृष्टि की सेवा करता है। सम्यग्दृष्टि की सेवा करते हुए कभी–कभी कटुक शब्द सुनने का भी अवसर आ जाता हे। परन्तु सच्चा सेवाभावी पुरुष यही विचार करता है कि अगर मेरी निंदा मे कुछ भी सचाई हे तो निंदा सुनकर मुझे अपनी निन्दनीय बात का त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर मेरी निन्दा मे तनिक भी सत्यता नही हे तो यही समझना चाहिए कि मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म शेष हैं और उन्ही के कारण मेरी निन्दा हो रही है। ऐसी निन्दा से मेरी कोई हानि नही होने की। इससे तो मुझे लाभ ही होगा। इस प्रकार विचार कर विनयवान् व्यक्ति प्रशस्त विनयधर्म पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार विनयमूलक धर्म, सिद्धि प्राप्त करने मे पथ–प्रदर्शक होता है। अगर तुम इस विनयमूलक धर्म का पालन करने मे तन–मन से प्रवृत्त होओगे तो तुम्हे भी अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। तुम प्रात काल जिन परमात्मा का स्मरण करते हो उन्होने भी विनयमूलक धर्म द्वारा ही आत्मा का कल्याण किया था। उन महापुरुषो ने आत्मकल्याण के साथ जगत् कल्याण करने का भी ध्यान रखा था। गीता मे कहा है –

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि।। 3–21।।

पूर्ण महापुरुष के लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नही रहता, तथापि वह क्रिया करना छोड नही बैठते है। भगवान् महावीर कृतकृत्य हो गये थे, फिर भी उन्होने जनपद–विहार करके जगत् के कल्याण का प्रयत्न किया था। इस पकार महान् पुरुष समस्त कार्य कर चुकने पर भी कार्य करना त्यागते नही है। क्योकि अगर वह कार्य करना छोड दे तो उनकी देखा–देखी दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लगे। साधारण जनता तो महान् पुरुषो का अनुकरण ही करना जानती है। साधारण लोग उसी मार्ग पर चलते है, जिस पर महापुरुष चलते हो। अतएव तुम्हे किसी भी समय धर्म कार्य का त्याग करना उचित नही है। धर्म कार्य करते रहने से जनता के समक्ष धर्म कार्य का ही आदर्श रहेगा। बडे आदमी धर्म पर प्रीति रखेगे तो दूसरे भी ऐसा ही करेगे।। अगर स्त्रिया ही धर्म के पालन का दृढ निश्चय कर ले तो वह भी जगत् का बहुत कुछ हित कर सकती है। सतिया थोडी ही हुई है, मगर उन्होने अपने आदर्श व्यवहार से जगत् का अपरिमित हित किया है।

सम्यक्त्व स्वरूप

मंगलाचरण

भवबीजाड्कुरजनना, रागाद्याक्षयमुपागतायस्य।
ब्रह्मावा विष्णुर्वा, हरोजिनोवा नमस्तस्मै।।1।।

भावार्थ— ससार परिभ्रमण रूपी बीज के उत्पन्न करने वाले रागादि दोष अर्थात् राग, द्वेष, मोह जिनके क्षय हो गये है ऐसे ब्रह्मा हो, विष्णु हो या श्रीजिनेश्वरदेव हो उन सबको मेरा नमस्कार हो।

अनादि ससार के प्रवाह का उच्छेद करके अव्याबाध, शाश्वत सुख प्राप्त करने के हेतु भव्य जनो को पौद्गलिक लालसा हटाकर सर्वव्रत या देशव्रत धारण करने की परमावश्यकता हे कि व्रत वही धारण कर सकता है जिसने प्रथम सम्यक्त्व का स्पर्श किया हो यानी सम्यक्त्व प्राप्त की हो। जहा तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो जाय वहा तक उसका त्याग, वेराग्य, सयम, सत्य, शील और मुनिवृत्ति, श्रावकवृत्ति आदि वैसे ही हे जैसा ऊसर भूमि मे बीज का बोया जाना कहा गया हे कि—

शस्यानिवोषरेक्षेत्रे, निक्षिप्तानिकदाचन ।।
नव्रतानि प्ररोहन्ति, जीवेमिथ्यात्व वासिन ।।1।।
संयमा नियमा सर्वे नश्यन्ते तेनपावना ।।
क्षयकालानलेनेव, पादपा फलशायिन।।2।।

भावार्थ— क्षारयुक्त ऊसर भूमि मे बीज डालने से जिस प्रकार बीज नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिसकी आत्मा मिथ्यात्व रूपी क्षार से युक्त है उसके सभी व्रतादि फलदायक नही होते।।1।। ऐसे जीवो के सयम, नियम, तपाचरण आदि उसी प्रकार नष्ट हो जाते है जैसे प्रलयकाल के पवन से फूला—फला वृक्ष नष्ट हो जाता है।।2।।

इससे यह सिद्ध होता है कि सब से प्रथम इस आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक है। क्योकि सम्यक्त्व ही मोक्ष का बीज माना गया है। बिना बीज के फल की उत्पत्ति नही हो सकती। जब बीज होगा और वह अच्छी उपजाऊ भूमि मे बोया जायेगा तभी फल की निष्पत्ति होगी। इसलिये आप्त पुरुषो ने सब से प्रथम आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक बताया है। इसका विशेष वर्णन करते हुए तत्त्वज्ञो ने कहा है कि–

सम्यग्जीवस्तद्भाव सम्यक्त्व प्रशस्तो मोक्षोऽविरोधोवा से प्रशम सवेगादि लक्षण आत्मधर्म अर्थात् मिथ्यात्वादि विपरीतताओ रहित, पशस्त एव मोक्ष के अविरोधी तथा पशम सवेगादि लक्षणयुक्त आत्मधर्म मे प्रवेश कराने वाले जीव के जो सम्यग् भाव है, वही सम्यक्त्व है।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने भी सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हुए फरमाया है कि **सेय समगतेपसत्थ सम्मत्त मोहनीय कम्माणु वेयणोवसमक्खय सगुत्थोपरमसवेगालिगेसुहे आयपरिणामे** इत्यादि अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय कर्म पकृति के अनुवेदन के बाद अथवा उपशम या क्षय से समुत्पन्न प्रशम सवेगादि लक्षणयुक्त आत्मा के जो शुद्ध परिणाम है, उन्हे ही सम्यक्त्व कहते है। श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र के चतुर्थ सवरद्वार मे भी कहा है कि– **मिथ्यात्व गोहनीय क्षयोपशमादि समुत्थे जीव परिणामे सम्यक्त्वम्** अर्थात् मिथ्यात्व गोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए जीव के विशुद्ध परिणामो को सम्यक्त्व कहते है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 28 वे अध्ययन मे भी सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हुए ज्ञानियो ने कहा है कि–

तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण।।
भावेणसदहतस्स, सम्मत्त त विहाइय।।1।।

भावार्थ– जीव, अजीव आदि तत्त्वो के सत्य एव तथ्य परक भावो को गुरु आदि के उपदेश द्वारा सम्यक् प्रकार से जान कर आत्मा की, अ त करण की शुद्धिपूर्वक श्रद्धान करता है तथा यथाशक्ति अगीकार करता है उसे सम्यक्त्व कहते है।

सम्यक्त्व की दुर्लभता

जीवत्मा को अपना आत्मभान भुलाने वाला, अष्ट कर्मो मे प्रधान, राजा के समान एक मोहनीय कर्म है जिसकी अठावीस प्रकृतिया हैं। उन सब से प्रबल और बलवान प्रकृति **मिथ्यात्व मोहनीय** ही है। जब तक इस प्रकृति का प्रबल उदय रहता है तब तक आत्मा को **धर्म** शब्द ही प्यारा नही लगता, तब सम्यक्त्व हो ही कैसे सकता? मोहनीय कर्म की प्रकृतियो को ज्ञानियो ने दो विभागो मे विभक्त कर दिया है– (1) दर्शन मोहनीय और (2) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतिया हैं और चारित्र मोहनीय की पचीस। जहा तक दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति उदीयमान रहती है वहा तक चारित्र मोहनीय की सभी प्रकृतिया वैसी ही बलवती बनी रहती हैं। किन्तु जब आत्मा बलवान होकर इस मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर दे, उस समय आत्मा के जो विशुद्ध परिणाम होते है उन परिणामो को ही तत्त्वदर्शियो ने सम्यक्त्व कहा है।

निश्चय, व्यावहारादि भेद

ऐसे सम्यक्त्व के यो तो अनेक भेद है किन्तु मुख्य रूप से दो भेद हैं– निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व। निश्चय सम्यक्त्व दर्शन सप्तक अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन मोह कर्म की सात प्रकृतियो का क्षयोपशमादि होकर आत्मा को अपने आत्मतत्त्व का बोध हो जाना यानि आत्मा–अनात्मा का भेद विज्ञान हो जाना तथा अनादि सुषुप्तावस्था से जाग्रत होकर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना– उस अवस्था को ज्ञानिजन निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। इस बात को समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है यथा किसी समय जगल मे एक चरवाह बकरियो–छारियो को चराते हुए देखता है कि एक सिह का सद्यजात बच्चा पडा हुवा है किन्तु उसकी माता सिहनी वहा नही है (या तो वह कही चली गई या किसी ने शिकार करके मार डाला है) उसने उस बच्चे को उठा लिया और उन छारियो के साथ उसको भी रखने लगा और उनका दूध पिला–पिला कर उसे बडा किया। वह सिह का बच्चा भी अपनी असलियत को न जानने से उन छारियो के साथ रहने लगा। कुछ समय बाद वन मे एक सिह आया और उसने गर्जना की। उसकी आवाज सुनकर वे छारिये भागी, उनके साथ वह सिह का बच्चा भी भाग गया एक कहावत है कि **य रगत त सगत**। जैसी सोहबत मे रहे वैसा ही बन जाय। एक रोज वह सिह का बच्चा उन छारियो के साथ किसी नदी के किनारे पानी पीने गया। पानी पीते–पीते पानी मे अपनी परछाईं देखकर वह बच्चा सोचने लगा कि मेरा आकार और रग–रूप दूसरी तरह का है और इन छारियो का (मेरी साथिनियो) का दूसरी तरह का। मेरा स्वरूप तो उस गर्जन करने वाले वनराज जैसा मालूम देता है। तब क्या मैं उसकी तरह नही

गाज सकता? यह समझ कर उसने भी वह ललकार लगाई तो आस-पास की छारिये आवाज सुनते ही तितर-वितर हो गई और जान लेकर भगीं। फिर वह अकेला ही जगल मे रहने लगा और निर्भय बन गया। इस प्रकार जब आत्मा को भी अपने स्वरूप का भान हो जाता है तब पौद्गलिक पर्यायो मे जो अपनापन मान रखा था उससे अपनापन हटा लेती है और अपने शुद्ध स्वरूप की मस्ती मे सिहस्वरूप बन जाती है।

निश्चय समकित वाला अपनी आत्मा की विशुद्ध दशा को ही देव, गुरु और धर्म मानता है। वह परावलम्बी नही किन्तु स्वावलम्बी होता है, प्रियधर्मी और दृढधर्मी होता है, अडिग होता है। उसे कोई भी देव, दानव, गधर्व पिशाच, भूतादि सम्यक्त्व से चलायमान और क्षुभित नही कर सकता जैसे कामदेवजी या अरणकजी श्रावक के आगे देवो को भी हार माननी पडी थी किन्तु उन्हे क्षुभित नही कर सके। निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आत्मा ससार मे अधिक समय तक परिभ्रमण भी नही करती। यदि परभव का आयुष्य न बधा हो तो उसी भव मे मोक्ष जाती है अन्यथा तीसरे भव तो मोक्ष होता ही है। किन्तु वह निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त हुआ या नही, इस बात को छद्मस्थ आत्मा निश्चयात्मक रूप से नही जान सकती किन्तु अनुभव से जानना चाहे तो अन्तर्मुख बनकर जान ले। व्यवहार सम्यक्त्व एक ऐसा तत्त्व है जिसे आत्मा अपने अनुभव-ज्ञान से जान सकती है। वह व्यवहार सम्यक्त्व तत्त्वो की शुद्ध श्रद्धान पर अवलम्बित है। अत मोक्षाभिलाषी, कल्याणेच्छु भव्य प्राणियो को अनादि प्रवाहमयी ससार का उच्छेद करने के हेतु **शुद्ध श्रद्धान** की प्राप्ति करना परमावश्यक है। किन्तु शुद्ध श्रद्धान की प्राप्ति करना जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी है क्योकि आत्मा के साथ अष्ट कर्मो की वर्गणा अनादि काल से लगी हुई है। वे अपनी परम्परा बढाते ही जाते हैं। इन कर्मो की स्थिति बराबर एक सरीखी नही है किन्तु न्यूनाधिक है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय- इन चार कर्मो की स्थिति तो उत्कृष्ट तीस-तीस क्रोडा-क्रोडी सागरोपम की, नाम गोत्र की बीस-बीस क्रोडा-क्रोडी सागरोपम की, मोह कर्म की सत्तर क्रोडा-क्रोडी सागरोपम की और आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है, सो आयुष्य कर्म को छोडकर केवल मोह कर्म की सत्तर क्रोडा-क्रोडी सागरोपम की स्थिति पूर्ण करे। इतने मे ज्ञानावरणीयादि चार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति की दो आवृत्तिया

पूर्ण करके चतुर्थ बार बाध लेता है और अनन्तानुबन्धी आदि कषायो की एक आवृत्ति पूर्ण कर द्वितीय बार बाधता व वेदता है। इसलिये मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तर कोडा–क्रोडी सागरोपम की स्थिति पूर्ण होने पर अन्य कर्मो की अधिक स्थिति शेष रहने से मिथ्यात्व मोहनीय का दुबारा बन्ध करना ही पडता है। इस तरह प्रत्येक कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर दूसरे कर्म की स्थिति जब एक कोडा–क्रोडी सागरोपम से अधिक बाकी रहती हो तो वह आत्मा फिर भी पुन उन कर्मो की स्थिति बाधती ही रहती है और इससे आत्मा चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण करती ही रहती है।

ऐसा करते–करते जब किसी समय ऐसा मौका आवे कि आयुष्य कर्म को छोड शेष सात कर्मो की स्थिति सिर्फ एक–एक क्रोडा–क्रोडी सागरोपम की बाकी रह जावे और उस समय पीछे–आगे के लिये नया बन्ध न करते हुए यदि उसमे से भी असख्यातवॉ भाग कम कर दे तब आत्मा को यथा प्रवृत्तिकरण की प्राप्ति होती है। ऐसे अवसर भी आत्मा को अनेक बार प्राप्त हो गये। परन्तु आत्मा फिर भी किनारा न पकडते हुए भव समुद्र मे पुन गोता खा जाती है और उन्ही भवभ्रमण के चक्कर मे जाकर गिरती है। ऐसे यथा–प्रवृतिकरण की प्राप्ति तो अभव्य जीवो को भी होती है परन्तु इससे वे कुछ भी लाभ नही उठा सकते। जो भव्य जीव होता है वही आगे उत्कृष्ट स्थिति का बन्धन नही करते हुए शेष रही हुई स्थिति मे से भी कुछ कम कर दे उस समय आत्मा **अपूर्व करण** को प्राप्त करती है, तब आत्मा का ग्रन्थिभेद हो जाता है अर्थात् अनादि ग्रन्थि को तोडने के लिये शक्तिमान बन जाती है यानी तब से उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध रुक जाता है फिर मध्यम स्थिति ही बाधता है यही ग्रन्थिभेद कहलाता है। वहॉ से गोते खाते हुए यदि स्थिति थोडी और कम कर दे तो उस समय आत्मा को 'अनिवृत्तिकरण' की प्राप्ति होती है। तब सम्यक्त्व प्राप्त करने की उस आत्मा मे पात्रता आती है। फिर तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिको के तीन पुज करके उनमे से दो पुज को उछाल कर एक पुज को दबा देता है तब आत्मा ऊपर बतायी हुई सात प्रकृतियो का उपशम कर उपशम समकित की प्राप्ति करती है। अनिवृत्तिकरण का काल पूर्ण होने के बाद जिन एक पुज के दलिको को दबाये थे वे तीन प्रकार [illegible] प्राप्त होते है– शुद्ध अर्द्ध शुद्ध आर अशुद्ध। यदि शुद्ध हुए दलिक उदय [illegible] तब तो वे सम्यक्त्व का घात नही करते आर वह उपशम

सम्यक्त्व क्षयोपशम के रूप मे बदल जाता है। अर्द्ध शुद्ध पुज उदय मे आवे तो मिश्र दृष्टि बन जाता है। यह स्थिति भी अतमुहूर्त मात्र रहती है। बाद मे या तो सम्यक्त्व मे परिणत हो जाती है या मिथ्यात्व मे चली जाती है और अशुद्ध दलिक के रूप मे उदय मे आते हैं तो सीधा मिथ्यात्व की ओर खिच जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति होना बहुत कठिन है इसलिये शुद्ध श्रद्धान की प्राप्ति के हेतु शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म की प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये। शुद्ध श्रद्धान से आत्मा अनादि ससार रूप सन्तति का उच्छेद कर के परमपद को सुलभता से प्राप्त कर लेती है। इसलिये यहा पर शुद्ध देव, गुरु और धर्म का बोध होने के लिये इनका स्वरूप आगमोक्त बताया जाता है।

शुद्ध देव, गुरु और धर्म का स्वरूप

अट्ठदश दोष रहिओ, देवो धम्मो विनिउण दयासहिओ।
सुगुरुविबम्भ यारी, आरम्भ परिग्गहा विरओ।।1।।

भावार्थ– जिनमे अष्टादश प्रकार के दोष नही पाते वे शुद्ध देव हैं, जो विशुद्ध ब्रह्मचारी और आरम्भ परिग्रह से रहित है वे शुद्ध गुरु है और जो अपनी व पर की दया करने का बोध देता है वही शुद्ध धर्म है।

देव मे जो अठारह दोष नही पाते वे इस प्रकार है (1) अज्ञान, (2) क्रोध, (3) मद, (4) मोह, (5) माया, (6) लोभ, (7) रति, (8) अरति, (9) निद्रा, (10) शोक, (11) असत्, (12) अदत्त, (13) ईर्ष्या, (14) भय, (15) इहलोक–भय, (16) परलोक का भय, (17) प्राणिवध और (18) क्रीडा– प्रसग। इन दोषो का जिनमे अभाव हो गया है वे ही शुद्ध देव है। अठारह दोषो की गणना कुछ आचार्यो ने अन्य प्रकार भी की है यथा (1) दानान्तराय, (2) लाभान्तराय, (3) भोगान्तराय, (4) उपभोगान्तराय, (5) वीर्यान्तराय, (6) हास्य, (7) रति, (8) अरति, (9) भय, (10) शोक, (11) दुर्गच्छा, (12) जुगुप्सा, (13) काम, (14) मिथ्यात्व (15) अज्ञान (16) निद्रा, (17) राग–द्वेष एव (18) अव्रत। इन दोषो से रहित महापुरुष देवाधिदेव ही शुद्ध देव है जिनको जैन सिद्धान्तकारो ने अरिहन्त या तीर्थकर के सम्बोधन से सम्बोधित किया है। इनमे किसी व्यक्ति–विशेष का नाम–निर्देश या पक्षपात नही है। ऐसे दोषो से बचे हुए महापुरुष जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय तथा अष्ट महापतिहार्य से सुशोभित, परम धर्म के उपदेष्टा हैं, वे ही शुद्ध देव है। उनके प्रति दृढ विश्वास रखना शुद्ध देवता का श्रद्धान कहलाता है।

गुरु के लक्षण बताते हुए ऊपर की गाथा मे कहा कि **सुगुरु विबम्भयारी आरम्भ परिग्गहा विरओ** यानि विशुद्ध नववाड सहित ब्रह्मचर्य

को धारण करने वाले और सर्वथा आरम्भ–परिग्रह से विरक्त पचमहाव्रतो का त्रिकरण शुद्धि से पालन करते हो तथा ईर्यादि पाच समिति का सेवन करने वाले, तीन प्रकार की गुप्तियो द्वारा आत्मा को गोपने वाले, शुद्ध आत्मतत्त्व की गवेषणा करने वाले और आप्त वचनो अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचनो को आगे कर के प्रवर्तन वाले है, घोरातिघोर परीसहो और उपसर्गों से भयभीत न होकर धीर, वीर, गभीर हैं, वे ही महापुरुष शुद्ध देव और शुद्ध धर्म तत्त्व की पहिचान कराने मे सामर्थ होते हैं। ऐसे गुणयुक्त गुरु जिस गच्छ, सम्प्रदाय या समाज मे हो वे ही आदरणीय है।

अन्यथा बहुत–से मनुष्य साधु का वेष धारण करके भी इन गुणो मे नही प्रवर्तते अर्थात् वे एक घर त्याग कर दूसरे घर मे अपना प्रतिबन्ध सुदृढ बना लेते है और आरम्भ परिग्रह मे तल्लीन बन जाते है, अपनी महिमा, पूजा बढाने के लिये नये–नये आविष्कार करते हैं, अपनी पेट भराई व स्वार्थ मे कमी न रहे, इसलिये गृहस्थो को रास्ते की सेवा का महालाभ बताकर साथ मे रखते हैं, उनका बनाया आहारादि भोगते हैं, अपने सिवाय अन्य सब को कुपात्र कह कर करुणादान का निषेध करते है, अनुकम्पा कर प्राणिरक्षा करने मे पाप का बन्ध बताते है, माता–पिता, पति आदि की सेवा करने मे पाप बताते है तथा हिसापूर्ण सावद्य प्रवृत्ति को धर्म बताते है, शास्त्रकार ने उन्हे द्रव्यलिगी एव अनाथ कहा है। वे अपना व पर का कल्याण नही कर सकते परन्तु जिस गच्छ, सम्प्रदाय या समाज के आचार्य, उपाध्याय व साधु शुद्धाचरण का पालन करने वाले विपरीत प्ररूपणारूप मिथ्यात्व मल से रहित और सम्यक् ज्ञान के धारक हैं एव जो सयम, तप तथा आहार–विहारादि प्रवृत्ति का सम्पूर्ण विधिपूर्वक पालन करते है, जरा भी माया का सेवन नही करते है, जिनकी सरलतापूर्ण प्रवृत्ति है, वे ही शुद्ध गुरु है। शुद्ध धर्म का निरूपण करते हुए शास्त्रकार ने कहा है कि **धम्मोऽवि निउणदय सहिओ** यानी जिस धर्म मे स्व और पर दया का निरूपण पूर्णरूपेण किया जाता हो वही शुद्ध धर्म है। यहा स्वदया और परदया से मतलब है– अपनी आत्मा को मिथ्यात्वादि पापो से बचाना। और सम्यक्तया आत्मगुणो का विकास करते हुए इसे कर्म बन्धन से दूर रखना स्वदया है यानी आत्मानुकम्पा है और दूसरे जीवो की (**प्राणीमात्र की**) रक्षा करना, उनके दुख को दूर करना या दुख दूर करने की भावना रखना, परदया, यानी परानुकम्पा है। श्रीसूत्र कृतागसूत्र मे कहा है कि **दाणाण सेठं अभयप्पयाण,** अर्थात् भय पाते हुए प्राणी को अभय देना सब दानो मे श्रेष्ठ दान है। भय अनेक प्रकार का है। उन सब मे मरण का भय

बडा है। जो मरते हुए को बचाकर अभय देता है और भय से मुक्त करता है, वही श्रेष्ठ दान है। श्रीपश्न व्याकरण सूत्र मे भी प्रथम सवर द्वार मे कहा है कि **सव्वजग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं** अर्थात् ससार के सभी प्राणियो की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान तीर्थंकरो ने पवचन किया है। इन सब पर से स्वदया और परदया के भाव जिस धर्म द्वारा पैदा हो उसे ही आप्त पुरुषो ने धर्मतत्त्व कहा है।

इन तीनो तत्त्वो का लक्षण सक्षेप मे बताते हुए शास्त्रकार ने सम्यक्त्व ग्रहण करने की विधि इस पकार बतायी है।

अरिहन्तो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्त तत्त, इहसम्मत्त मए गहिय।।1।।

भावार्थ— अरिहन्त भगवान, जिन्होने चार घाति कर्मो का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है, देव, जिनाज्ञा मे पवर्तने वाले सुसाधु, गुरु और केवली प्ररूपित शुद्ध दयामयी धर्म की श्रद्धान् रूप इस सम्यक्त्व को मै ग्रहण करता हूँ।

सम्यक्–दृष्टि के कर्तव्य

राम्यक्–दृष्टि पुरुष सम्यक्त्व ग्रहण करने के पश्चात् अपनी श्रद्धान की पुष्टि और रक्षा के लिये तथा हेय, ज्ञेय, उपादेय को समझने के लिये प्रथम नवतत्त्व, षट द्रव्य, सात नय, चार निक्षेपादि जैन तत्त्व फिलासफी का बोध करने के वास्ते ज्ञानाभ्यास करे क्योकि सम्यक् ज्ञान ही आत्मा को निजानन्द मे रमण करने और परभावो से छुडाने का परमोत्कृष्ट साधन है। सूत्रो मे जहा–जहा श्रावक का वर्णन आया है वहा प्रथम ही यह पाठ आये है कि **अभीग्गय जीवा जीवे उवलद्ध पुण्ण पावे आसव सवर निज्रा किरिया अहिगरण बन्ध मोक्ख कुशले** अर्थात् जीव और अजीव को जिन्होने भिन्न–भिन्न भेद–प्रभेद करके जाना है, पुण्य और पाप का फल विषयक ज्ञान जिनको उपलब्ध हुआ है यानी जिस समय पुण्य राशि बढे, ऋद्धि–सिद्धि की वृद्धि हो, यश–सौभाग्य फैले, सम्पत्ति का आगमन हो, उस समय सम्यक्–दृष्टि अभिमान मे न आते हुए यो समझे कि मेरी पुण्य प्रकृतियो का उदय हुवा है जिससे ये सब शुभ सयोग मिले और मिल रहे हैं, इसमे मेरा क्या है। जहा तक पुण्य का उदय है वहा तक सब सयोग टिकेगे और जिस समय पाप प्रकृतियो का उदय होकर दुख पर दुख आवे, धन कुटुम्बादि का वियोग हो जावे, शरीर मे रोग हो जावे, दुनिया मे अपकीर्ति फैले, अच्छा करते हुए भी उल्टा पडे, उस समय यो समझे कि मेरी पाप प्रकृतियो का उदय हुवा हे जिससे ये सब अशुभ सयोग मिले (शुभ टले) और मिलते जा रहे हैं। किन्तु ये सब मेरे ही पूर्वोपार्जित है, बिना मेरे किये उदय मे आते ही कैसे? मेरे उपादान की अच्छाई या खराबी के बिना निमित्त कुछ भी नही कर सकते। किसी की ताकत नही है जो मेरा उपादान अच्छा होते हुए मुझे कोई दु ख दे सके। कवि बनारसीदासजी ने ठीक कहा है–

कवित्त– जे निजपुरव पुण्य उदे, सुख भूंजत भोग उदास रहेगे,
सो दुख मे न विलाप करे, निरमे रहके तन ताप सहेगे,
है जिनके द्रढ आतम ज्ञान, क्रिया करके फल को न चहेगे,
ते सुविचच्छ न ज्ञायक है, तिनको करता हम तो न कहेगे।।1।।

इस तरह पुण्य और पाप के फल जिनको उपलब्ध हुए है। आश्रव सवर निर्जरा किरिया अधिकरण बन्ध और मोक्ष को भी जानने मे जिनकी बुद्धिकुशल है वे सम्यक्त्व की रक्षा व वृद्धि कर सकते है। तात्त्विक पुस्तके पढ लेना दूसरी बात है और तत्त्वो का ज्ञान हृदयगम हो जाना दूसरी बात है। सम्यक्त्व की दृढता और तत्त्वो का श्रद्धान् गुरुगमपूर्वक विनययुक्त ज्ञानाभ्यास से ही होता है। अत प्रशस्त निमित्त विनयपूर्वक ज्ञानाभ्यास करना चाहिये।

सम्यक्त्व की श्रेणियां

राम्यक्त्व पाच प्रकार की हैं—क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, वेदक और सास्वादन। इनका स्वरूप सक्षेप मे कहा जाता है।

1 **क्षायिक**— अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय—इन सात प्रकृतियो का सर्वथा **क्षय कर देने से** आत्मा के जो अत्यन्त विशुद्ध परिणाम होते हैं उन्हे ज्ञानियो ने क्षायिक सम्यक्त्व कहा है। ऐसी क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला या तो उसी भव मे मोक्ष पाता है अन्यथा तीसरे भव मे अवश्य ही मोक्ष पाता हे। यह सम्यक्त्व आने के वाद जाती नही हे। जो सादि अपर्यावसित भागे मे मानी गई है।

2 **औपशमिक**— उपरोक्त सातो प्रकृतिया उदय मे आने वाली हैं, उनका उपशमन कर दिया जाता है, जो सत्ता से तो जाती नही और उदय मे रहती नही। यह साम्यक्त्व चतुर्थ गुण स्थान से ग्यारहवे गुण स्थान के जीवो मे होती हैं। इसकी स्थिति अन्तरमुहूर्त मात्र होती हे, पश्चात् या तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे या मिथ्यात्व मे आ जाता है। यह सम्यक्त्व एक जीव को एक भव मे दो वार और भवान्तर मे पाच बार प्राप्त हो सकती है, अधिक बार नही।

3 **क्षायोपशमिक**— इस सम्यक्त्व वाला प्राणी उपरोक्त दर्शन सप्तक की सात प्रकृतियो को खपावे ओर अनुदयमान प्रकृतियो को **उपसमावे**। केवल सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन होता रहे। इस सम्यक्त्व की जघन्य अन्तरमुहूर्त और उत्कृष्ट छासठ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक की स्थिति होती है। इसके बाद या तो सव प्रकृतियो को खपा करके आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व मे पहुचकर मोक्षप्राप्ति कर लेती है या अपने स्थानो से गिरकर मिथ्यात्व मे आ जाती है। यह सम्यक्त्व एक भव मे कई वार आती व जाती है किन्तु जो आत्मा एक बार यह समकित प्राप्त कर लेती है वह

कदाचित् सम्यक्त्व गिर जाय तब भी अवश्य ही बाद मे सम्यक्त्व पाकर मोक्षाधिकारी बन जाती है।

4 वेदक– क्षायिक सम्यक्त्व के पहले होती है। इस मे सम्यक्त्व मोहनीय के उदय का अन्तिम काल लिया गया है। शेष छ प्रकृतियो का क्षय हो जाता है सो सम्यक्त्व मोहनीय का अन्तिम वेदन होते ही सात प्रकृतियो का क्षय हुआ कि क्षायक प्राप्त हो जाती है। इसकी स्थिति केवल एक समय मात्र है। श्री दलपतरामजी की नव तत्त्व मे तथा गुण स्थान द्वार के अनुसार वेदक सम्यक्त्व की स्थिति उत्कृष्टी 66 छासट सागरोपम झाझेरी भी बतायी है जिसका आशय यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन होता है। इसलिये इसे भी अपेक्षाकृत वेदक मानी जाती है जिसका अपर नाम क्षापोपशमवेदक सम्यक्त्व है।

5 सास्वादन– यह सम्यक्त्व समकित पाकर उससे गिरते समय की है जैसे वृक्ष पर से फल टूटकर नीचे गिरता है। सो जहा तक वृक्ष से छूटकर पृथ्वी पर नही गिरता है, मार्ग मे है, उसी तरह सम्यक्तव मे रहते हुए जीव को अनन्तानुबन्धी का उदय हो गया परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का उदय नही हुवा उस समय तक तो सासास्वाद सम्यक्त्व कहलाती है जो कि अनन्तानुबन्धी चोकडी का उदय हुवा तो मिथ्यात्व मोहनीय का उदय अवश्यभावी है क्योकि ये सहचरी प्रकृतिया है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्टी 6 छ आवलिका प्रमाण है। बाद मे मिथ्यात्व मे चला जाता है।

इन पाच सम्यक्त्व मे से एक अधोमुखी है, शेष चार ऊर्ध्वमुखी है। चार सम्यक्तव से तो आत्मा विकास को पाती है किन्तु सास्वादन सम्यक्त्व विकास को रोकती है क्योकि यह अधोमुखी है। किन्तु कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल से ज्यादा नही रोक सकती फिर तो वह आत्मा अवश्य ही विकास को पाती है यह भी उत्कृष्ट काल बताया है। जघन्य तो बहुत कम है। अन्तर्मुहूर्त मे ही आत्मा पलट जाती है। इस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला ससार को पार करके मोक्षगामी बनता है।

सम्यक्त्व का सेवन

मुमुक्षु आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के बाद उसका सेवन किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय पर श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि–

परमतीसंथवोवा, सुदिट्ठपरमत्थ सेवणावावि।
वावन कुदंसण वज्जणा इहसमत्तस्ससद्दहणा।।1।।

– श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ 28, गा 28

भावार्थ– परम अर्थ यानी मोक्षप्राप्ति के कारणरूप सम्यक् ज्ञान का अभ्यास करना और जिनको सम्यक् ज्ञान हो चुका है उन महापुरुषो की सेवा करना, इन दो तत्त्वो का सेवन करना और जिनकी श्रद्धा विपरीत हो गई है उन स्वलिगी **पासत्था*** तथा **निन्हव**° की एव अन्य दर्शनी जिनकी श्रद्धा–प्ररूपणा तथा वेष भी जैनदर्शन से विपरीत है उनकी सगति का त्याग करना।

---

* पासत्था कुशीलियादी उन्हे कहते हैं जो वैराग्यपूर्वक सयम अगीकार करके भी यथावत् उसका सेवन न करते हुए ढीले पड जाते है ओर अकल्पनीय वस्तुओ का सेवन करते हैं तथा उत्तर गुण के दोषो का सेवन करते हैं। –सपादक

° निन्हव उन्हे कहते हैं जो मूल उत्तर गुण मे तो दोष नही लगाते परन्तु अपनी छाती के जोर से सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वो को लोप करके अपने मनमाने सिद्धान्त को स्थापित करे। न्यूनाधिक प्ररूपे, विपरीत श्रद्धे ओर मिथ्याभिमान मे आरूढ होकर अपनी कही हुई बात का समर्थन करने के लिये कुयुक्तियो का सहारा लेकर अपनी आत्मा को भी बिगाडे ओर लोगो को चक्कर मे डाले ऐसे निन्हव भगवान के समक्ष एव पीछे जमाली आदि सात हुए जिनका वर्णन ग्रन्थो मे है। परन्तु उनके बाद भी हुए तथा होते रहते हैं। मतलब यह हे कि स्वलिग मे रहते हुए सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वो से विपरीत प्ररूपणा करे वे निन्हव कहे जाते हैं।

जहाँ तक आत्मा को त्याज्य एव आदरणीय वस्तुओ का या व्यक्तियो का ज्ञान न हो जावे वहा तक वह आत्मा सत्य मार्ग पर नही चल सकती और वह धोखा खा ही जाती है। असली हीरे के स्थान पर काच के चमकते हुए टुकडो को पकड बैठता है। कई लोग ऐसा कहते है कि अपने को राग–द्वेष नही करना यानी वेष देखकर वन्दन–सेवा करना चाहिये। यदि उनमे अवगुण होगे तो वे डूबेगे, अपने को तो लाभ ही है परन्तु यह कथन शास्त्रसम्मत नही है। शास्त्रकार तो कहते है कि परीक्षा बुद्धि द्वारा तथ्य, वस्तु या व्यक्ति की पहिचान करके आदरणीय हो उसे अगीकार करना और त्याज्य हो उसे त्यागना यह साम्पदायिक दृष्टि का विवेक है, किन्तु राग–द्वेष नही है। यदि परीक्षा की उपेक्षा करके केवल वेष को ही ग्रहण किया जाय तो वह सम्यक्त्व के तीन दोषो मे अनध्यवसाय दोष है। विवेकी सम्यगदृष्टि ऐसे दोषो को न अपनाते हुए परीक्षा बुद्धि से हेय–उपादेय का यथावत ज्ञान करके सेवन करे।

समदृष्टि की निश्चलता (दृढ़ता)

श्री उपासकदशाग सूत्र मे एक वर्णन ऐसा आया है कि सकडाल पुत्र श्रावक पहले आजीविक मत की मान्यता वाले गोशालक मखली पुत्र का अनुयायी था। परन्तु एक देव की प्रेरणा से भगवान महावीर के ससर्ग मे आकर उनका अनुयायी वन गया और सम्यक्त्व सहित श्रावक व्रत अगीकार कर लिये। यह सवाद गोशालक मखली पुत्र के पास पहुचा तो वह पोलासपुर मे आकर सकडाल के पास आया। अपने पूर्व परिचित गुरु गोशालक मखली पुत्र को आया देख कर भी वह न तो उठा, न किसी तरह का आदर ही दिया, न सत्कार–सम्मान ही किया, न बोला ओर न पाट–पाटलादि का आमत्रण ही किया। किन्तु चुपचाप जैसा बैठा था वैसा ही बैठा रहा। यह देखकर गोशालक ने सोचा कि सकडाल इतना चुस्त वन गया जो मेरे सामने भी नही देखता है। तब गोशालक ने भगवान महावीर के गुणानुवाद किये और सकडाल पुत्र से बोलाने की चेष्टा की। सकडाल पुत्र श्रावक उनके बोलाने से कहने लगा कि आपने मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, भगवान महावीर के गुणानुवाद किये है इससे मै आपको पाट–पाटलादि के लिये आमन्त्रित करता हू, किन्तु धर्म या गुरु–बुद्धि से नही। गोशालक मखली पुत्र कुछ समय वहा रहा और सकडाल पुत्र को भगवान महावीर के सिद्धान्तो से पलटाकर अपना अनुयायी बनाने की बहुत चेष्टा की। किन्तु वह अन्त मे निराश होकर वहा से चल दिया। श्रावक इस प्रकार अपने सिद्धान्तो पर अटल एव दृढ रहता हे किन्तु अपने पूर्व परिचय को आगे लाकर वास्तविकता को समझने के बाद

पक्षपात मे नही पडता। पूर्व परिचय के कारण अपने सम्यक्त्व को दूषित नही करता है किन्तु तुरन्त ही उसे सत्य और तथ्य जहा दिखे, उन्ही की सेवा सुश्रूषा करता है। आज बहुत–से लोग सत्य एव न्याय की उपेक्षा करके अपने पूर्व परिचय के कारण असत्य एव अन्याय का भी पक्ष ले बैठते है। इससे समाज मे अत्यधिक विशृंखलता होकर कलहाग्नि भडक उठती है जिससे खुद को व अन्य जीवो को महान कर्म बन्ध होने का निमित्त बन जाता है।

सम्यक्–दृष्टि की प्रतिज्ञा

इसी उपासक दशाग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे आनन्द श्रावक का वर्णन है। उसमे आनन्द सम्यक्त्व सहित व्रत अगीकार करने के पश्चात् भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा करता है कि आज पीछे मुझे नही कल्पता है अन्य तीर्थियो को अन्य तीर्थियो के देवो को व अन्य तीर्थियो को ग्रहण किये हुए चैत्यो❖ को वन्दन करना, नमस्कार करना, उनके विना बोलाये एक वार या वार–वार वोलना तथा उनको असन–पान–खादिम–सादिम एकवार या वार–वार देना जिसमे राजा, न्यात, जात, देव, मात–पिता, वलवन्त

❖ उपरोक्त प्रतिज्ञा आनन्द श्रावक ने अपनी सम्यक्त्व की विशुद्धि कायम रखने के लिए की हे क्योकि सम्यक् दृष्टि सदा इस वात का ध्यान रखता हे कि मेरी प्रवृत्ति का लोगो पर क्या प्रभाव पडता है। में अन्यतीर्थियो के साथ सहवास, सभाषण आदि किसी भी दृष्टि से करता होऊँ परन्तु जनता पर उसका असर खराब पडकर वे उस तरफ आकर्षित होते हैं इसलिये मुझे उनके साथ ऐसा व्यवहार नही रखना चाहिए।

1 यहा कितनेक जैनी भाई "अन्यतीर्थिको के ग्रहण किये हुए चेत्य" शब्द का अर्थ ऐसा करते हैं कि आनन्दजी श्रावक ने प्रतिज्ञा मे "चेत्य" यानी प्रतिमा जो अन्यतीर्थिको ने ग्रहण कर रखी हे उसे वन्दना–नमस्कार करना निषेध किया है। इससे यह फलितार्थ निकलते हें कि आनन्दजी श्रावक भी जिन प्रतिमा को मानते थे, पूजते थे, वन्दना–नमस्कार करते थे। केवल जिस प्रतिमा को अन्ययूथिको ने ग्रहण कर ली है उसे वन्दना–नमस्कार अब से करना नही कल्पता हे इत्यादि प्रतिज्ञा की है। और कोई–कोई प्रति मे तो अरिहन्त चेत्य शब्द विशेष वना दिया है जिस पर से अरिहन्त प्रतिमा अर्थ होकर अपनी मान्यता की पुष्टि हो जावे। परन्तु यह अर्थ असगत हे, कारण शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा मे यह भी बताया कि उन के बिना बोलाये न बोलना, उनको आसनादि नहीं देना,

या आजीविका की कठिनाई– इन छ कारणो से मुझे उपरोक्त व्यवहार करना पडे तो मजबूरी है।

सम्यक् दृष्टि ऐसा नही होता कि गगा गये गगादास और मथुरा गये मथुरादास परन्तु वह अपने धर्म मे दृढ और स्थिर–निश्चल चित्त होता है। वह अन्य दार्शनिको के आडम्बर या मायाजाल मे आकर विमूढ भी नही होता किन्तु विचारता है कि इन पौद्गलिक भपकाओ से या बाहरी दिखावे से आत्मा का उत्थान नही होता। आडम्बर या चमत्कार केवल थोडे समय के लिये अपना प्रभाव जनता पर भले ही डाल दे पर वह स्थायी नही होता। अत मुझे ऐसे पलोभन मे न फसना चाहिये और मिथ्यात्व पोषको का आदर–सम्मान करके मेरी सम्यक्त्व को मलिन न करना चाहिये। इस प्रकार अन्यदर्शनियो का भक्ति–बहुमान नही करता किन्तु इतना कठोर भी नही बनता ताकि यदि कोई अन्य–यूथिक आकर भूखे–प्यासे होने से याचना करे तो उन्हे करुणा बुद्धि से भी नही दे। दुखी की करुणा करके उनके दुख को मिटाना या बीमार हो तो सेवा–सुश्रूषा करके उनको साता उपजाना समकित का मुख्य लक्षण है। इस विषय मे आगम प्रमाण भी है यथा –

यह पवृत्ति प्रतिमा के साथ कैसे हो सकती? प्रतिमा स्वय ही नही बोलती तब एक बार बारम्बार बोलावे किसे? प्रतिमा पड होने से व असनादि लेवे ही नही तब देवे किसको? यहा तो चैत्य का अर्थ लिग (वेष) ही लेना पडेगा जिन की श्रद्धा–मान्यता तो अन्ययूथिको की–सी है किन्तु लिग साधु का बना रखा है। ऐसे अन्ययूथिको के साथ भी उपरोक्त व्यवहार नही करूगा।

२ कोई–कोई ऐसा अर्थ भी करते है कि आनन्द श्रावक ने प्रतिज्ञा भगवान महावीर से लेकर साधु सिवाय सब को दान–मानादि देना बद कर दिया था इसलिये अपने को भी साधु सिवाय किसी को दानादि नही देना। यदि दानादि [illegible] पुण्य होता तो आनन्द श्रावक ऐसी प्रतिज्ञा क्यो करता? यह युक्ति भी [illegible] नही है [illegible] श्रावक के अवगद्वार सदा खुले रहते है। उनके सामने [illegible] भूखा [illegible] निराश होकर लौटता नहीं। श्रावक सिर्फ अपनी व जनता [illegible] के लिए अन्ययूथिका का बहुमान नही करता किन्तु उनके [illegible] नहीं रहता। [illegible] उनको साता सुख पहुचा [illegible] है। [illegible] प्रदेशी [illegible] सम्यक्त्व पाकर [illegible] – सम्पादक

[illegible] भाग १-२ १८१

सम्यक्–दृष्टि की प्रतिज्ञा

इसी उपासक दशाग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे आनन्द श्रावक का वर्णन है। उसमे आनन्द सम्यक्त्व सहित व्रत अगीकार करने के पश्चात् भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा करता है कि आज पीछे मुझे नही कल्पता है अन्य तीर्थियो को अन्य तीर्थियो के देवो को व अन्य तीर्थियो को ग्रहण किये हुए चैत्यो❖ को वन्दन करना, नमस्कार करना, उनके विना बोलाये एक वार या वार–वार वोलना तथा उनको असन–पान–खादिम–सात्मि एकवार या वार–बार देना जिसमे राजा, न्यात, जात, देव, मात–पिता, बलवन्त

❖ उपरोक्त प्रतिज्ञा आनन्द श्रावक ने अपनी सम्यक्त्व की विशुद्धि कायम रखने के लिए की है क्योकि सम्यक् दृष्टि सदा इस वात का ध्यान रखता हे कि मेरी प्रवृत्ति का लोगो पर क्या प्रभाव पडता है। में अन्यतीर्थियो के साथ सहवास, सभाषण आदि किसी भी दृष्टि से करता होऊँ परन्तु जनता पर उसका असर खराब पडकर वे उस तरफ आकर्षित होते हैं इसलिये मुझे उनके साथ ऐसा व्यवहार नही रखना चाहिए।

1 यहा कितनेक जैनी भाई "अन्यतीर्थिको के ग्रहण किये हुए चेत्य' शब्द का अर्थ ऐसा करते हैं कि आनन्दजी श्रावक ने प्रतिज्ञा मे "चेत्य" यानी प्रतिमा जो अन्यतीर्थिको ने ग्रहण कर रखी हे उसे वन्दना–नमस्कार करना निषेध किया है। इससे यह फलितार्थ निकलते हैं कि आनन्दजी श्रावक भी जिन प्रतिमा को मानते थे, पूजते थे, वन्दना–नमस्कार करते थे। केवल जिस प्रतिमा को अन्ययूथिको ने ग्रहण कर ली है उसे वन्दना–नमस्कार अव से करना नही कल्पता है इत्यादि प्रतिज्ञा की है। और कोई–कोई प्रति मे तो अरिहन्त चेत्य शब्द विशेष वना दिया है जिस पर से अरिहन्त प्रतिमा अर्थ होकर अपनी मान्यता की पुष्टि हो जावे। परन्तु यह अर्थ असगत है, कारण शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा मे यह भी बताया कि उन के बिना वोलाये न बोलना, उनको आसनादि नहीं देना,

या आजीविका की कठिनाई– इन छ कारणो से मुझे उपरोक्त व्यवहार करना पडे तो मजबूरी है।

सम्यक् दृष्टि ऐसा नही होता कि गगा गये गगादास और मथुरा गये मथुरादास परन्तु वह अपने धर्म मे दृढ और स्थिर–निश्चल चित्त होता है। वह अन्य दार्शनिको के आडम्बर या मायाजाल मे आकर विमूढ भी नही होता किन्तु विचारता है कि इन पौद्गलिक भपकाओ से या बाहरी दिखावे से आत्मा का उत्थान नही होता। आडम्बर या चमत्कार केवल थोडे समय के लिये अपना प्रभाव जनता पर भले ही डाल दे पर वह स्थायी नही होता। अत मुझे ऐसे प्रलोभन मे न फसना चाहिये और मिथ्यात्व पोषको का आदर–सम्मान करके मेरी सम्यक्त्व को मलिन न करना चाहिये। इस प्रकार अन्यदर्शनियो का भक्ति–बहुमान नही करता किन्तु इतना कठोर भी नही बनता ताकि यदि कोई अन्य–यूथिक आकर भूखे–प्यासे होने से याचना करे तो उन्हे करुणा बुद्धि से भी नही दे। दुखी की करुणा करके उनके दुख को मिटाना या बीमार हो तो सेवा–सुश्रूषा करके उनको साता उपजाना समकित का मुख्य लक्षण है। इस विषय मे आगम प्रमाण भी है यथा –

यह प्रवृत्ति प्रतिमा के साथ कैसे हो सकती? प्रतिमा स्वय ही नही बोलती तब एक बार बारम्बार बोलावे किसे? प्रतिमा पड होने से व असनादि लेवे ही नही तब देवे किसको? यहा तो चैत्य का अर्थ लिग (वेष) ही लेना पडेगा जिन की श्रद्धा–मान्यता तो अन्ययूथिको की–सी है किन्तु लिग साधु का बना रखा है। ऐसे अन्ययूथिको के साथ भी उपरोक्त व्यवहार नही करूगा।

सव्वेहि पिजिणेहि, दुज्जय जियराग दोसमौहेहि।
सत्ताणु कम्पणट्ठा, दाण न कहिचिपडिसिद्ध।।

भावार्थ– जिनके ऊपर विजय पाना कठिन है ऐसे दुर्जय राग, द्वेष और मोह को जिन्होने जीत लिया हे अर्थात् विजय पा लिया हे उन सभी जिनो (तीर्थकरो) ने प्राणियो की अनुकम्पा के लिये दिये जाने वाले दान का निषेध नही किया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यक् दृष्टि करुणा बुद्धि से तो अपनी शवित्त अनुसार किसी का भी दुख दूर करने मे पीछे नहीं रहता किंतु अन्य दर्शनीयो का आडम्बर या चमत्कार देखकर प्रभावित भी नहीं होता ओर उनका भक्ति–वहुमान नही करता। उसे अपनी आत्मशक्ति का गौरव रहता हे।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण

लक्षण उसे कहते है जिसके होने पर ही वस्तु का सद्भाव माना जाय। सम्यक्त्व के भी पाच लक्षण है जिनके द्वारा जाना जाय कि यह सम्यक् दृष्टि है।

सम्वेगोचि अ उवसम, निव्वेओतहयहोई अनुकम्पा।।

अतिकिपिअ एए, सम्मत्तेलखणापंच।।1।।

भावार्थ– सम, सम्वेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था– ये पाच समकित के लक्षण है जिनका सक्षेप मे वर्णन किया जाता है–

1 सम– सम शब्द के अनेक अर्थ है परन्तु यहा इतना ही बताना है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से आत्मा मे जो विषमता थी उसका क्षयोपशम होकर आत्मा के परिणामो मे जो सम भाव का आविर्भाव होता है उसे सम कहते है। विषय–कषाय को उपसमे अर्थात् सम भावो की वृद्धि होती है। इससे प्रत्येक पाणी को वह अपनी आत्मा के समान मानता है।

2 सम्वेग– विषय–विकारो से हटकर आत्मदशा का भान होना तथा मोक्षाभिलाषी होकर धर्म–करणी के प्रति उत्साह रखना सम्वेग कहलाता हे।

3 निर्वेद– आरम्भ–परिग्रह से निवृत्त होने की इच्छा करना, भोगो [illegible] निर्वेद कहलाता है।

4 अनुकम्पा– [illegible] भाव से पक्षपातरहित प्राणियो के दुख देख [illegible] अनुकम्पा लाना उनके दुख दूर करने का [illegible] कहलाता है।

5 आस्था— श्री जिनेन्द्र भगवान के वचनो की पूर्ण आस्था रखना, उनमे श्रद्धा प्रतीति और रुचि करना, इहलोक—परलोक, स्वर्ग—नरकादि वर्णन पर विश्वास करना।

कोई—कोई सूत्रवाक्य समझ मे न आवे तव ऐसा मानकर सन्तोष करना कि जिनेद्र भगवान के वचन अगाध आशय को लेकर हैं। मेरी बुद्धि की न्यूनता है जो मैं इनके मर्म को नही समझ पाता हूँ। जव बुद्धि का विकास वढेगा वव समझ सकूगा।
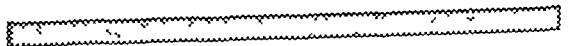
सम्यक्त्व के दूषण या अतिचार

जिन कार्यो से सम्यक्त्व दूषित बनती है, मलिन होती है और नष्ट होने के समीप पहुचती है, उन्हे दूषण या अतिचार कहते हैं।

शका कखा विगिचछा, पसस तह संथओ कुलिंगीसु।

सम्मतस्स अइआरा परिहरियव्यपयत्तेण।।

भावार्थ– (1) शका, (2) कखा, (3) वितिगिच्छा, (4) कुलिगी, अन्यदर्शनीयो की प्रशसा तथा (5) इनका सस्तव यानी परिचय–सहवास। इनके परिहार का प्रयत्न करना।

1 शका– अपनी बुद्धि की अपरिपक्वता से सिद्धान्तो के भाव समझ मे न आने से उनमे शका करना अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत जीवाजीवादि वर्णन मे तथा धर्मास्तिकायादि वर्णन मे शका करना जैसे कोई **सांख्य दर्शनी** जीव का अस्तित्व ही न मानते हुए पचभूत का खेल बताते हैं तब जीव और उसके प्रदेश तथा त्रिकाल अबाधित शाश्वत पदार्थ मानना या नही तथा स्वर्ग नरकादि है या लोगो को भयप्रलोभ पैदा करने के लिये वर्णन मात्र है? आदि शकाए करना अथवा धर्मक्रिया करते हुए शकित होना, यह भी शका दोष है।

2 काक्षा– मिथ्यात्व मोहनीय के कारण अन्यदर्शन ग्रहण रूप समुत्पन्न जीव परिणामो को काक्षा कहते हैं। काक्षा नाम वाछा का है। अन्य दर्शनो मे भी अहिसा सत्य आदि का उपदेश है और उनका आचरण भी सरल है अत वे दर्शन भी अच्छे है। इस प्रकार अभिलाषा होना अथवा धर्माराधना मे [illegible] या सहाय वछना या लब्ध्यादि ऋद्धि–सिद्धि की अभिलाषा करना यह [illegible] दूसरा दोष है।

3 विचिकित्सा– धर्म–करणी के फल मे सदेह करना– यथा मैं जो [illegible] कर रहा हू, क्लेश उठाता हू इसका फल मुझे होगा या नहीं

अथवा सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का दाता है। किन्तु चारित्र का पालन ब्रह्मचर्य की गुप्ति पर निर्भर है। ब्रह्मचर्य की गुप्ति के लिये शरीर की सुश्रूषा नहीं करने से मुनि–महात्मा को मलिन देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा नामक दूषण है।

4 **परपाषण्ड प्रशसा–** सर्वज्ञ वीतराग देव के सिद्धान्तो से जिनकी विपरीत मान्यता एव वेष भी विपरीत है, उन अन्यदर्शनियो की या उनके मन्तव्यो की प्रशसा करना।

5 **परपाषण्ड सथओ–** उपरोक्त अन्य दार्शनिको का सहवास, आना–जाना, बोल–चाल, खान–पान, लेन–देन आदि गाढ सम्बन्ध बढाना सम्यक्त्व मे दूषण है।

ये पाच दूषण तथा अतिचार भी है। इनका केवल स्वरूप समझकर इनसे बचना चाहिये, किन्तु आचरण मे लाने योग्य नही है।

सम्यक्त्व के भूषण

भूषण उसे कहते है जिसके द्वारा मनुष्य अलकृत होता है, शोभनीय होता है। इसी तरह निम्नोक्त कार्य भी सम्यक्त्व को अलकृत करते है।

जिणशासणे कुशलया, पब्भावणा वित्य सेयणाथिरया।

भत्तियगुणासम्मत–दवियाउत्तमापच।।

भावार्थ– कुशलता, प्रभावना, तीर्थसेवना, स्थिरता और भक्ति बहुमान इन पाच उत्तम गुणो से सम्यक्त्व दिप उठती हे–

1 कुशलता– सम्यक्–दृष्टि जिनशासन के विषय मे ऐसे कुशल होते है जिनको परवादी चर्चा–वार्ता मे पराभव नही कर सकते और न उनके आगे कोई मायाजाल ही चला सकता है।

2 प्रभावना– सम्यक्–दृष्टि श्री जैन शासन का महत्त्व जनता की दृष्टि मे लाने के लिये उचित प्रयत्न ही करता रहता है, जिससे जनता आकर्षित होकर जैन शासन की अनुगामिनी बने।

3 तीर्थसेवना– चारो तीर्थ की सेवा–सुश्रूषा के लिये सम्यक्–दृष्टि [illegible] रहता है और ऐसा पसग हाथ लगे तो अपने को धन्य मानता है।

4 स्थिरता– परवादियो के आडम्बर तथा जेन दर्शन मे प्रवर्तती हुई [illegible] की शिथिलता देखकर भी सम्यक्–दृष्टि अपनी [illegible] स्थिर एव दृढ रहता है।

5 भक्ति– [illegible] मे साधु–श्रावको मे गुणीजनो के प्रति विशेष [illegible] और उनके उत्तम गुणो को जनता मे विकसित

सम्यक्त्व की प्रभावना

प्रभावना उसे कहते हैं– जिसके द्वारा जैन शासन दिपे (जगत–विख्यात हो) और जनता की दृष्टि मे जैन शासन का गौरव बढे। प्रभावना प्रभावको से होती है। अत निम्नलिखित गुणो वाला ही जैन शासन की प्रभावना कर सकता है।

पावयणी धम्मकही वाई नोमित्तिओ तवस्सी अ।
विज्जा सिद्धोअ कई अट्ठेव पब्भावणा भाणिआ।।1।।

भावार्थ– प्रवचनी, धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावन्त, सिद्ध और कवि– ये आठ जैन शासन के प्रभावक हैं। इनके द्वारा सम्यक्त्व धर्म की प्रभावना होती है। वर्तमान समय मे ये सब गुण गौरण होकर केवल कुछ खाद्य पदार्थ, मिठाई, कपडा, बरतन आदि वितरण करने मे ही प्रभावना मान ली जाती है। ये यदि अधिक परिमाण मे वितरित हुए तो प्रभावना गहरी हुई और धर्म दीपा ऐसा माना जाता है अन्यथा कुछ नही। परन्तु यह बात वास्तव मे इस प्रकार नही है। यदि ऐसा हो तब तो मुनि, महात्मा अथवा साधारण स्थिति वाले श्रावक प्रभावना कर ही नही सकते थे। वे इससे वचित रहते हैं। वास्तव मे तो प्रभावक ही प्रभावना कर सकते हैं। वे आठ प्रकार के हैं।

1 **प्रवचनी**– प्रवचन के धारक आचार्य उपाध्यायादि महत्पुरुषो का आगमन होकर उनका प्रवचन होना जैन शासन की प्रभावना है।

2 **धर्मकथी**– आक्षेपणी, विक्षेपणी, सम्वेगणी और निर्वेदनी– इन चार प्रकार की धर्मकथाओ के द्वारा जनता के मन मे प्रमोद भावना जागृत करना जैन शासन की प्रभावना है।

3 **वादी**– राज्यसभा मे अथवा आमसभा मे न्यायपूर्वक वादी के पक्ष का खडन करके जैन सिद्धान्त की विशिष्टता सिद्ध करना और शासन का गौरव बढाना प्रभावना है।

4 **नामात्तक–** त्रकालिक लाभालाभ, सुख बताने वाले ग्रन्थो का अध्ययन कर, पसग पडने पर उनका उपयोग करके जनता की दृष्टि मे जैन शासन का महत्त्व अकित करना समयक्त्व की प्रभावना है।

5 **तपस्वी–** अनेक प्रकार की विकट तपस्या करके जैन शासन का महत्त्व दिखाना एव तप पर रुचि पैदा करना सम्यक्त्व की प्रभावना है।

6 **विद्यावन्त–** पज्ञप्त्यादि विद्या सिद्ध करके उनके द्वारा जैन शासन का महत्त्व प्रकट करना भी सम्क्यत्व की प्रभावना है।

7 **सिद्धि–** अनेक सिद्धियो के द्वारा जैन शासन का गौरव बढाना भी पभावना है।

8 **कवि–** सिद्धान्तानुसार काव्य कला का विकास करके भव्य जीवो को पतिबोध देकर जैन शासन के रसिक बनाना जैन शासन की पभावना है किन्तु कविता केवल तुकबन्दी मात्र ही नही अपितु भावप्रवाही होनी चाहिये।

उपरोक्त आठ पकार के समर्थ पुरुषो के द्वारा सम्यक्त्व धर्म की पभावना होती है किन्तु न 4–6–7 मे बताये हुए कार्यो का उपयोग प्रसग पड़ने पर जैन शासन का गौरव कायम रखने के लिये और जैन दर्शन की विशिष्टता दिखाने के लिये ही होना चाहिये, अपनी महिमा बढाने या स्वार्थ साधने के लिये नही। पूर्व काल मे कई एक–प्रसग उपस्थित होने पर जैन शासन की रक्षा एव महत्त्व दिखाने के लिये महापुरुषो ने ऐसे प्रयोग किये हे किन्तु जैन सिद्धान्त का कथन है कि उसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि की जाय तो आराधक होता है अन्यथा विराधक होता है। वर्तमान समय मे ऐसी पात्रता प्राप्त नही ह अत इस पवृत्ति मे पडना अपने तप–सयम की मूल पूंजी खोना है।

सम्यक्त्व के लिंग तीन

लिग पहिचान का वाह्य चिह्न है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेवीसवे
न मे कहा है कि **लोगेलिंग पआयेणे** अर्थात् लोक व्यवहार मे लिग
प्रयोजन है। सम्यक्त्व की पहिचान इन तीन लिग के द्वारा होती है।

सुस्सुसधम्मराओ, गुरुदेवाण जहासयाहिओ।।
वेयावच्चेनियमाओ, समदिट्ठिस्सलिगाई।।1।।

भावार्थ– सुश्रूषा, धर्मराग और वेयावच्च (भक्ति) ये सम्यक्त्व के
।

1 **सुश्रूषा**– जिस प्रकार सगीतशास्त्र का वेत्ता (जानकार) तरुण
रुणी के द्वारा गाये जाते हुए गायनो को उत्कठापूर्वक सुनता है और
ग्न हो जाता है उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि पुरुष वीतराग प्रवचनो को
रने मे उत्कठित रहता है और सुनकर उनमे तल्लीन हो जाता है।

2. **धर्मराग**– जैसे कोई अटवी पार करने आया हो, परिश्रम से
त्रा हो, भूखा–प्यासा हो, उस समय उसे मनोज्ञ भोजन मिल जावे तो
ानन्दित होता है ओर रुचिपूर्वक सेवन करता है। इसी तरह सम्यक्
ाव भी श्रुतचारित्र रूप धर्म पर अनुराग रखता है ओर रुचिपूर्वक सेवन
है।

3 **वेयावच्च**– जैसे कोई विद्या–सिद्धि करने वाले पुरुष को साधक
मिल जाने पर वह एकाग्र चित्त से उसकी साधना करता है, उसकी
म्यक्–दृष्टि अपने परमोपकारी गुरु देवो की भक्ति करने मे दत्तचित्त
।

सम्यक्त्व के आगार छः

सम्यक्–दृष्टि पुरुष शुद्ध देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को समझ कर इनसे विपरीत लौकिक या कुप्रावचनिक देव तथा गुरु को वन्दनादि शिष्टाचार नही करता है परन्तु सब समय परिस्थिति एक–सी नही होती। ससार मे रहकर उन्हे अपना जीवन–निर्वाह करना पडता है। अत प्रसग पडने पर अपवाद–स्वरूप अन्य–लिग मिथ्यात्वी कुदर्शनियो को वन्दना, नमस्कार, दान, सम्मान देना पडे। शास्त्रकारो ने इस विषय मे छ आगार बतलाये है। वे इस पकार है –

रायाभिओगोयगणाभिओगो, बलाभिओगोय सुराभिओगो।।
कतारवित्ति गुरुनिग्गहोय, छछ डिआउ जिनशासणमि।।1।।

भावार्थ– 1 रायाभिओग 2 गणाभिओग 3 बालाभिओग 4 सुराभिओग 5 गुरनिग्रह और 6 वितिकतार– ये छ समकित के आगार हैं।

1 राजा के दबाव से करना पडे क्योकि उनकी बस्ती मे रहना पड़ता है सो बिना इच्छा के भी करना पडे।

2 गण यानी जाति–बिरादरी के दबाव से करना पडे क्योकि जाति–नियम के विरुद्ध या जाति के विरुद्ध करने से कुटुम्ब का निर्वाह सुखपूर्वक नही होता इसलिये जाति के रिवाज अनुसार करना पडे।

3 बलवान के आगे भी दबकर करना पडे क्योकि बलवन्त से [illegible] करना हितकारक नही है।

4 देव–देवी के [illegible] से भी भय खाकर करना पडे।

5 गुरु[illegible]–[illegible]–[illegible] की आज्ञा मानकर करना पडे क्योकि [illegible] के लिए बड़ो की आज्ञा पालनीय होती ह अथवा

उन्हे कष्टमुक्त कराने के लिये इच्छा न होते हुए भी उनसे शिष्टाचार करना पडता है।

6 वितिकान्तार यानी आजीविका की कठिनाई से विवश होकर कुटुम्ब के निर्वाहार्थ अन्य दर्शनियो से शिष्टाचार करना पडे। यदि वे उस साहूकार के गुरु हो तो उपरोक्त छ कारणो को लेकर सम्यक्–दृष्टि अन्यदर्शनियो के साथ वन्दनादि शिष्टाचार करे तो अपवादस्वरूप ये आगार हैं।

सम्यक्त्व करने के यत्न

नोअन्नतित्थिएय, न्नतित्थिदेवेय तहसदेवाई ।।

गहिएकुतित्थिएहि, वन्दामि नवा नमसामि ।।1 ।।

नेव अणालत्तोआ, लवेमि नोसलवेमितेहतिसि ।।

देमिन अरुणाइअ, पेसेगिनगधपप्फाई ।। ।2 ।।

भावार्थ– ऊपर जो आगार बताये है वे केवल अपवादस्वरूप और कठिन प्रसग होने पर ही उनका उपयोग किया जाय परन्तु साधारण तौर पर समदृष्टि अपनी सम्यक्त्व का यत्न करने के लिये अन्यतीर्थियो के साथ शिष्टाचारादि छ व्यवहार नही करे। जिनके नाम–

1 अलाप– एक बार बोलना।

2 सलाप– बार–बार बोलना।

3 दान– उनको गुरुबुद्धि से आसनादि प्रतिलाभित करना।

4 मान– उनके आने पर खडा होकर बहुमान करना।

5 वन्दना– गुरुबुद्धि से गुणगान करना।

6 भक्तिपूर्वक नमस्कार करना– ये छहो व्यवहार कुगुरुओ के [illegible]

[illegible] १-२ १६३

सम्यक्त्व के आठ गुण

नि शकीय नि कखिय, निवित्तिगिच्छा अमुढदिट्ठिय।।
उववुहस्थिरीकरणे, वच्छलपभ्मावणेअट्ठ।।1।।

भावार्थ– नि शकित, निष्काक्षित, निर्विचिकित्सक, अमूढ दृष्टि, उवबुह, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना– ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं जो प्रत्येक सम्यक्–दृष्टि मे होने आवश्यक हैं। ये ही आठ दर्शनाचार के नाम से प्रसिद्ध है।

1 सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, देवप्रणीत तत्त्वो मे (सिद्धान्तो में) श्रद्धा, दृढता, विश्वास एव निश्चलता का होना ही नि शक गुण कहलाता है।

2 किसी प्रकार की वाछा, इच्छा न करना अर्थात् पुण्य–पाप के फल प्रकट होने पर दु ख से घबरा कर किसी की सहायता की अभिलाषा करना, भिक्षा मागना, यह काक्षा है। ऐसी काक्षा का न होना, सहायता न चाहना, लब्धि आदि ऋद्धि–सिद्धि की चाह न करना ही निष्काक्ष गुण है।

3 तप, सयम, क्रिया और अनुष्ठान के फल मे सन्देह न करना अपितु आस्था रखना कि सुचिणाकम्मा सुचिणाफला भवन्ति अर्थात् मैने जो अच्छी करणी की है उसका फल अवश्य मिलेगा– ऐसी आस्था रखे। परन्तु वर्तमान अवस्था को देखकर यह भावना नही लावे कि मुझे तप–सयम की आराधना करते हुए, करणी करते हुए इतना समय हो गया फिर भी मुझे कोई लाभ नही हुआ इत्यादि रूप फल मे सदेह करना विचिकित्सा अथवा जैन दर्शन मे अन्य तो सब अच्छा है किन्तु नहाना–धोना और शोभा–विभूषा करना मना होने से

है और ऐसा न करना ही निर्विचिकित्सक गुण है।

4 किसी समय चमत्कारादि कारणो से अन्य दर्शनो का प्रचार अधिक बढता देखकर व्यामोह मे फसना अथवा किसी दर्शन के अनुयायी राजा–महाराजा, बडे–बडे श्रीमन्तो या विद्वानो को देखकर उसे महत्त्व देना और सर्वज्ञ वीतराग–प्रणीत सत्य धर्म के प्रति अरुचि करना ही मूढ दृष्टि है। इस मूढता से बचना और बाहरी दिखावे–स्वरूप ढोग से प्रभावित न होना ही अमूढ–दृष्टि नामक चतुर्थ गुण है।

5 **उवबूह**– किसी सदाचारी मनुष्य के शान्ति, धैर्य, क्षमा, उपशमतादि गुणो की प्रशसा करके उसका उत्साह का होना, गुण–वृद्धि की अभिलाषा करना भी उवब्रन्हा कहलाता है। यह सम्यक्त्व का गुण है।

6 खेद पाते हुए, धर्म से डिगते हुए अस्थिर आत्मा को सहायता देकर प्रोत्साहन देना उसे दृढ बनाना ही स्थिरीकरण है। धर्म से डिगने के मुख्य दो कारण है– आपत्ति और प्रलोभन। आपत्ति अर्थात् विकट प्रसग प्राप्त होने पर असहनशीलता के कारण आत्मा अस्थिर बन जाती है चित्त मे अनेक सकल्प–विकल्प पैदा होते है, धर्म के प्रति अरुचि या अश्रद्धा उत्पन्न होती है, स्थिति डावाडोल हो जाती है उस समय आवश्यकता है किसी धर्मप्रेमी निश्चल श्रद्धावान की जो उसे आपत्ति से बचाने मे तन, मन, धन से सहायक होकर स्थिर बनावे। तसल्ली, धैर्य या विश्वास देकर खेद पाते हुए को धर्म मे दृढ करे। दूसरा कारण है प्रलोभन। यह कारण विषम और भयकर है। इसके लिये उचित उपाय यही है कि उसको ससार की अनित्यता, पौद्गलिक क्षणभगुरता का स्वरूप समझाकर प्रलोभन से हटावे और

होना। जो कल्याण पथि का पथिक है, श्री जिनप्रणीत सत्य धर्म का उपासक है, उसके प्रति अपने कौटुम्बिक जनो से भी, प्रेमसहित, आदरपूर्वक उनका खान–पान, मिष्ट सभाषण आदि से स्वागत करे और ऐसा सुअवसर प्राप्त होने के लिये अपने को कृतकृत्य माने, वही वात्सल्य गुण है।

8 जिस कार्य के द्वारा जनता मे जैन दर्शन का महत्त्व बढे, जिसके उच्च एव आदर्श सिद्धान्तो का जैनेतर समाज पर प्रभाव पडे और वे वीतराग धर्म के प्रति आकर्षित होकर भक्ति–बहुमान धारण करे, उन्हे अपनाने के लिए लालायित रहे, ऐसे कार्य करना ही प्रभावना गुण है।

प्रभावना प्रभावक के आश्रित है। अत सम्यक्–दृष्टि को प्रति समय विवेकपूर्ण ऐसी प्रवृत्ति करने चाहिये, ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे जैन दर्शन के प्रति जैनेतर जनता की सद्भावना बढे, भक्ति–बहुमान पैदा हो परन्तु ऐसी प्रवृत्ति न होनी चाहिये कि जैन दर्शन के प्रति उनमे घृणा पैदा हो।□

इन आठ गुणो मे प्रथम चार दुर्गुण निवृत्तिस्वरूप और अत के सद्गुण प्रवृत्तिस्वरूप है। इनका सम्यक् प्रकार सेवन करना ही सम्यक्त्व की सच्ची आराधना है और आत्मा को ध्येय के सन्मुख करना है।

सम्यक्त्व का व्यवहारस्वरूप सुश्रावक श्रीमान् लाला दलपतरायजी ने अपनी 'सम्यक्त्व छप्पनी' हिन्दी कविता मे बडी ही सुदर शेली से वर्णन किया है जिसका कुछ अश यहा उदधृत कर देते है।

□ कितनेक लोग ऊपर से तो धर्मी होने का ढोग करते है, धर्म करणी का सेवन–आचरण भी करते हें परन्तु उनके विचार तथा कर्तव्य ऐसे होते हैं जिनसे लोगो को धर्म के ही ऊपर अनादर होने लग जाता है, धर्म से आस्था उठ जाती है और उन धर्म मे ढोगियो के कारण धर्म का अपवाद होने लगता है इसलिये धर्म का आचरण करने वालो को अपना आचरण व अपनी भावना नीतिपूर्वक पवित्र रखनी चाहिये। नैतिकता धर्म का पाया है जिसके बिना धर्म टिक ही नही सकता।

समकित छप्पनी

(सुश्रावक श्री दलपतरायजी कृत भावार्थ सहित)

इम समकित मन स्थिर करो, पालो निरतिचार।।
मनुष्य जनम छे दोहिलो, भमता जगत मझार।।इम।।1।।

भावार्थ— इस प्रकार समकित के अन्दर मन को स्थिर करो और निरतिचार पालन करो। क्योकि ससार मे भ्रमण करते हुए आत्मा को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना बहुत कठिन है।।1।।

चार अग की प्राप्ति

नरभव आरजकुल तिहा, सुणवो जिनवाणी।।
होइ यथारथसद्दहा, उचअग दुल्लहजानि।।इम।।2।।

भावार्थ— मनुष्यभव आर्य कुल मे जन्म, जिन वाणी का श्रवण और उस पर यथार्थ श्रद्धा का होना— ये चार सम्यक्त्व के अग हैं जो प्राप्त होना बड़ा ही दुष्कर है (कठिन है)।।2।।

सम्यक्त्व की बाधक वृत्तियां

आरम्भ परिग्रह देईए, तेवीस विषय कषाय।।
जब लग पतला ना पडे, नही समकित आय।।इम।।3।।

भावार्थ— आरम्भ यानी आत्मा की गफलत दशा अविवेक परिग्रह [illegible] पांच इन्द्रिय के 23 विषय और अनन्तानुबन्धी की कषाय—

ये जहा तक कम नही पडे उपशान्त न हो, वहा तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। इसलिये मुमुक्षु को हमेशा इन वातो को घटाना चाहिये।

सम्यक्त्व–प्राप्ति के निमित्त

आतमलोग कर्मक्रिया, शुद्धवाद छे चार।।
चिन्तवता समकित लहे, जीव जगत मझार।।इम।।4।।

भावार्थ– आत्मा, लोक, कर्म और क्रिया ये चारो वाद (तत्त्व) प्रशस्त हैं। इनका चिन्तन–मनन, निदिध्यासन करते हुए आत्मा सम्यक्त्व की प्राप्ति करती है। ये चारो वाद आस्तिकता के स्तम्भ हैं और इनसे वडी शाति मिलती है। विषय कषाय दूर होते है, ममत्व छूटता है इसलिये मुमुक्षु को सदा इन चार वादो का चिन्तन–मनन करते रहना चाहिये।।4।।

स्वर पर भेद

जीवअमूर्त्तिशाश्वतो, तीनरत्नस्वभाव।।
परसयोगे उपजे, तसविषयकषाय।।इम।।5।।

भावार्थ– यह आत्मा ज्ञान, दर्शन चारित्रादि रत्नत्रयी का स्वभाव वाली अमूर्त और शाश्वत है परन्तु पुद्‌गलो के सयोग से विषय और कषाय की उत्पत्ति होती है। जिससे यह आत्मा अपने निज स्वभाव को भूल जाती है इस भूल का भान होना ही सम्यक्त्व की प्राप्ति है।।5।।

सर्वजीव पर समभाव

आतमसम छेहु काय छे, दुख निरअभिलाषा।।
परलोक परबश जाइवो जिनआगम साख।।इम।।6।।

भावार्थ– समदृष्टि आत्मा यो चिन्तन करती है कि जैसे मुझे अपना जीवन प्रिय और सुख अभीष्ट है वैसे ही (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस) छहो काय के जीवो को दुख अप्रिय और सुख प्रिय है तथा कोई मरना नही चाहता फिर भी मर कर परलोक मे परवश होकर जाना ही पडता है। जैनागम इसका साक्षीभूत है। अत सब जीवो को आत्मसमान समझना चाहिये।

कर्म की विचित्रता

सम्पत विपत सुखी दु खी, मूढ चतुर सुजान।।
नाटक कर्मना जाणजो, जग नाना विधान।।इम।।7।।

भावार्थ– सम्पत्ति, विपत्ति, सुखी–दुखी अवस्था, मूढ और चतुर– ये सब कर्म के नाटक हैं। जैसे शुभाशुभ कर्मो का उपार्जन किया हो वैसी ही अवस्था का अनुभव करना पडता है। जगत की अनेक प्रकार की रचना देखकर सम्यक्–दृष्टि यो विचारे कि यह सब कर्म की विचित्रता है।।7।।

बिन किधा लागे नही, किधा कर्मज होय।।
कर्म कमाया आपणा, तेथी सुख दुख होय।।इम।।8।।

भावार्थ– कर्म बिना किये तो लगते नही। आत्मा जैसा शुभ या अशुभ विचार अथवा कार्य करती है वैसे ही कर्म का सचय होता है और जैसे कर्म का सचय होता है वैसे ही सुख या दुख की प्राप्ति होती है। यह समझ कर सम्यक्–दृष्टि सुख मे अभिमान नही करता तथा दुख मे दीनता नही करता, न रोता ही है।।8।।

नव तत्त्वो मे हेय, ज्ञेय, उपादेय

जीव अजीव बेहु मिल्या खीर नीर ने न्याय।।
अजीव गुण ने कारणे तेथी बन्धन थाय।।इम।।9।।

भावार्थ– जीव और अजीव यानी जीव और कर्म पुद्गल दोनो का एकमेक हो जाना ही बन्धन है। दोनो का एकीकरण ही बन्ध तत्त्व का उत्पादक है। आत्मा अपने स्वभाव से निर्लेप और विशुद्ध होते हुए भी परभव मे आकर कर्म वर्गणा को ग्रहण करती है इस से बन्ध को प्राप्त होती है।।9।।

आश्रव हेतु छे बन्ध नो, शुभ अशुभ दुभेद।।
कर्म थी पुण्य ने पाप छे, मोक्ष तेहनो छेद।।इम।।10।।

भावार्थ– बन्ध का हेतु आश्रव है। वह शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। शुभकर्म पुण्यरूप ही है और अशुभ कर्म पापरूप है। इन दोनो का छेद यानी नष्ट होना ही मोक्ष है।।10।।

सवर रोके आवता, खीन तप थी होय।।
तेहनो नाम छे निर्जरा, मोक्ष कारण दोय।।इम।।11।।

पहली त्रिक मन धारिये, ज्ञेय बीजी हेय।।
तीजी उपादेय जाणिये, इम समकित से।।इम।।12।।

भावार्थ– ऊपर 9 वी 10 वी और 11 वी गाथाओ मे नव तत्त्वो का स्वरूप दर्शाया है जिनके तीन विभाग किये गये हैं। पहली त्रिक (जीव, अजीव और बन्ध) जानने योग्य (ज्ञेय) है। दूसरी त्रिक (पुण्य, पाप, आश्रव) त्यागने योग्य (हेय) और तीसरी त्रिक (सवर, निर्जरा और मोक्ष) आदरने योग्य (उपादेय) मान कर समकित का सेवन करो।।12।।°

सम्यक्त्व की पहिचान के लिये पाच लक्षण

उपसम जेह कषाय नो, तेह नो सम अभिधान
मुक्ति पथ नी चाहना, संवेग प्रधान।।इम।।13।।

भावार्थ– कषायो की उपशमता यानी अनन्तानुबन्धी का अभाव होना और आत्मा मे आत्यन्तिक शत्रुता के भाव नष्ट होना ही समभाव का कारण है। ऐसे समभाव की प्राप्ति प्रथम लक्षण है। कर्म बन्ध का भय होना और कर्म से मुक्त होने की अभिलाषा होना, यह सम्वेग नामक दूसरा लक्षण है।।13।।

होय उदास विषय विषे, जाण ज्यो निर्वेद।।
पर दुख देखी दिल दया, ये छे चौथो भेद।।इम।।14।।

भावार्थ– विषय विकारो मे उपेक्षा का होना निर्वेद कहलाता है। दूसरे प्राणियो को दुखी देख कर हृदय मे दया का सचार होना और शक्त्यानुसार मिटाने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है।।14।।

इह परलोक छतापणो, होई आस्तिक भाव।।
कर्म किया तेहना फल सही, होई पुण्य ने पाव।।इम।।15।।

भावार्थ– इहलोक परलोक का अस्तित्व मानना। स्वर्ग नरक मे आत्मा सुख या दुख का अनुभव करता है और अपने शुभारम्भ पुण्य पाप का फल भोगता है इस श्रद्धा का नाम आस्तिकता है यह पाचवा लक्षण है।।15।।

° त्रिको मे पुण्य को हेय यानी त्यागने योग्य बताया वह अन्तिम ध्येय की अपेक्षा से है। क्योकि पुण्य के भी त्याग बिना मोक्ष नहीं होता। इसका मतलब यह नही कि प्रारम्भ से ही पुण्य त्यागने योग्य हैं। यदि ऐसा मानकर शुभ योगो को छोड वैठे तो उत्थान मार्ग मे टिक नही सकता। पुण्य आत्मा के उत्थान मे सहायक है। इससे मार्ग मे नही छोडा जाता, मार्ग पार करने पर ही छोडा जाता हे।
—सम्पादक

तरक अगोचर श्रद्ध हो, द्रव्य धर्म अधर्म।।
कैई प्रतीतो युक्ति सो, पुण्य पाप सकर्म।।इम।।16

भावार्थ– जो तत्त्व दृष्टिगोचर नही होते हैं, उनमे हमारी तर्क नही चलती है किन्तु विशिष्ट ज्ञानियो ने सूत्रो मे प्रतिपादित किये है ऐसे धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो को मानना, उन पर विश्वास करना ही श्रद्धा है। ससार मे सुखी–दुखी देखकर युक्तिपूर्वक पुण्य–पाप का निर्णय करना पतीत कहलाता है।।16।।

तप चारित्र ने रोचयो, कीजे तस अभिलाष।।
श्रद्धा प्रत्यय रुचि त्तिहु, जिन आगम साख।।इम।।17।।

भावार्थ– मोक्ष के साधनभूत समकित सहित तप और चारित्र के प्रति रुचि पैदा होना और शक्त्यानुसार कार्य रूप मे लाने की अभिलाषा करना ही सम्यक्त्व की श्रद्धान है। इन तीनो का होना समदृष्टि के लिये आवश्यक है, ऐसा जैनागम का कथन है।।17।।

विपरीत मानने पर मिथ्यात्व होता है

पथ धर्म जीव साधु मोक्ष, छे सिद्धक्षतर जानि।।
एह यथार्थ जानिये सज्ञा दश विधि मानि।।इम।।18।।

भावार्थ– पथ (यानी जिसके द्वारा इच्छित स्थान पर पहुचा जाय उस दर्शन को पथ कहते है) धर्म (जिससे आत्मा का उत्थान हो) जीव, साधु और मोक्ष इन पाच को जैसा का तैसा मानना सम्यक्त्व है ओर विपरीत मानना मिथ्यात्व है। अर्थात् 1 जीव को जीव और जड (अजीव) को जड 2 धर्म को धर्म और अधर्म को अधर्म 3 साधु को साधु और असाधु को असाधु 4 मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग और ससार मार्ग को ससार मार्ग 5 सिद्ध को सिद्ध और असिद्ध को असिद्ध मानना ही सम्यक्त्व है किन्तु जीव को अजीव और अजीव को जीव आदि विपरीत मान्यता ही मिथ्यात्व हे। इन पाचो के विषय मे ससार [illegible] फैल रही है। सम्यक–दृष्टि को विवेकपूर्वक सावधानी से [illegible]।।18।।

सम्यक्त्व को पुष्ट करने वाली दस प्रकार की रुचि

जाति स्मृति ओधि या दिसो, उपजे बोध निसर्ग।।
[illegible] जिन उपदेश से पावे भविजन वर्ग।।इम।।19।।

भावार्थ– जातिस्मृति ज्ञान या अवधि आदि ज्ञान से आत्मा को जो बोध होता है उसे निसर्ग रुचि कहते है और तीर्थकर या सामान्य केवली अथवा छद्मस्थ गणधर आचार्य, मुनि आदि का उपदेश सुनकर तत्त्वो का जो बोध होता है, उसे उपदेश रुचि कहते हैं।।19।।

आदेश गुरुमुख सुनि लहे, आणा रुचि होइ।।
पढते सुतेक ऊपजे, सुतरुचि है सोई।।इम।।20।।

भावार्थ– गुरु आदि का आदेश सुनकर तत्त्व–रुचि होना आणा–रुचि कहाती है और सूत्र का वाचन–मनन करते जो तत्त्व विबोध होता हे उसे सूत्र रुचि कहा जाता है।।20।।

तेल सलिल के न्याय से, बोध बीज कोलाह।।
ते तुम जाणो बीज रुचि, भाखो जिनवर नाह।।इम।।21।।

भावार्थ– तेल का बिन्दु जल मे पडने पर जिस प्रकार फैल जाता है उसी प्रकार तत्त्वावबोध होना बीज–रुचि कहलाता है। ऐसा जिनेश्वर देव ने फरमाया है, यह पाचवी रुचि हुई।।21।।

अर्थ विचारे श्रुत के, अभिगम रुचि जान।।
दवगुण पळ्ज्जब भावनय, इम विस्तारे मान।।इम।।22।।

भावार्थ– श्रुत का अर्थ, परमार्थ, भावार्थ विचारते हुए जो तत्त्व का बोध होता है उसे अभिगम रुचि कहा जाता है और द्रव्यगुण पर्याय का विचार करते हुए तत्त्व का बोध होता है उसे विस्तार–रुचि कहा जाता है।।22।।

किरिया रुचि क्रिया विषे, उद्यम करते होय।।
चारित्र मे उद्यम किये, धर्म रुचि है सोय।।इम।।23।।

भावार्थ– क्रिया करने मे श्रम करने से तत्त्वबोध हो उसे क्रियारुचि और चारित्र पालन से जो तत्त्वावबोध होता हे उसे धर्मरुचि कहा जाता है।।23।।

जाने कुदर्शन ना ग्रह्यो, ना हस सम परवीन।।
सक्षेप रुचि सो जानिये, भाखे बुद्धि अहिन।।इम।।24।।

भावार्थ– जिन्होने कुदर्शन यानी मिथ्यावाद को तो ग्रहण नही किया परन्तु अपने दर्शन मे भी कुशल नही हैं केवल आस्था से तत्त्वो को श्रद्धता है, उसे महापुरुषो ने सक्षिप्त रुचि कहा है।।24।।

इस तरह जुदी–जुदी रीति से तत्त्वो का बोध होकर सम्यक्त्व होता है इसलिये किसी की निन्दा या अवहेलना नही करनी चाहिये जैसे किसी को

शुष्क ज्ञानी और किसी क्रिया करने वालो को अन्धश्रद्धा कहकर अवहेलना की जाती है। यह कर्मबन्ध करना है।

नव प्रकार के सम्यक्त्व की व्याख्या

च्यारि अनन्तानुबन्धीव, मिथ्या मोहनीय मीस।।
एस व समकित कोहने, भाख्यो श्रीजगदीश।।इम।।25।।

भावार्थ– मोहकर्म की 28 प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी चतुरूपकषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व–मोहनीय– ये सब सातो प्रकृति जिन को दर्शन सप्तक कहा जाता है, सम्यक्तव का घात करती है, ऐसा श्रीजिनेश्वर देव ने कहा है।।25।।

देश हणेस सममोहनीय, सप्तक ये जान।।
क्षय उपसम इनको कह्यो मिस उदय प्रमाण।।इम।।26।।

भावार्थ– उपरोक्त वर्णन की हुई सातो प्रकृतियो का देश थकी क्षयोपशम करने से जुदे–जुदे विकल्प बचते है। कोई क्षय होती, कोई उपशम ओर उदय मे रहती है।।26।।

उप समक्षय छे सात नो, क्षय उपसम भेद।।
चारी अनन्तानुबन्धीया निहचे इह छेद।।27।।

भावार्थ– इन सातो प्रकृतियो का उपशम करने मे उपशम सम्यक्त्व होता है और क्षय करने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अन्य भेदो मे भी अनन्तानुबन्धी का क्षय या उपशम आवश्यक है वैसा इन दो मे नही हे।।27।।

दर्शन एक दुहुन को, क्षय उपसम शेष ।।
समकित मोहनी उपसमे, नियमा तिहु लेख।।इम।।28।।

भावार्थ– दर्शन मोहनीय की एक या दो प्रकृति का क्षय उपशम होता है अथवा तीनो का उपशम होता हे उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते [illegible] अनन्तानुबन्धी का तो क्षय हो ओर दर्शनीय का उपशम अथवा चार [illegible] ओर मिथ्यात्व मोहनीय का क्षय ओर दो का उपशम अथवा [illegible] मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय इन छ का क्षय ओर [illegible] इस तरह क्षयोपशम सम्यक्त्व के तीन विकल्प [illegible] 28

[illegible] मे नियमा उदय होइ समकित मोह।।
[illegible] प्रकृति उपसमे अथवा पावे छोह।।29।।

[illegible]

भावार्थ– वेदक सम्यक्त्व मे इन सात मे से सम्यक्त्व मोहनीय का तो उदय रहता है, शेष छै प्रकृति का क्षय होता है उसे क्षायिक–वेदक कहते हैं और उपशम हो उसे उपशम वेदक कहते हैं।।29।।

चार कषाय क्षय हुवे दश दो उपसाम।।
अथवा मिा उपसमे, पच पावे विराम।।इम।।30।।

भावार्थ– चार कषायो का क्षय हो, वारह उपशान्त हो अथवा मिश्रादि का उपशमन हो, सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो, उसे क्षयोपशम वेदक कहते हैं अथवा चार कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय इन पाच का क्षय, मिश्रमोहनीय का उपशमन और सम्यक्त्वता का वेदन हो, यह भी क्षयोपशमवेदक कहलाता है।।30।।

ये नवविध समकित कह्यो, तेथी शिवसुख थाय।।
क्षय उपसम दो भेद छै, इह च्यारे भाय।।इम।।31।।

भावार्थ– उपरोक्त नव प्रकार का सम्यक्त्व कहा है जिसके द्वारा मोक्ष–सुख की प्राप्ति होती है। क्षय तथा उपशम दो भेद हैं। इनके विकल्पो से सक्षेप मे 9 के चार भेद होते हैं यथा 1 क्षायिक, 2 उपसम, 3 क्षयोपशम 4 और वेदक।।31।।

सम्यक्त्व के आठ आचार

शंका कंखा कर रहित, वितिगिच्छाजी नांय।।
दिष्टे अमूढ स्थिरीकरण, जिनमत के मांय।।इम।।32।।

भावार्थ– जिन–दर्शन यानी वीतराग के मोक्ष मार्ग मे जिनको शका, काक्षा एव वितिगिच्छा नही है तथा अमूढ दृष्टि होना अर्थात् अन्य दार्शनिको का आडम्बर या महत्त्व देखकर जो भुलावे मे न पडे, इसी तरह कोई धर्म से डिगता हो तो उसे स्थिर करे। शकादि तीन दोषो मे की हुई व्याख्या आगे अतिचारो की व्याख्या मे आयेगी।

धर्मविषे उच्छाहना तस उववह नाम।।
होई प्रभावन आठ ए, आचारेना ठाम।।इम।।33।।

भावार्थ– धर्म के विषय मे उत्साह का होना, इसे उववूह कहते हैं ओर प्रभावना, ये आठ आचार सूत्र मे कहे हैं।।33।।

नोट– गाथा मे वात्सल्यता का नाम नही आया है सो सात ही होते हैं परन्तु चाहिये आठ इसलिये वात्सल्य गुण भी कहना यह सातवा आचार है। वात्सल्यता का अर्थ अपने स्वधर्मी के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना,

खान–पान, लेन–देन, आदर–सत्कार आदि से इनका प्रेम–पोषण करना वात्सल्य गुण है और अन्य–दर्शनियो पर जैन–दर्शन का महत्त्व प्रकट करने वाले कार्य करना और उनको जैन दर्शन के प्रति आकर्षित करना प्रभावना गुण है। इन आठ मे प्रथम चार निवृत्ति रूप और पिछले चार प्रवृत्ति रूप हैं।

सम्यक्त्व के पाच अतिचार

शका सशय उपजे, सब देश होय।।
सर्वथी अनाचारदेशथी, अतिचारछेशोय।।इम।।34।।

भावार्थ– वीतराग प्रणीत आप्त वचनो मे शका होना, यह सम्यक्त्व का प्रथम अतिचार है। यह दो प्रकार का है सर्वथा और देशसर्वथाशका होना अनाचार है, देशशका अतिचार है।।34।।

धर्म करता मनधरे, देवादिकमीति।।
अथवा लज्जा लोकनी, एछे शका रीति।।इम।।35।।

भावार्थ– धर्म करते हुए लज्जा पाना अथवा देवादि भीति (डर) रखना, यह शकान्तर्गत है।।35।।

कखा परमत वाच्छवो, सब देसे होई।।
सबथी अनाचार देशथी, अतिचार छे सोई।।इम।।36।।

भावार्थ– जैन–दर्शन को मानते हुए परमत (अन्य दर्शन) की इच्छा करना यह काक्षा दोष है अर्थात् इन दर्शनो मे भी दया, क्षमा, सत्य, शील का उपदेश है इसलिये ये भी उपादेय है ऐसा मानना, उनकी अभिलाषा रखना, काक्षा दोष है। यह सर्वथा होना अनाचार है और देश यानी सामान्य प्रकार होना अतिचार है।।36।।

साहाजवच्छे धर्म मे, सुर–नरथी कोय।।
लब्ध्यादिक वच्छा करे, एछे कखा जोय।।इम।।37।।

भावार्थ– धर्मकार्यो मे देवादि की सहायता चाहना अथवा लब्धि आदि ऋद्धि–सिद्धि की अभिलाषा करना भी कखा नाम का द्वितीय अतिचार है।।37।।

तप चारित्र का फल विषे वितिगिच्छा सन्देह।।
साधुउपाधि मलीन लखी दुर्गिछाएह।।इम।।38।।

भावार्थ– तप चरित्र यानी धर्म करणी के फल मे सन्देह करना कि [illegible] ध्यान त्याग प्रत्याख्यान करते हुए परन्तु मुझे [illegible] हुआ तो धर्म करणी का फल मिलता है या नही

ऐसा सन्देह होना अथवा साधु–मुनिराजो की उपाधि मलिन देख कर मैले–कुचैले देख दुर्गंछा करना, यह वितिगिच्छा नामक तीसरा अतिचार है।।38।।

ससारकर्तव्य सिद्ध, को परज्जेधर्म।।
सबही अतिचार उपजे, सम्मोहनो कर्म।।इम।।39।।

भावार्थ– सासारिक कार्य की सिद्धि के लिये धर्म का प्रयोग करना अथवा मेरा यह कार्य हो जावेगा तो मै यह करूगा, इस प्रकार सकल्प करना इसमे सब ही तीनो अतिचार पैदा होते है।।39।।

पासत्थादि कुदर्शनी, जेहशिचिल आचार।।
निन्हवजेय असाधु छे जेस परिहार।।इम।।40।।

भावार्थ– पासत्था, उसन्ना, कुसलिया, अपदन्दा ओर ससक्ता–पाच सलिग होते हुए भी त्यागने योग्य है। इसी तरह कुदर्शनी अर्थात् जिनका आचार–प्ररूपणा मिथ्या है अथवा निन्हव जो स्वलिगी साधु होते हुए अपनी अपूर्णता से पूर्ण पुरुष के प्रवचनो मे तर्क–वितर्क लगाकर अपनी छाती के बल से उन वचनो को उत्थाप कर विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं, ये साधु त्यागने योग्य हैं।।40।।

इह परसंसे सथवे, अतिचार छे पच।।
समद्रष्टि तुम जाणजो, मति सेवो रंच।।इम।।41।।

भावार्थ– उपरोक्त गाथा मे कहे हुए पासत्था, निन्हव तथा कुदर्शनी, इनकी प्रशसा करना चतुर्थ अतिचार और इनका परिचय बढाना आना, जाना, देना, लेना, वन्दना, सत्कारादि करना पाचवा अतिचार है। ग्रन्थकर्ता कहते है कि हे सम्यक् दृष्टियो! तुम इनका स्वरूप जानो परन्तु इन पाचो को जरा भी सेवन मत करो।।41।।

सम्यक्त्व की विराधना का वर्णन

खिन खिन क्रोध करे धरे, अति दीरघ रोष।।
इह पर जगत सम्बधना, कारण तप पोख।।इम।।42।।

भावार्थ– बार–बार क्रोध करना, बहुत दीर्घ समय तक उसका परिग्रह रखना तथा इहलोक–परलोक के सुख–लाभार्थ तपादि को पोषण देना (आचरण करना) ये सम्यक्त्व की विराधना के हेतु हैं तथा–

निमित्त करी आजीविका, जेहथी असुरज थाय।।
चारपदे समोहाछे, तेथी समकित जाय।।इम।।43।।

भावार्थ— आजीविका के लिये निमित्तादि बताना, ये चारो अधिक बढना सम्यक्त्व को गुमाना है। इनके सेवन से सम्यक्त्व चला जाता है।।43।।

उन्मारगनी देशना, पथ विघन सुजाण।।
गिरधी भाव विषय तणा, काम भोग निदान।।इम।।44।।

भावार्थ— उन्मार्ग की प्ररूपणा यानी जैन सिद्धान्त से विपरीत परूपणा करना, उत्तम पथ मे विघ्न डालना, काम–भोग मे गृद्धिभाव रखना, काम–भोगादि का निदान करना, ये भी सम्यक्त्व को नष्ट करना है।।44।।

अरिहन्त धर्म तथा गुरु, संघ अवरणवाद।।
एह थी किलमिषता लहे, मिथ्यामति उत्पाद।।इम।।45।।

भावार्थ— अरिहन्त, सिद्धादि, केवली भगवान, धर्म, मोक्षमार्ग, साधु, साध्वी श्रावक, श्राविका रूप सघ तथा उपकारी आचार्य, उपाध्यायादि गुरुवर्य इनका अवगुणवाद बोलना, निदा करना, इन कार्यो से किल्विषी (नीच जाति के देव) जिनकी उत्तम देव दुर्गच्छा करते है ऐसी योनि प्राप्त होती है और इन कामो से मिथ्यात्व के पर्याय भी बढते हैं।।45।।

अपना गुण पर औगुण, भूति कौतुककार।।
अभियोगी सुर जे हुए, तेह चार प्रकार।।इम।।46।।

भावार्थ— अपने गुण और दूसरो के अवगुण बोलना, भूतिकर्म करना, कौतुक करना इन चार कामो से अभियोगिक देव (चाकर देव) होता है। ऐसा समकित रहते नही होता, समकित चले जाने पर ही होता है।।46।।

कदर्पी विकथा करे, भाड चेष्टाजी जाण।।
चपलाई परिहास छे, तेथी कदर्पी थान।।इम।।47।।

भावार्थ— कामोत्तेजक विकथा करना, भाड जेसी चेष्टा करना, चपलता करना दूसरो का हास्य करना, इन चार कार्यो से कदर्पी स्थान (हास्य कौतहली देव) को प्राप्त कराते है।।47।।

आरम्भ परिग्रह मोटको, पाच इन्द्रिय घात।।
नित्य आहार नरक तणा, हेतू चारे वाद।।इम।।48।।

भावार्थ— आरम्भ परिग्रह की अत्यधिक लालसा पचेन्द्रिय जीव की [illegible] करना [illegible]–मासादि निदनीय आहार करना यानी अभक्ष्य खाना–पीना [illegible] है। इन कामो से नरक की प्राप्ति होती [illegible] ।।48।।

माया करे तस गोपते कुडा देव आल।।
कूडा मापा तोल ये तिर्यकबन्धे काल।।इम।।49।।

भावार्थ– माया यानी कपट करे, तथा करके उसे छिपावे अर्थात् सफाई दिखावे, झूठा माल देवे, खोटा तोल–माप करे, इन से तिर्यंच गति का वन्धन होता है।।49।।

उपरोक्त गाथाओ मे कवि ने ऐसे कामो का दिग्दर्शन कराया है जिनके आचरण से सम्यक्त्व की विराधना होती है तथा समूल नष्ट हो जाती है। तभी ऐसे स्थानो का आयुवन्ध होकर उन स्थानो मे जाना पडता हे।

व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण

चारित्र दर्शन ज्ञान को, कीजिये अभ्यास।।
सगत कीजे साधुनी, जेह छे जगथी उदास।।इम।।50।।

भावार्थ– ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति का उपाय (अभ्यास) करो, इन की वृद्धि के कारण भूत, साधु, महापुरुष जो जगत की रचना से उपेक्षित रहते हैं उनकी सगति तथा सेवा करो।।50।।

भ्रष्ट कुदर्शन की तजो, संगति ए व्यवहार।।
समकित ना तुम जाणजो इह चार प्रकार।।इम।।51।।

भावार्थ– भ्रष्ट यानी वेष साधु का होते हुए भी जिनमे साधुता नही वैसे द्रव्यालिगी तथा कुदर्शनी यानी अन्यदर्शनी, इनकी सगति त्यागना, इनका परिचय न करना, ये चार व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण हैं।।51।।

अन्य मति तस देवता, चैत्यवन्दे नांय।।
राजागण सुगुरु सबल, वृति छिंडी मांय।।इम।।52।।

भावार्थ– सम्यक्त्व–दृष्टि अन्यमति के देव, गुरु और उनके लिग धारण करने वाले चैत्य◆ को वन्दना, नमस्कार, आदर, सत्कार, भाव–भक्ति आदि नही करता किन्तु इसमे छ छिडी का आगार रखा है यानी छ कारण उपस्थित होने पर विवश होकर वन्दना–नमस्कारादि करना पडता है अर्थात् देवता, राजा, माता–पितादि, जाति–बिरादरी, बलवान और आजीविका–इन छ के दबाव से करना पडे तो आगार है।।52।।

◆ चेत्य शब्द से कुछ लोग प्रतिमा का अर्थ करते हें कि अन्यदर्शनी ने जिस अरिहन्त प्रतिमा को ग्रहण कर रखी हे उसको वन्दनादि नही करे परन्तु यह अनुचित पक्षपात होगा क्योकि यदि प्रतिमा ही आत्मभावना को जाग्रत करने वाली हो तो किसी के भी पास हो, उसे वन्दना करता हे। इसी मे उसका समदर्शीपन है परन्तु प्रतिमा अर्थ युक्तिसगत नही हे, कारण उपासक दशाग के अनुसार आनन्द श्रावक की प्रतिज्ञा मे बोलना, दान–सम्मान देना ओर वन्दना–नमस्कार करना आदि छ बोल हें। यह व्यवहार प्रतिमा के साथ नहीं किया जाता। अत अन्य दर्शन का लिग धारण किया हुवा साधु लेना चाहिये।
–साम्पादक।

न्याय करे न्याय भाषई, न्याय को पक्षपात।।

न्याय किया रे मन धरे, लजा नीति की बात।।इम।।53।।

भावार्थ– सम्यक्–दृष्टि न्याय करे, न्याय से बोले, न्याय का पक्ष करे, न्याय ही विचारे और दिल मे लज्जा–नीति की बात को ही स्थान दे।।53।।

ज्यां को वल्लभ न्याय है, न्याय ही को आचार।।

न्याय ही सु सब ही करे, वृति आव्यो आहार।।इम।।54।।

भावार्थ– जिनको न्याय ही प्रिय है, न्याय ही का आचार है, न्याय ही से आजीविका करके आहार करते है, ये सम्यक्–दृष्टि का कर्तव्य है।।54।।

नौ तत्त्व जान सहाय न वछे, डिगे नही देव अदेव डिगाये।

दोष बिना धरे दर्शन को, जिन सर्व अर्थ दिए गुजाये।।

धर्म को राग रग्यो हिरदे, अति धर्म करे आपस मे मिलाये।।

निर्मल चित्त अभग दुवार, अन्तैउर नाहि परिग्रह नाये।।55।।

भावार्थ– सम्यक्–दृष्टि नवतत्त्व की जानकारी करना, सहायता का न वछना देव–असुर के डिगाये न डिगे, शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करे, सिद्धान्त अर्थ की जानकारी करे, धर्म के राग मे रगा जाना है, जहा अधिक मनुष्य के बीच मे बोलने का काम पडे वहा धर्म की ही बात करे, जिनका हृदय निर्मल रहता है जिनका दरवाजा खुला रहता है, जो अन्त पुर तथा परिग्रह के स्थान पर भी विश्वास पात्र होता है।।55।।

पौषध छट्ठु तिथी को करे, प्रतिलाभे शुध साध।।

ऐसे समदृष्टि तथा श्रावक है आराध।।56।।

भावार्थ– छट्ठा तिथि पोषध करे और निर्ग्रन्थ महात्मा को प्रतिलाभित करे वे सम्यक्–दृष्टि तथा श्रावक आराध्य हे।।56।।

भूलभुलैया से बचने के लिये संक्षिप्त स्वरूप का दर्शन

जहा तक आत्मा को भेद विज्ञान नही होता, आत्मा–अनात्मा का पृथक्करण नही होता वहा तक आत्मा ऊपर–ऊपर के क्रिया–काण्ड या वेषभूषा को ही महत्त्व देकर उसी मे धर्म का सर्वांश मान बैठता है और अन्य सर्वदृष्टियो को गौण कर देता है। इतना ही नही थाप–उत्थाप भी कर बैठता है। अपने समाज सिवाय सबको मिथ्यात्वी, पाखण्डी मानकर अपनी कषायो को घटाने, उपशान्त बनाने की अपेक्षा बढा लेता है इसी कारण से सर्वज्ञ प्रणीत इस अनेकान्त विशाल जैन धर्म मे भी अनेक भेदोपभेद एव शाखा–प्रतिशाखाए उत्पन्न हो गई है। सर्व दर्शनो का समन्वय करने वाले इस जैन दर्शन के भी पृथक्–पृथक् (टुकडे रूप) विभाग हो गये हैं। मुमुक्षुओ को इनका स्वरूप समझने के लिये सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

इस जैन दर्शन मे भगवान महावीर के निर्वाण के बाद सबसे प्रथम जैन धर्मानुयायिओ मे विधि–विधान स्वरूप क्रिया–काण्डो को लेकर दो भेद हुए थे यथा उत्कृष्टमार्गी तथा मध्यमार्गी। ये भेद होने का कारण यह है कि पचम आरे का प्रारम्भ होते ही कुछ समय बीतने पर पचकाली एव सतकाली दुर्भिक्ष पडे थे जिनमे साधु–मुनियो को उनके कल्पानुसार निरवद्य भिक्षा प्राप्त होने मे कठिनाई आयी तब कितनेक आत्मार्थी पुरुष तो सथारा करके अपना कार्य सिद्ध कर गये, कितनेक दूर–दिशावर मे जिधर दुष्काल का इतना प्रभाव नही था, दक्षिण कर्नाटकादि मे चले गये। जो दूर–दिशावर मे गये हुए मुनि इस देश मे आये तब उन मुनियो की चर्या मे शिथिलता दिखाई दी, वह कडकता नही रही (जो रहनी चाहिये थी)। इससे वे शामिल नही हुए किन्तु जुदे ही रहे। क्रमश उन्होने एकदम उत्कृष्ट मार्ग की ही स्थापना करके अपवाद मार्ग का निषेध कर दिया इससे उनकी जैन दर्शन मे उत्कृष्टमार्गी

एव जिन्होने पसग पाकर अपवाद सेवन किया परन्तु वह समय निकल जाने पर भी अपवाद को न छोडते हुए स्थापना करने लगे, विधि–विधान को भी शिथिल किया, उनकी मध्यमार्गी तरीके से पहचान होने लगी। यह स्थिति बहुत समय तक चलती रही और दोनो की दीवाले मजबूत होती गई क्योकि विद्वान् दोनो मे हुए है जो निमित्त मिलने पर वीर सवत् 609 मे अपने नाम दिगम्बर और श्वेताम्बर धारण कर लिये। दिगम्बरो ने वस्त्रादि का बिल्कुल निषेध कर दिया और पत्येक क्रिया उत्कृष्ट रूप से ही करने का विधान करने लगे किन्तु समय बीतने पर औदारिक शरीर एव सघयण सस्थान की मन्दता से उनमे विधानानुसार कडक वृत्ति का निभना कठिन हो गया।

फिर भी बाहरी रूपक तो वही रक्खा किन्तु अन्दर अनेक सावद्य प्रवृत्तियो का आश्रय लेना पडा। अपने उच्चादर्श पर टिक नही सके। कपडे त्यागने के कारण स्त्री वर्ग का उसमे कायम रहना अशक्य हो गया इसलिये स्त्री को मुक्ति का निषेध करना पडा। क्योकि स्त्री कपडे बिना नग्न रह नही सकती और कपडा ही परिग्रह है। इस से महाव्रत नही पाल सकती और महाव्रत बिना कर्म का अभाव नही इत्यादि नया सिद्धान्त कायम करना पडा। इसी तरह श्वेताम्बर–दिगम्बर की मान्यता मे 84 बोलो का अन्तर पडा। अब तो और अधिक बढ गये हो तो आश्चर्य नही। जो आचारागादि द्वादशागी रूप जैनागम है वे श्वेताम्बर मत मे किसी भी रूप मे सक्षेप से पठन, पाठन, मनन [illegible] किये जाते है। दिगम्बर द्वादशागरूप जिन वाणी का विच्छेद मान कर अपने पूर्वाचार्य रचित ग्रथो का ही अध्ययन–मनन करते हैं क्योकि इन जैनागमो मे वस्त्र का विधान तथा केवली का कवलाहार आदि कई बाते है जो दिगम्बरी नही मानते है। इसलिये उन्होने जैनागमो को ही अमान्य करार कर दिया। श्रमण सघ, जो चार प्रकार का है उसमे भी अब तीन ही रहे। साध्वी का विच्छेद मानना पडा।

श्वेताम्बर श्रमण सघ ने भी भगवान महावीर के नाम पर लगे हुए [illegible] के प्रभाव से उत्तरोत्तर शिथिलता बढती ही गई। साधु चारित्र–पालन [illegible] रहते हुए शिथिल होते गये और सावद्य प्रवृत्ति मे अधिकाधिक [illegible] समाज–रक्षा के लिये मूर्ति का अवलम्बन [illegible] दिया। किन्तु आगे चलकर अन्यधर्मियो के [illegible] अवलम्बन लेकर अपनी आत्मा मे विकास [illegible]। मूर्ति को ही साक्षात प्रभु मान [illegible] बाह्य क्रिया का ही [illegible] इस तरह इधर तो चारित्र मे शिथिलता

आई और उधर भक्ति के नाम पर अनेक सावद्य प्रवृत्तियो को उत्तेजन देकर जैन धर्म की आराधना विकृत वना दी। दयामूल, अहिसाप्रधान जैन दर्शन मे इस प्रकार हिसा के कारणो का जोर वढता ही गया। वीच मे कई महापुरुषो ने इस प्रवृत्ति का विरोध भी किया और चारित्र्य शिथिलता को दूर करने का प्रयत्न भी किया है। सम्बोध सितरी, सग्रहणी, सघपट्ट आदि ग्रन्थ उसके साक्षीभूत हैं किन्तु भस्मग्रह की अवधि पूर्ण न होने से वे पूर्ण सफल नही हुए।

जव भस्मग्रह की दो सहस्र वर्ष की अवधि पूर्ण होने को आई तब स 1530 विक्रमी के लगभग प्रकृति ने एक ऐसी विभूति को उत्पन्न किया जिसने जैन सिद्धान्तो का अवलोकन करके वर्तमान साधु समाज की शिथिलता व धर्माराधना मे सावद्य प्रवृत्ति का प्राबल्य देखा तो उससे न रहा गया। आखिर उन्होने निर्णय किया और जनता के विवेकचक्षु खोलने का कार्यारम्भ किया। वह विभूति श्रीमान् धर्मोद्धारक लोकाशाह थे। उनकी सिद्धान्तानुकूल वाणी को श्रवण कर स 1531 विक्रमी मे 45 भव्यो ने वीतराग प्रणीत शुद्धमुनि दीक्षाधारण की। उस गच्छ का नाम श्री लोकाशाह के प्रचार के बाद आये।

इस अवसर्पिणी काल के प्रभाव से कोई भी उत्तम अनुष्ठान उद्देश्य उसी उग्ररूप मे टिकता नही किन्तु विकृति एव शिथिलता प्रवेश कर ही जाती है। इस नियम के अनुसार लोकागच्छ मे भी शिथिलता आई। तब कई–एक मुमुक्षु (मोक्ष मार्ग की इच्छा वाले) थे उन्होने जुदे विचार कर बहुत उग्र क्रिया की तथा विरोधियो की तरफ से प्राप्त परीषहो, उपसर्गों को सहनकर साहसिकता का परिचय दिया। किन्तु विधि–विधान के क्रियाकाण्डो की समाचारी मे अन्तर पडने से तथा कुछ क्षेत्रभेद से यह समाज अनेक गच्छ–उपगच्छो मे विभक्त हो गया। यद्यपि यह स्थानकवासी समाज बाईस सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु कई उपभेदो से सख्या बढती ही रही है। इनमे परस्पर आचार–विचार की सामान्य या विशेष भिन्नता अवश्य हे जो साहसिकता धारण करने व प्रयत्न करने पर दूर हो सकती है। श्रद्धा–प्ररूपणा की मुख्य–मुख्य बाते समान ही है।

इस तरह श्वेताम्बर कहलाने वाले जैनो मे लोकाशाह की क्रान्ति मे दो भेद मुख्य हो गये हैं– एक मूर्तिपूजक, दूसरा अमूर्तिपूजक। इन मे से एक जो मूर्तिपूजक है वह मन्दिर, मूर्ति को मुख्य करके इनकी सेवा, पूजा व यात्रा–महोत्सव आदि मे अधिक महत्त्व देता है और त्याग, प्रत्याख्यान, सवर, सामायिकादि को गौण कर रखा है। दूसरा जो अमूर्तिपूजक है वह मन्दिर,

मूर्ति व इनकी सेवा–पूजा यात्रादि को न मानकर त्याग, वैराग्य, सवर, पौषधादि अनुष्ठान को ही मुख्य करके प्रवृत्ति करता है। श्वेताम्बर जैनो के मान्य जैनागमो मे कही भी मन्दिर, मूर्ति व इनकी पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रादि का विधानात्मक उल्लेख नही है, न पूजा–प्रतिष्ठा की रीति, प्रवृत्ति या श्रावक के नित्यकर्मो मे इन कामो का जिक्र कही नही है कि अमुक श्रावक इस प्रकार पूजा किया करता था या की है। केवल रायपसेणी सूत्र मे सूर्याभदेव ने जन्म समय मे जिन पडिमा, जो वहा देवलोक के विमानो मे होती है, पूजा की है तथा श्रीज्ञाता सूत्र मे द्रोपदी के स्वयवर के समय द्रौपदी स्नानादि करके जिन–घर मे जाकर जिन–प्रतिमा का अर्चन करके फिर स्वयवर मे आती है, ऐसा वर्णन है। किन्तु जो देवलोक मे देवतालोक पूजा करते है वह तो उनका वहा स्थानापन्न नियोग है। चाहे सम्यक्दृष्टि देव हो या मिथ्यात्वी भव्य हो या अभव्य, सबको करना आवश्यक होता है और केवल जिन–प्रतिमा ही नही और भी वस्तुओ को पूजना पडता है। यह देवो का जीत व्यवहार है, धर्म नही है। द्रौपदी की जिन–प्रतिमा पूजन के वर्णन मे भी कुछ निराला ही आशय है। वह उस समय अपने लिये योग्य पति प्राप्त करके इहलौकिक सुख पाने की इच्छुक थी, न कि धर्म–भावना की। कारण यह पूर्वभव से निदानकृत थी सो जहा तक निदान न फले सम्यक्त्व प्राप्त नही कर सकती। इसलिये यह कामदेव रूप जिन की भक्ता थी ओर इसी भावना से गई थी। श्री हेमव्याकरण मे चार प्रकार के जिन बताये है यथा 1 अर्हत्, 2 तीर्थंकर, सामान्य केवली, 3 नारायण 4 कामदेव। इन दो वर्णनो के सिवाय जैनागमो मे मूर्तिपूजा का कोई वर्णन नही है। इसलिये सम्यक्दृष्टि विवेकी श्रावक को त्याग–वैराग्य

विशेष है। इसके कुछ सिद्धान्त वडे ही हास्यास्पद हैं। ससार के आस्तिकवादी सभी दर्शनो से इस मजहव की मान्यता मेल नहीं खाती। दया ओर दान जेसे धर्म के मुख्य कार्यो मे भी पाप वतला कर मरते हुए की रक्षा करने तथा भूखे-प्यासे को भोजनादि देकर सन्तोष उपजाने का भी निषेध करते हैं। इस मजहव का विशेष परिचय करना हो तो **जैन दर्शन मे श्वे तेरहपन्थ** नामक पुस्तक देखनी चाहिये।

इस प्रकार सम्यक्दृष्टि जैन दर्शन मे प्रचलित पृथक्-पृथक् विभागो की मान्यता एव उनके सिद्धान्तो को समझे ओर उन पर अपनी आत्मसाक्षी से विचार करे कि मेरी आत्मा का उत्थान एव विकास किस प्रवृत्ति या किस मान्यता मे है तथा आत्मविकास मे आगे वढने के लिये किस समाज का आश्रय लेना चाहिये। सम्यक्दृष्टि का लक्ष्य एकमात्र आत्मविकास एव आत्मकल्याण ही होता है न कि इन्द्रियपोषण या लोभ-लालच। उसका ध्येय तो अनादि वधन से छूटकर शाश्वत स्थान की प्राप्ति ही होता हे। एतदर्थ सम्प्रदायवाद का गाढ आग्रह न रखते हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए निम्न भावनाओ का आचरण करे।

सम्यक्त्व–प्राप्ति की भावनाएं

प्रत्येक मुमुक्षु प्रतिदिन इन भावनाओ को विकसित करे

जैन दर्शन मे आत्मसिद्धि प्राप्त करने के लिए तीन तत्त्व की प्राप्ति और उनकी आराधना मुख्य कही है यथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र। तीनो की सम्यक् आराधना ही मोक्षमार्ग है। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र यह है कि–

सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग ।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ सम्यक् शब्द जोडने का मुख्य आशय यह है कि ये तीन मिथ्या भी होते है। मिथ्या दर्शन, ज्ञान एव चारित्र ससारवृद्धि का कारण है इसलिये मोक्षमार्ग के हेतुभूत सम्यक् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र ही है।

तीनो मे सम्यक् दर्शन मुख्य है। दर्शनरहित ज्ञान को ज्ञान नही किन्तु अज्ञान कहा है तथा उसमे चारित्र भी नही माना है। चारित्र की वृत्ति भले ही हो परन्तु सम्यक्त्व न हो तो वह भी कार्य–साधक नही है इसलिये दर्शन ही मुख्य है। इसके सद्भाव मे ही ज्ञान सम्यक् ज्ञान और चारित्र सम्यक् चारित्र कहलाता है। ऐसा सम्यक् दर्शन हरेक को होना सहज नही परन्तु महाकठिन है। अत आत्मा को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति का पूरा–पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

4 व्यवहार मे सर्वज्ञ वीतराग प्रभु देव, तत्त्वज्ञाता ज्ञान–दर्शन, चारित्र तप के आराधक गुरु और विवेकपूर्वक अहिसा तथा विषय–कषाय की निवृत्ति रूप धर्म के द्वारा निश्चय देव, गुरु, धर्म को प्राप्त करू, यही मेरा ध्येय रहे। निश्चय मे शुद्ध सिद्धस्वरूप आत्मानुभव ही देव है। मैं शरीरादि वाह्य पदार्थों से पृथक् अनन्त ज्ञानादिपर्याय वाला ध्रुव, नित्य शाश्वत हूँ, ऐसा ज्ञान ही गुरु है। भोगादि सर्व वस्तु मेरी नही, ऐसा जानकर इनका त्याग करके राग, द्वेष, मोह–रहित शुद्ध आत्मस्वरूप मे रमणता ही निश्चय धर्म हे। ऐसे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप की प्राप्ति शीघ्र हो।

5 तत्त्वो मे अरुचि रूपी मिथ्यात्व दूर हो और अगाध रुचि प्रकट हो।

6 भय, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुण हट कर निर्भयता एव समभाव की वृद्धि हो।

7 शरीर तथा अन्य पदार्थों को अपने मानकर इनके लिये हिसा एव विषय–कषाय का सेवन करता हूँ, सो मेरा भ्रम दूर हो।

8 आत्मा से भिन्न पदार्थों को अपने मानने रूप परभाव का आचरण कर रहा हू सो मेरा मोह हटकर शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा ही मेरा सत्स्वरूप है, ऐसी दृढ श्रद्धा हो व गुण विकसित हो।

9 अनादिकाल से मिथ्यात्ववश अज्ञान द्वारा इन्द्रिय सुखो को ही सुख मानता हूँ। उस विपरीत बुद्धि का नाश हो और स्व पर प्रकाशक श्री वीतराग वाणी को श्रवण–मनन करने की जिज्ञासा जागृत हो।

10 विषय–सुख की इच्छा का लोप हो और आत्मिक सुख की भावना जागृत हो। चाह नष्ट हो और अचाह गुण प्रकट हो।

11 आकुलता, परवस्तु की अभिलाषा ही आत्मभान नष्ट करने वाला भावरोग है जिसका नाश हो और निराकुलता परवस्तु की इच्छा का त्यागरूपी शातिरस (समभाव) की अभिवृद्धि हो।

12 ससार की कोई भी वस्तु सुख–दु ख नही देती परन्तु मैं उसमे अपनापन कायम करके राग–द्वेष की प्रवृत्ति से कल्पित सुख तथा दु ख उत्पन्न करता हूँ व मान बैठा हूँ। मेरी इस भ्रमणा का नाश हो और वस्तुस्थिति के सत्य स्वरूप का ज्ञान हो।

13 आत्मा के सिवाय सर्व वस्तुए पर हे। वे मेरी नही हें इसलिये उनका ममत्व दूर हो और आत्मा के शुद्ध गुण प्रकट करने की रुचि जागृत हो।

14 वाह्य–पदार्थ शरीर, धन, परिवार, वैभव, निन्दा, प्रशसा, सुख, दुख आदि मे इष्ट–अनिष्ट बुद्धि ही वहिरात्म दृष्टि है यथा–

पुद्गल मे राची रहे, इसे ही जाणो निधान।
तस लाभे लोभी रहे, बहिरातम दुख खान।।1।।
बहिरातम, ताको कहे, लखे न आत्म स्वरूप।
मग्न रहे परद्रव्य मे, मिथ्यावन्त अनूप।।2।।

ऐसी बहिरात्म दृष्टि दूर हो और अन्तररात्म दृष्टि प्रकट हो जैसे कि–

पुद्गल मे रुचि नही, इससे रहे उदास।।
अन्तर आतम ये लहे, परमातम प्रकास।।3।।
प्यारो आत्म स्वरूप मे, न्यारो पुद्गल खेल।।
परमातम तसजाणिये, जस न ही भव को मेल।।4।।

15 शरीर मोह होने से मुझे शरीरधारी होकर जन्म–मरण करना पडता है। इस वास्ते शरीर का मोह नष्ट होकर आत्मस्वरूप का विकास शीघ्र हो।

16 मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अमूर्त हूँ, निर्ममत्व हूँ, पुद्गलो से भिन्न हूँ, ज्ञान–दर्शन से अभिन्न हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, अतीन्द्रिय निराकुल एव आत्मिक सुख से भरपूर हूँ, किन्तु परद्रव्य पुद्गल पर्याय को अपना मानने से सच्चे स्वरूप को भूल रहा हूँ, वह मेरा आत्मभान शीघ्र ही जाग्रत हो, परभाव दूर हो।

17 इन्द्रिय सुख मे आनन्द और दुख मे खेद करने रूप विभ्रम दृष्टि का नाश हो और इनसे आसक्ति दूर हो।

18 सद्ज्ञान प्राप्ति के दिव्य चक्षु उदित हो, मोहजन्य अन्धकार दूर हो।

19 जैन दर्शन का अनेकान्तवाद, नयविचार, केवल वाद चर्चा का विषय ही न रहे। इनकी सच्ची समझ और परिणमन मेरी आत्मा मे समभाव की वृद्धि करे।

20 [illegible] का साधनभूत शरीर धन सम्पत्ति, स्त्री, पुत्रादि परिवार मे [illegible] की बुद्धि दूर हो और ज्ञान दर्शन चारित्रादि स्वगुणो मे मेरी [illegible] जाग्रत हो।

21 [illegible] कर्म का कर्ता बनकर प्रवृत्ति करता हू सो मुझे [illegible] स्वरूप का कर्ता बनूगा वही दिन धन्य होगा।

22 [illegible] बन रहा हू यह परभाव मिट कर आत्मिक सुख [illegible] वह दिन धन्य होगा।

23 द्रव्य कर्म (आठ कर्म के दलिये), भावकर्म, राग, द्वेष, मोह और नो कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि ये सब परवस्तु हैं, आत्मा से जुदे हैं, जड हैं, अचेतन है। इनमे मेरापन या सुख–दुख की बुद्धि है वह दूर होकर अनन्त दर्शन, चरित्र रूप स्वपर्याय है उनमे मेरी श्रद्धा दृढ हो।

24 एक सम्यक्त्व गुण ही ऐसा है जो मिथ्या ज्ञान और चारित्र की क्रिया को सम्यक् बनाकर गुणस्वरूप वना लेता है। अत उस सम्यक्त्व गुण का मुझ मे शीघ्र प्रकाश हो।

25 आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा हो, हमेशा समताभाव बढे, विषय–कषाय की मन्दता हो, विवेक जागृत रहे। यही समकित के चिह्न है जिनका प्रादुर्भाव हो।

26 सम्यक्त्व के लक्षण सम, सम्वेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था–ये पाच व्यावहारिक लक्षण मुझ मे प्रतिभासित हो।

27 सम्यक्त्व के ये आठ गुण मुझ मे प्रकट हो।

करुणा वत्सल सुजनता, आतमनिन्दा पाठ।।
समता भक्ति विरागता, धर्म राग गुण आठ।।1।।

28 समकित के पाच भूषण, जो समकित को दिपाते है, मुझ मे प्रकट हो।

चित्त प्रभावना भावयुत, हेय उपादेय जाणि।।
धीरज हर्ष प्रवीणता, भूषण पांच बखानि।।1।।

भावार्थ– 1 स्वय मे और दूसरो मे ज्ञान की वृद्धि करे, 2 विवेकपूर्वक सत्य, प्रिय एव हितकर बोले, 3 दुख मे धैर्य रखे, सत्य को नही त्यागे, 4 सदा सन्तोषी रहे और 5 तत्त्व मे प्रवीण होवे।

29 समकित का विनाश करने वाले पाष दूषणो से सदा बचता रहूँ। जैसे–

1 ज्ञान गर्व 2 मतिमन्दता 3 निष्ठुर वचन विचार।
4 भेद्रभाव 5 आलस दशा, नास ये पाच प्रकार।।1।।

30 जातिमदादि आठ मद, जो समकित के शत्रु है, वे मुझसे दूर रहे। उन्हे जरा भी स्थान न दू।

31 सिद्धो का स्वरूप और मेरा स्वरूप एक सरीखा है। अन्तर सिर्फ कर्मफल–मल का है जिन्हे मैं शीघ्र दूर करने का प्रयत्न करूँ और अपने स्वरूप को प्राप्त करू।

सम्यक्त्वपराक्रम
भाग—2
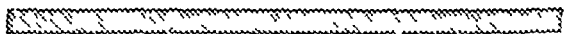
पांचवा बोल

आलोचना

सवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा और गुरुसहधर्मीसेवा का विवेचन किया जा चुका है। अब पाचवे बोल पर विचार किया जाता है। भगवान् से प्रश्न किया गया है –

मूलपाठ

प्रश्न–आलोयणाए ण भते? जीवे किजणयइ?

उत्तर– आलोयणाए ण माया नियाण मिच्छादसण– सल्लाण मोक्खमग्ग विग्घाण अणत ससार बधणाण उद्धरण करेई, उज्जुभाव च जणयइ, उज्जुभाव पडिवण्णे य ण जीवे अमाई इत्थीवेयणपुसगवेय च ण बधइ, पुव्वबद्ध च ण निज्जरेइ ।।5।।

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन्? आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है?

व्याख्यान

आलोचना से होने वाले लाभो पर विचार करने से पहले इस वात पर विचार करना आवश्यक है कि आलोचना का अधिकारी कौन है? और आलोचना का अर्थ क्या है।

विनयवान ही आलोचना का पात्र हे, क्योकि विनम्र वने विना आलोचना का वोधपाठ जीवन मे उतारा नही जा सकता। विनय–समाधि आलोचना की भूमिका है। शास्त्र मे विनय समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है–

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तंजहा–अणुसा सिज्जंतो सुस्सूसइ, सम्म सपडिवज्जइ, वयमाराहयइ, ण य भवइ, अत्त संपग्गहिए।

उल्लिखित सूत्र मे आई हुई विनय समाधि की चार वाते जीवन मे अपनाने से ही आलोचना की भूमिका तैयार होती हैं। विनयसमाधि की चार बातो मे से पहली बात यह है कि गुरु का अनुशासन मानना चाहिए अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक गुरु की शिक्षा श्रवण करनी चाहिये। दूसरी वात है– गुरु की शिक्षा को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करना। तीसरी वात– शास्त्र और गुरु के वचनो की पूर्ण आराधना करना और चौथी वात– निरभिमानी होना। जिस व्यक्ति मे विनयसमाधि की यह चार वाते पाई जाती हैं, वही व्यक्ति आलोचना करने के योग्य बन सकता है। और जो विनयशील होता है, उसमे इन चार बातो का होना स्वाभाविक ही है।

अब यह देखना चाहिए कि आलोचना किसे कहते है? आलोचना का अर्थ करते हुए कहा गया हे–

आ–सामस्त्येन स्वागताऽकरणीयस्य वागादियोग त्रयण गुरो पुरो भावशुद्धया प्रकटनमालोचना।

'आलोचना' शब्द आ+लोचना इन दो शब्दो के सयोग से बना हे। 'आ' उपसर्ग है और 'लोचना' 'लोचृदर्शने' धातु से बना हे। 'आ' उपसर्ग का अर्थ हे पूर्ण रूप से, और लोचना का अर्थ हे किसी कार्य को विचारपूर्वक प्रकट करना। इस प्रकार आलोचना शब्द का सामान्य अर्थ हे–मोह के कारण जो अकरणीय कार्य हो गये हो, उनके लिए बिना किसी के दवाव के, भावशुद्धि को दृष्टि मे रखकर गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक प्रकट कर देना अर्थात् मन, वचन और कार्य से जो अकृत्य कार्य किया हो, उसे उपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देना।

'आलोचना' शब्द के विषय मे शास्त्रो मे बहुत विचार और ऊहापोह किया गया है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'आलोचना' इस पद मे 'आ' उपसर्ग है और लोचना शब्द 'लोचृ दर्शने' धातु से बना है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं, इस कथन के अनुसार 'लोचृ दर्शन' धातु के भी अनेक अर्थ हो सकते है। श्री आचारागसूत्र मे कहा है कि बहुत से गृहस्थ, साधुओ को भ्रष्ट करना चाहते हैं और इसलिए कहते हैं–'आपको ठड लग रही है। लीजिए, हम अग्नि जलाते है।' तो हे साधु! ऐसे समय पर तू आलोचना कर अर्थात् विचार कर। इस कथन के अनुसार आलोचना का एक अर्थ विचार करना भी होता है। इसी तरह अनेक स्थलो पर शास्त्रो मे 'आलोचना' शब्द, विचार के अर्थ मे प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ–किसी साधु से कहा–'अमुक वस्तु अभी तैयार नही है। अत आप अमुक समय पर पधारिये।' तो ऐसे अवसर पर शास्त्र कहता है कि हे साधु ! आलोचना कर अर्थात् विचार कर और गृहस्थ से कह दे कि साधु के लिए किसी प्रकार की तैयारी न करो। साधु के लिए तैयार की हुई वस्तु साधु को कल्पती नही है।

इस प्रकार आलोचना के अनेक अर्थ होते हैं। आलोचना के अनेक अर्थो के सबध मे जब बहुत दिनो तक विचार किया जाय तभी यह विषय भलीभाति स्पष्ट हो सकता है। मगर अभी इतना समय नही है। अत सक्षेप मे इतना ही कहता हू कि 'लोचृ दर्शन' धातु से 'लोचना' शब्द बना है और उससे पहले आ उपसर्ग लगा देने से 'आलोचना' शब्द निष्पन्न हो जाता है। मोह के कारण हुए अकृत्य कार्यो को भाव शुद्धि के लिए मर्यादापूर्वक प्रकट करना आलोचना का अर्थ है।

नही। मगर दुष्कृत्य प्रकट न करने से हानि अवश्यभावी है। इसी कारण अपने दुष्कृत्य गुरु के सामने प्रकाशित कर देना आवश्यक है।

सवत्सरी आ रही है। जैसे दीपावली के अवसर पर आप अपने घर का कूडा–कचरा झाड–वुहार कर वाहर फैंक देते हैं, उसी प्रकार सवत्सरी के शुभ अवसर पर आपको अपने हृदय का कचरा निकाल फेकना चाहिए। भीतर जो पाप घुसा हो उसे निकाल कर पवित्र वन जाओ। यद्यपि सवत्सरी पर्व का मूल उपदेश आत्मा द्वारा हुए पापो को दूर कर देना है, किन्तु आजकल कुछ लोगो को यह पर्व विघ्नरूप हो रहा है। जो पावन हर्ष अन्त करण की मलिनता हटा कर शत्रु के साथ भी मैत्री सम्वन्ध स्थापित करने का सजीव सन्देश देता है, उसी पर्व के लिए क्लेश होना सचमुच बडे ही दु ख का विषय है। आप भलीभाति ध्यान रखे कि इस पवित्र पर्व पर आपके निमित्त से तनिक भी क्लेश न हो पाये। आप अपनी आत्मा के दोषो को दूर करके पवित्र बनिये। इस पवित्र पर्व का दिन सच्चे हृदय से भावपूर्ण आलोचना करने का दिवस है। अतएव इस पर्व का उपयोग जीवन को पवित्र बनाने के लिए ही करना उचित है।

यहा एक शका की जा सकती है। वह यह है कि गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक अपने दुष्कृत्य प्रकट करना आलोचना है, परन्तु दुष्कृत्य प्रकट करने मे किस प्रकार की मर्यादा रखनी चाहिए? इस शका के उत्तर मे कहा गया है कि आलोचना करने मे सरलता होनी चाहिए। अर्थात् जो बात, जिस रूप मे हुई हो, वह उसी रूप मे प्रकट कर देनी चाहिए। उसमे किसी प्रकार का अन्तर–न्यूनाधिकता और कपट नही होना चाहिए। वही आलोचना सच्ची और शुद्ध है, जो निष्कपट भाव से की गई हो। निशीथसूत्र मे कहा है–

अपलिवुचिय आलोएज्जा, मासियं पलिवुचियं आलोएमाणे विमासिय।

अर्थात् जिस अपराध का दण्ड एक मास है, उस अपराध की आलोचना अगर निष्कपट भाव से की जाये तो एक ही मास का दण्ड आता है। अगर आलोचना करने मे कपट किया गया तो दो मास का दण्ड आता है। अर्थात् एक मास का दण्ड उस अपराध का और एक मास का दण्ड कपट का होता है। अतएव आलोचना करने मे सरल और निष्कपट रहने की मर्यादा का पालन करना चाहिए।

ससार मे विषमता दिखाई देती है, उसका कारण कपट भी है। इस प्रकार कपट विषमता का कारण है फिर भी लोगो ने उसे जीवन का एक

आवश्यक अंग मान लिया है। लोगों में यह समझ फैल गई है कि कपट किये बिना जीवन–व्यवहार चल ही नही सकता। इतना ही नही, निष्कपट को भोला समझा जाता है और जो कपट करने की अनेक चाले जानता है, वह होशियार माना जाता है। मगर शास्त्र कहता है–कपट महान् पाप है। जो दूसरो को ठगने का पयत्न करता है, वह अपनी आत्मा को ही ठगता है।

आलोचना किस पकार की होनी चाहिये? इस सबध मे एक प्राचीन ग्रन्थ मे कहा है–

'जयतो कज्जमकज्ज च उज्जुयं भणइ, ततह आलोएज्जा मायामया विप्पमुक्को।'

तुम नादान नासमझ को बालक कहते हो, हम सरल हृदय वाले को बालक कहते है। जिसे कपट का चेप नही लगा है, वह बालक अपने माता–पिता के समक्ष पत्येक बात निष्कपट भाव से स्पष्ट कह देता है। बालक मे किसी प्रकार का कपट नही होता और इस कारण वास्तविक बात प्रकट कर देने मे उसे किसी प्रकार का सकोच नही होता। सुना जाता है कि बालक की निष्कपट बातो द्वारा कितने ही अपराधो का पता चल सका है। खाचरौद (मालवा) की एक सत्य घटना इस प्रकार सुनी जाती है– खाचरौद मे एक ओसवाल की कन्या को किसी माहेश्वरी भाई ने मार डाला था। उस माहेश्वरी का ओसवाल के साथ घर जैसा सम्बन्ध था, लेकिन गहनो के गहन प्रलोभन मे पड़कर उसने कन्या के प्राण ले लिये। कन्या को मार कर उसने गहने उतार लिये और धान्य के भौयरे मे शव छिपा दिया। लडकी के मा–बाप जब लडकी की खोज करने लगे तो वह माहेश्वरी भी आसू बहाता हुआ खोज मे शामिल हो गया। घर जैसा सम्बन्ध होने के कारण तथा उसकी चालाकी के कारण किसी को उस पर सन्देह नही हुआ।

माहेश्वरी की छोटी वहिन कपट–युक्ति नही जानती थी। अतएव उसने सब बात स्पष्ट कह दी। उसके कहने से ओसवाल की उस लडकी के खून का पता लग गया। माहेश्वरी पकडा गया, उस पर अभियोग चला और उसे यथोचित दण्ड भी मिला।

माहेश्वरी की छोटी बहिन ने सरलभाव से सब बात कह दी, यह अच्छा किया या बुरा किया? यह बात दूसरे से सवन्ध रखती है, इसलिए तुम कदाचित् लडकी के कार्य को भला कहोगे। मगर अपने विषय मे देखो, तुम कोई बात छिपाते तो नही हो? किसी किस्म का कपट तो नही करते? कपट करके कदाचित् यहा कोई बात छिपा लोगे तो क्या परलोक मे भी वह छिपी रह सकेगी? जब परलोक मे वह बात प्रकट होती ही है तो फिर कपट करने का पाप क्यो करते हो? कपट करके पाप छिपाने से पाप अधिक बढता है। अतएव पाप को प्रकट करके उसकी सरलतापूर्वक आलोचना कर लेनी चाहिए, इसी मे कल्याण है।

एक कवि ने कहा है–जैसे बालक निष्कपट भाव से अपने पिता के समक्ष सारी बाते स्पष्ट कह देता है उसी प्रकार गुरु के समक्ष आलोचना करके सब बात सरलतापूर्वक साफ–साफ कह देनी चाहिए। आलोचना करने मे किसी प्रकार का क्लेश नही होना चाहिए। कपट करके दूसरे की आखो मे धूल झोकी जा सकती है, परन्तु क्या परमात्मा को भी धोखा दिया जा सकता है? नही। परमात्मा को धोखा देने की असफल चेष्टा करना अपने आपको कष्ट मे डालने के समान है। अत आलोचना मे सरलता और निष्कपटता रखना आवश्यक है। शास्त्र मे भी कहा है–

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

अर्थात्–जहा कपट है वहा मिथ्यात्व हे और जहा सरलता है वहा सम्यग्दर्शन है। लोग सम्यग्दर्शन चाहते हैं मगर सरलता से दूर रहना चाहते है। यह तो वही बात हुई कि 'रोपा पेड बबूल का आम कहा से होय।' एक भक्त ने कहा है–

मन को मतौ एक ही भाति।
चाहत मुनि मन अगम सुकृतफल
मनसा अथ न अघाति।।

अर्थात्–सभी का मन उत्तम फल की आशा रखता हे। जिस उत्तम फल की कल्पना साधु भी नही कर सकते, वैसा उत्तम फल तो चाहिए, मगर कार्य वैसा नही करना चाहते। तीर्थकर गोत्र का वध होना, शास्त्र मे बडे से

बडा फल माना गया है। अगर कोई कहे कि यह फल आपको मिलेगा तो क्या आपको पसन्नता नही होगी? मगर क्या यह फल बाजार मे बिकता है जो खरीद कर लाया जा सके? मन तो पाप से बचता नही है, फिर इतना महान् फल कैसे मिल सकता है? अतएव महान् फल की प्राप्ति के लिए हृदय मे सरलता धारण करो और अपने अपराधो को गुरु के समक्ष सरलतापूर्वक प्रकट कर दो। इस पकार सरलता का व्यवहार करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

कहा जा सकता है कि सरलता किस प्रकार धारण करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी भी बात मे छल–कपट से काम नही लेना चाहिए। वरन् जो बात जिस रूप मे हो, उसे उसी रूप मे स्पष्ट कह देना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपके पास दस रुपये है। कोई दूसरा आदमी आपसे दो रुपया मागने आया। आपको अच्छी तरह मालूम है कि आपके पास दस रुपया है, और फिर भी अगर आप मागने वाले से कहते है–'अजी, मेरे पास रुपये होते तो मै क्या आपको नही कहता।' इस प्रकार दुर्व्यवहार करना कपट है सरलता नही है। कपट करना अपनी आत्मा का अपमान करने के समान है। अगर आप मागने वाले को रुपया नही देना चाहते तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि मेरे पास रुपया है मगर मै नही देना चाहता। ऐसा कहने मे कपट भी नही और आत्मा का अपमान भी नही है।

कहा जा सकता है कि इस पकार के स्पष्ट व्यवहार से तो लोक–व्यवहार का लोप होता है। इसके उत्तर मे ज्ञानीजनो का कथन है कि कपटपूर्ण व्यवहार से धर्म और व्यवहार दोनो का लोप होता है। मागने वाले से आपने स्पष्ट कह दिया होता कि मै रुपया नही देना चाहता तो आपका व्यवहार उलटा अच्छा होता। मगर कपट करने से व्यवहार अच्छा नही रह सकता। आपका उत्तर सुन कर मागने वाला मनुष्य तुम्हारे विषय मे यह [illegible] रुपया नही दिया मगर बात सच्ची कह दी, झूठ नही [illegible] तुम्हारे सत्य व्यवहार से तुम्हारा विश्वास भी जमेगा।

[illegible] अपेक्षा [illegible] मे कपट अधिक देखा जाता है। [illegible] सरलतापूर्वक अपने पाप परमात्मा की साक्षी से गुरु [illegible] है–

[illegible] न बाल पित्रो पुरो जल्पति निर्विकल्प ।।
[illegible] निजाशय सानुशयस्तवाग्रे ।।

अर्थात्–हे नाथ! तुम्हारे सामने वास्तविक बात प्रकट करने मे मुझे सकोच ही क्या हो सकता है? अथवा ऐसा करने मे मेरी विशेषता ही क्या है? क्या बालक अपने माता–पिता के सामने सब बात खोलकर नही कह देता? पिता भले ही वे बाते जानता हो, फिर भी बालक तो सब बाते कह ही देता है। बालक की भाति, हे नाथ! अगर मैं भी सब बाते तुम्हारे समक्ष स्पष्ट कह दू तो इसमे सकोच की क्या बात हैं? और विशेषता भी क्या?

तुम बालक की भाति निष्कपट और सरल बनो। हृदय मे जो शल्य हो उन्हे निकाल फेको। विचार करो कि अगर मैं परमात्मा के सामने सरल न बना तो फिर और कहा सरल बनूगा? पाप छिपाने से छिप तो सकते नही हैं, फिर उन्हे छिपाने का प्रयत्न करके अधिकतर दण्ड का पात्र क्यो बनना चाहिए? कहावत है–'उत्तम का दण्ड साधुसमागम, मध्यम का दण्ड राज्य और अधर्म का दण्ड यमराज।' अत यह विचार करो कि हम अपने पाप प्रकट करके उत्तम दण्ड ही क्यो न भोगे? जिन पापो के कारण आज साधारण दण्ड भोगते दु ख होता है, उन्ही पापो को छिपाने के कारण आगे चलकर घोर दण्ड सहन करना पडेगा। उस समय कितना दु ख भुगतना पडेगा? अतएव घोर दण्ड से बचने के लिए अपने पाप यही प्रकट करके आलोचना कर लेना चाहिए।

कवि कहता है– 'प्रभो! मुझ मे बालक के समान सरलता होनी चाहिए और तुम्हारे समक्ष कोई भी बात प्रकट करने मे मुझे सकोच नही होना चाहिए।' कवि ने इस प्रकार कहकर निष्कपट–सरल बनने का, अपना आन्तरिक भाव व्यक्त किया है।

लोगो के लिए सरलता सरल और कपट कठिन हे। मगर उन्होने इससे विपरीत मान लिया है। बस, समझते हैं–सरलता रखना कठिन है और कपट करना सरल है। इस झूठी मान्यता के कारण ही लोग ससार के चक्र मे घूम रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल कोई महाज्ञानी महापुरुष नही है, इस दशा मे हमारा निस्तार कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि तुम्हारे भीतर शक्ति होने पर ही महाज्ञानी तुम्हारा निस्तार कर सकते हे। तो फिर तुम यह क्यो नही देखते कि तुममे शक्ति हे या नही, तुम्हारी आत्मा सरल है या कपटयुक्त है, यह बात पहले देखना चाहिए। अगर तुम्हारे अन्तर मे सरलता होगी तो अपना कल्याण आप ही कर लोगे। अगर आत्मा कपटयुक्त हुई तो फिर कोई भी तुम्हारा कल्याण नही कर सकता। क्योकि सरलता के

बिना आत्मकल्याण होना असभव है। कपट तो कल्याण के द्वार मे प्रवेश करने के वज्रमय कपाट के समान है।

शास्त्र मे आलोचना के सम्बन्ध मे खूब विस्तृत विवेचन किया गया है। महानिशीथ सूत्र मे आलोचना का निक्षेप करके अन्यन्त सरलतापूर्वक वर्णन किया गया है। उस वर्णन का साराश यह है कि नाम आलोचना, स्थापना आलोचना, द्रव्य आलोचना और भाव आलोचना–इस प्रकार आलोचना के चार भेद है। नाम मात्र की आलोचना अर्थात् आलोचना का सिर्फ नाम ले लेना नाम आलोचना है। किसी जगह आलोचना की स्थापना करना या पुस्तक आदि मे आलोचना लिखना स्थापना–आलोचना है। ऊपर–ऊपर से आलोचना करना और हृदय मे आलोचना न करना द्रव्य आलोचना है। अन्त करण से, भावपूर्वक आलोचना करना भाव–आलोचना कहलाती है।

अभी रामजी भाई को ब्रह्मचर्य स्वीकार करने के उपलक्ष्य मे बारह व्रतो की जो आलोचना कराई गई है, वह केवल उन्ही को कराई गई है या तुम्हे भी? वह स्थूल हिसा नही करते और न स्थूल असत्य भाषण करते हैं। क्या तुम ऐसा करते हो? अगर ऐसा नही करते तो यह आलोचना तुम्हारे लिए भी है। मगर एक बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए, वह यह कि आलोचना केवल द्रव्य–आलोचना ही न रह जाये।

यहा शास्त्र मे भाव आलोचना का ही वर्णन है। भाव–आलोचना का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है–

'आलोयइ, निदइ गरिहइ, पडिक्कमइ, आहारिय तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जइ, आराहिय भवइ।'

समस्त प्राणियो को मित्र के समान समझना चाहिए, यह कथन सुनकर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि सवको मित्र मानने का अर्थ क्या है कि जिनसे हमे रुपया लेना है, उन्हे यो ही छोड दिया जाये? ऋण वसूल न किया जाये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मित्र के साथ क्या लेन–देन नहीं किया जाता? अपना लेना वसूल करने की मनाई नही है, मगर अन्याय करने का निषेध किया गया है। हृदय मे किसी के प्रति वैरभाव नहीं रखना चाहिए। हम साधुओ को तो सबके प्रति मैत्रीभाव रखना ही चाहिए, चाहे कोई हमारे प्राण ही क्यो न ले ले। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते अगारे रखे गये, फिर भी सोमिल ब्राह्मण को उन्होने अपना मित्र ही माना था। साधुओ को एक क्षण के लिए भी नही भूलना चाहिए कि वे किसके शिष्य हैं और हमे हृदय मे किस प्रकार का मैत्रीभाव धारण करना चाहिए।

आज जैन धर्म का अनुयायी कोई राजा नही रहा। तुम्ही उसके अनुयायी हो और इसी कारण पोल चल रही है। तुम धर्म का विचार न करो, असत्य बात पकड बैठो या धर्म मे अधिक झझट उत्पन्न करो, तो इसके लिए तुमसे अधिक क्या कहा जाये? तुमसे ज्यादा कुछ नही बन पडता, तो कम से कम इतना तो अवश्य करो कि ससार व्यवहार के साथ धर्म को एकमेक न करो। अगर इतना भी करोगे तो आज सघ के जो टुकडे–टुकडे हो रहे हैं, वह न होगे। धर्म की रक्षा करने से सघ मे एकता और शान्ति की स्थापना अवश्य होगी।

कहा जा सकता है कि आप यहा अधिक कहा रहने वाले हैं? ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अगर मै शरीर से नही तो धर्म से तो रहूगा ही। तुम्हारे धर्मभाव के कारण ही मे यहा आया हू ओर इसीलिए तुम मुझे लाये हो। तुम जिस धर्म का पालन करते हो वह मुझमे न होता अथवा जिस धर्म का पालन मैं करता हू वह तुम मे न होता तो तुम मुझे यहा लाते ही क्यो? और मैं भी किसलिए आता? यह धर्म या यश का शरीर तो रहता ही है। इसीलिए मैं तुमसे कहता हू कि धर्म के नाम पर रगडे–झगडे मत करो। विचार करो कि हम गजसुकुमार मुनि के शिष्य हे। उन्होने तो मस्तक पर धधकते अगारे रखने वाले को भी अपना मित्र समझा तो क्या हम अपने सहधर्मी को भी मित्र नही समझ सकते?

भावपूर्वक की जाने वाली आलोचना ही सच्ची आलोचना है। कर्म के उदय से अपराध तो हो जाता है, मगर उस अपराध की निन्दा करनी चाहिए और सोचना चाहिए कि केसर की क्यारी मे धूल कहा से पड गई? जैसे केसर

मे धूल पड जाना सह्य नही हो सकता उसी पकार व्रत मे दोष लगना भी सह्य नही होना चाहिए ओर अपने अपराध की निन्दा करनी चाहिए। अपने दोषो की निन्दा करते-करते जो आलोचना की जाती है, वही सच्ची आलोचना है।

आत्मनिन्दा भी द्रव्य से नही वरन् भाव से करनी चाहिए और आत्मनिन्दा के साथ गर्हा भी करनी चाहिए अर्थात अपने किये अकृत्य के प्रति घृणा करनी चाहिए और अकृत्य के शोधन के लिए गुरु द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को स्वीकार करना चाहिए। भगवान ने कहा है कि इस प्रकार विधिपूर्वक आलोचना करने वाला जघन्य तीन भवो मे और उत्कृष्ट पन्द्रह भवो मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री भगवती सूत्र मे कहा है-आलोचना का आराधक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट आराधक तीन भव मे मोक्ष जाता ही है। आप भी इस प्रकार की आलोचना करके आत्मा का कल्याण करो। किसी भी पाप को दबाओ या छिपाओ मत, उसे सरलतापूर्वक प्रकट कर दो। आलोचना करने मे सत्य का ही व्यवहार करो। परमात्मा का सच्चा भक्त असत्य नही बोलेगा और न दुराचार ही सेवन करेगा। असत्य भाषी और दुराचारी परमात्मा का सच्चा भक्त हो ही नही सकता। परमात्मा की भक्ति करना और सत्य एव शील का सेवन करना एक ही बात हे। सत्य मे महान् शक्ति है। सत्य के प्रभाव से अस्थिपिजर मे से भी मनुष्य अक्षुण्ण बच निकल सकता है। इस प्रकार के निष्कलक सत्य की आराधना करने मे प्राण भले ही चले जाए मगर सत्य का परित्याग नही करूगा, ऐसी दृढभावना रहनी चाहिए। फिर इसी दृढता से सत्य और शील का पालन किया जाये तो कल्याण आपकी मुट्ठी मे ही है।

सुना जाता है। भगवान की धर्मपरिषद् मे भगवान् का उपदेश सुनने के लिए सिह और बकरी एक साथ बैठते थे। किसी को किसी से भय नही था। अगर आज सिह आये तो आप लोग उसके आने से पहले ही भाग जाएगे।

इस प्रकार की कायरता रख कर भी आप ऐसा फल चाहते हैं,जो मुनियो की भी कल्पना मे न आया हो। कार्य न करना और फल चाहना तो जादू के फल चाहने के समान है। अगर आप जादुई फल न चाहते हो तो आपको सत्कार्य करना चाहिए। सत्कार्य करने के साथ भावना ऐसी रखनी चाहिए कि फल मिले या न मिले मुझे कर्त्तव्य करना ही चाहिए। मगर जैसे चोर धधा किये बिना ही धन चाहता है, इसी प्रकार लोग कार्य किये बिना ही फल चाहते है। क्या आपको चोर की नीति पसन्द है? अगर पसन्द नही है तो कार्य किये बिना फल की आशा करने की नीति क्या अच्छी हे? कार्य करोगे तो उसका फल मिलेगा ही। अतएव फल की आशा न रखते हुए कार्य करते रहना चाहिए।

जब तक वस्तु का गुण न जान लिया जाये तब तक उसके प्रति रुचि उत्पन्न नही होती। जो वस्तु पहले साधारण मालूम होती है, गुण का ज्ञान होने पर वही महान् मालूम होने लगती है। पैत्रिकसम्पत्ति मे मिले हुए हीरे की कीमत जब तक जान न ली जाये तब तक वह साधारण जान पडता है। मगर जब जौहरी उसकी कीमत आकता हे तब वही हीरा कितना कीमती मालूम होता है। इसी प्रकार ऊपर–ऊपर से आलोचना का नाम तो लिया जाता हे मगर आलोचना से प्राप्त होने वाले गुण की बात तो भगवान महावीर जैसे ज्ञाननिधान से ही जानी जा सकती है। आलोचना के विषय मे भगवान महावीर का कथन सुनने के बाद जब आलोचना आपको महान् प्रतीत होने लगे तभी समझना चाहिये कि हमने भगवान् की वाणी सुनी है।'

आलोचना का फल बतलाते हुए भगवान ने कहा है–'मोक्षमार्ग मे वाधा डालने वाली और अनन्त ससार की वृद्धि करने वाली माया का आलोचना द्वारा नाश होता है।'

भगवान ने भाव–आलोचना का यह फल बतलाया है। आलोचना तो तुम भी करते होगे, मगर पहले यह देख लो कि तुमारे हृदय से कपट निकला है या नही? अगर तुमने कपट का त्याग करके आलोचना की हे तो वह सही आलोचना है। अन्यथा दुनिया को ठगने के लिए ओर 'हमने आलोचना की है' यह कहने के लिए की गई आलोचना खोटी आलोचना है। माया–कपट का लेश भी जिसमे न हो, वही शुद्ध आलोचना है। जो माया मोक्षमार्ग मे वाधा

उपस्थित करती है और अनन्त–ससार बढाती है, उस माया का त्याग करने के लिए ही आलोचना करना वास्तविक आलोचना है।

मान लीजिए, आपको जगल के निकट मार्ग मे होकर कही जाना है। आपको भय है कि अमुक व्यक्ति हमारे मार्ग मे बाधा खडी करेगा। ऐसी अवस्था मे आपको एक साथी मिल गया, जो बाधा खडी करने वाले को भगा सकता है। अब आप उस साथी की सहायता लेगे या नही? इसी प्रकार माया मोक्षमार्ग मे विघ्न खडा करती है। इसे हटाने के लिए आलोचना की सहायता लेनी चाहिए।

माया के अनेक रूप हैं। फिर भी सक्षेप मे उसके चार भेद किये हैं–

(1) अनन्तानुबन्धी माया (2) अप्रत्याख्यानी माया (3) प्रत्याख्यानी माया (4) सज्वलन माया। अन्य धर्मो के शास्त्रो मे भी माया का विस्तृत वर्णन किया गया है और वहा अखिल ब्रह्माण्ड को माया और ब्रह्म से बना हुआ बतलाया है। परन्तु जैनशास्त्र प्रकृति को माया कहता है। एक विशेष प्रकार की प्रकृति माया है।

हमारे भीतर किस प्रकार की माया है, यह बात तो अपने आप ही जानी जा सकती है। बहुत से लोग अपनी बुराइया छिपाकर उलटे अपनी प्रशसा करते है, जिससे दूसरे लोग उन्हे अच्छा समझे। मगर ऐसा करना गूढ माया है। लोगो को ठगने वाली माया से आत्मा का कल्याण कदापि नही हो सकता।

माया की अधिकता ग्रामो की अपेक्षा नगरो मे खूब देखी जाती है। माया की दृष्टि से एक ग्रामीण अच्छा कहा जाये या एक मशहूर वकील बैरिस्टर? ग्रामीण किसान ज्वार को ज्वार ही कहता है, ज्वार को बाजरा नही कहता। मगर वकीलो और बैरिस्टरो का क्या पूछना है? वह ज्वार को भी बाजरा सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। वास्तविकता कुछ और होती है और वकील लोग सिद्ध करते है कुछ और ही। इस प्रकार उलटे को सीधा और सीधे को उलटा करके वह अपनी कमाई करते है और मौज उडाते हैं। मगर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की माया मोक्षमार्ग मे विघ्नबाधा खडी करती है।

ट मे तो पिता की आज्ञा पालन करने के हेतु वन मे गये थे,
ावण द्वारा होने वाले पापो ओर अन्यायो को नष्ट करने के लिए
ाप का विनाश करने के लिए सादा बन कर गये थे। उन्होने
ारण किये थे। क्या छाल के वस्त्र, खादी के वस्त्रो की अपेक्षा
कहो—नही, तो रामचन्द्र ने किस कारण उन्हे धारण किया था?
थे? रामचन्द्रजी मूर्ख नही थे। उन्हे पापो का नाश करना था
ारण किये विना पाप नष्ट नही हो सकते थे। इसी कारण
वस्त्र पहने थे। तुम और कुछ नही कर सकते तो इस पवित्र
ा नाश करने के लिए कम से कम सादगी धारण तो करो।
अत्यन्त निकृष्ट है। माया पापमयी राक्षसी है। अगर तुम इसे
ो तो सादगी अपनाओ। सादगी अपनाने से तुम्हारी आत्मा भी
ौर दूसरो का भी कल्याण होगा।
ाया का गुलाम नही है, वही परमात्मा के सामने हृदय खोलकर
ेश कर देता है। वह सच्ची आलोचना करता है। बहिने घर
र की वस्तुए बाहर नही फेंकती, सिर्फ कचरा फेंकती हैं। इसी
र्व मे हृदय के कचरे—माया को बाहर निकालकर फैंक दो।
दय के मेल—माया को तो सभाल कर रखते हैं सद्‌गुण रूपी
ो हैं। यह पद्धति खोटी है। इसे त्यागो। जान—बूझकर कोई
ही लाता, प्राकृतिक रूप से कचरा घर मे आ जाता हे। महीना
त्तर बन्द रहने वाले मकान मे भी कचरा घुस जाता है। इसी
प्रकृति के कारण भले ही हृदय मे माया आ गई हो, मगर उसे
ा रखो—निकाल बाहर करो। जब हृदय मे से माया निकाल
त्रा पैदा होगी तब थोडी—सी माया भी अधिक मालूम होगी,
ार जैसे कचरा फैंकने की तमन्ना रखने वाली स्त्री को थोडा
क जान पडता हे। इसी भाव को प्रकट करते हुए एक भक्त

माधव! मो सम मन्द न कोऊ।
पि मीन पतग हीनमति, मोहि न पूजै ओऊ।
ामोह—सरिता अपार मे, सन्तत फिरत बह्यो।
चरण—शरण नौका तजि, पुनि—पुनि फैन गह्यो,,

क्ष्मी धारयति—पोषयतीति माधव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार
न, दर्शन ओर चारित्ररूपी लक्ष्मी के पति माधव को सबोधित

करके कहता है—'हे माधव! मेरे बराबर जड और कौन है? यद्यपि मछली और पतग हीनमति कहलाते हैं, लेकिन मैंने तो उनसे भी बाजी मार ली है। मैं उनसे भी अधिक बुद्धिहीन हू। इस महामोह की नदी मे भटकते-भटकते अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है फिर भी मै इसका किनारा नही पा सका। महापुरुषो ने मुझसे नदी के किनारे पर पहुचाने के लिए कहा—'तू इस नौका पर सवार हो जा तो सरलता से पार हो जायेगा।' लेकिन मैं नौका पर तो आरूढ नही हुआ, पानी के फैन पकडने लगा और उनका सहारा खोजने लगा। मै अच्छी तरह समझता हू कि यह नौका है और यह फैन हैं। फिर भी मैने नौका का आश्रय न लेकर फैन का सहारा चाहा! बताइए, मुझ जैसा मूर्ख इस ससार मे और कौन होगा?'

जो सच्चा भक्त होगा और जो अपने हृदय मे माया को स्थान न देना चाहता होगा, वही इस प्रकार की बात कह सकता है। दूसरे मे इतनी हिम्मत कहां? जो पहले ही अपने को निष्पाप-दूध का धुला समझ बैठा है और महाज्ञानी मानता है उस पडितमन्य के मुख से इस प्रकार की बात निकल ही नहीं सकती। भक्तजन अपना आन्तरिक भाव प्रकट करते हुए यहा तक कहते हैं—

अवगुण ढाकन काज, करूं जिनमत-क्रिया।
तजू न अवगुण-चाल, अनादिनी जे प्रिया।।

अर्थात्-हे प्रभो! मै अपने अवगुणो को ढकने के लिए तो जिनमत की क्रिया करता हू, मगर अवगुणो का त्याग करने के लिए श्रम नही करता, जो अवगुण अनादि काल से मुझे प्रिय है।

हृदय मे जब इस प्रकार का उन्नतभाव व्यक्त होता है और सच्चाई के साथ गुरु के समक्ष अपने पापो की आलोचना की जाती है तो माया का विनाश अवश्य होता है। अगर पाप को नष्ट करने की भावना का उभ्द्व हो तो—

पाप-पराल को पुज बन्यो अति, मानहु मेरु आकारो।
सो तुम नाम हुतासन सेती, सहज ही प्रज्वलत सारो।।

अर्थात-सुमेरु जितना बडा पापो का पुज भी परमात्मा का शरण स्वीकार करने से नष्ट हो जाता है। कपट करके दूसरे को मायाजाल मे फसाया जा सकता है लोगो की ऐसी सामान्य मान्यता है, मगर उन्हे मालूम नही है कि ऐसा करके स्वय ही मायाजाल मे फस रहे है।

भगवान से आलोचना के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है। यह प्रश्न पूछने के बहाने वास्तव मे भाव-आलोचना की व्याख्या पूछी गई है। [illegible] माया छूटती है वही वास्तव मे भाव आलोचना है।

अनन्त ससार की वृद्धि करने वाली माया ही हे, और कोई नहीं। कतिपय लोग कहते हैं कि ईश्वर हमे दु ख देता है अथवा काल दु ख देता है। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि वास्तव मे दु ख देने वाली माया ही हे। अगर हमारे भीतर माया का वास न हो तो उस अवस्था से हमे कोई किसी प्रकार का दु ख नही दे सकता। आलोचना द्वारा माया का विमोचन होता हे ओर माया के विमोचन के पश्चात् किसी भी प्रकार का दु ख नही रह सकता।

माया, धर्मक्रिया का भी निदान करा देती है। इस लोक या परलोक के लिए अपनी धर्मक्रिया वेच देना निदान कहलाता है। माया ऐहलौकिक ओर पारलौकिक सुख के लिए निदान कराती है। किसी भी देखी–अनदेखी वस्तु के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान हे ओर निदान आत्मा के लिए शल्य के समान है।

कुछ लोग ऐसी आशका करते हैं कि भारतवर्ष धार्मिक क्षेत्र होते हुये भी दु खी क्यो है? ऐसा कहने वालो को यही उत्तर दिया जा सकता हे कि दूसरो के साथ सम्बन्ध जोडने से ही भारतवासी दु खी हो रहे हैं। धर्मक्रिया करने के साथ ही लोग मायाजाल रचते हैं, यही उनके दु ख का कारण है। प्राचीनकाल के पुरूष इन्द्र पदवी के लिए भी धर्मक्रिया का विक्रय नहीं करते थे ओर न अपने धर्म का परित्याग ही करते थे। मगर आज क्या स्थिति है? आज दो–चार पेसो के लिए भी धर्म को तिलाजलि दे दी जाती हे। ऐसी दशा मे भारत दु खी न हो तो क्या हो? सुख की अभिलाषा है तो मायानिदान का त्याग करो। जव तक मायानिदान का अन्त नहीं होता तव तक समस्त धर्मक्रिया भी व्यर्थ जाती हे। साराश यह है कि माया का त्याग किये विना धर्मक्रिया भी मोक्षसाधक नही हो सकती।

दशाश्रुतस्कन्ध मे कहा–एक बार राजा श्रेणिक ओर उनकी रानी चेलना उत्तम पोशाक पहनकर भगवान के समवसरण मे आये। उस समय वे वहुत ही सुन्दर दिखाई देते थे। यहा तक कि राजा श्रेणिक को देखकर कुछ साध्विया भी मन ही मन कहने लगी– 'राजा कितना सुन्दर दिखाई देता हे। रानी चेलना धन्य हे, जिन्हे ऐसा सुन्दर ओर वीर पति मिला हे। हम भी सयम का पालन करती हें। इस सयम का फल ऐसा सुन्दर पति मिलने के सिवाय ओर क्या हो सकता हे? अतएव हमारी यह कामना हे कि हमारे सयम के फलस्वरूप आगामी भव मे हमे ऐसा ही सुन्दर पति प्राप्त हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर कुछ साधु भी जजाल मे फस गये। वे मन मे कहने लगे–'तप ओर सयम का फल ऐसी सुन्दरी मिलने के अतिरिक्त ओर क्या होना

चाहिए? मोक्ष किसने देखा है? अतएव तप और सयम का अगर कुछ फल होता है तो हमे ऐसी ही सुन्दरी का लाभ हो। ऐसी सुन्दर स्त्री मिलना ही मुक्ति मिलना है।'

इस प्रकार कुछ साधुओ ने तथा कुछ साध्वियो ने अपनी—अपनी धर्मक्रिया का फल क्रमश चेलना जैसी स्त्री और श्रेणिक जैसे पति की प्राप्ति होना चाहा। साधु—साध्वियो के मन का यह भाव और तो कोई नही जान सका, पर सर्वज्ञ भगवान् से क्या छिप सकता था? भगवान् ने विचार किया—इस तरह का निदान करना ठीक नही है। मगर इन साधुओ और साध्वियो ने मोह के पताप से यह निदान किया है। अलबत्ता कुलीन होने के कारण वे अपना अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने मे विलम्ब नही करेगे। वीतराग भगवान् तो उपदेश देते है। कोई माने तो ठीक है। भगवान् किसी पर किसी प्रकार का दबाब नही डालते।

भगवान् ने उन साधुओ और साध्वियो को अपने पास बुलाया। उन सब के आने पर भगवान् ने सहसा यह नही कहा कि तुमने ऐसा निदान क्यो किया है? वरन् भगवान ने उन्हे निदान के नौ भेद और उनसे होने वाली हानिया समझाई'। भगवान् का उपदेश सुनकर वह सब समझ गये कि निदान करने से हमारी उलटी हानि ही हुई है। हमने तुच्छ चीज के लिए धर्मक्रिया का विक्रय कर डाला है, मगर इस निदान के फलस्वरूप वही चीज मिलेगी ही यह कौन कह सकता है?

उन साधुओ और साध्वियो ने मस्तक झुकाकर भगवान से कहा—'प्रभो! हमारा उद्धार करो।'

भगवान बोले—हे श्रमणो! और श्रमणियो! तुम किसी प्रकार का भय मत करो। आलोचना निन्दा और गर्हा करके की हुई भूल का प्रायश्चित्त करो तो तुम शुद्ध हो जाओगे।

वे साधु और साध्विया भगवान् के आदेशानुसार आलोचना, निन्दा और गर्हा करके पवित्र हुए।

वे साधु और साध्विया तो भगवान की वाणी सुनकर पवित्र हुए थे। आज भी [illegible] रूप मे भगवान विद्यमान है या नही? उनकी वाणी तो आज भी [illegible] है। अतएव भगवान की वाणी सुनकर तुम पवित्र बनो और [illegible] की आलोचना निन्दा तथा गर्हा करके शुद्धि करो।

[illegible] ने कहा है—

[illegible]

कयाइ पावाइ जेहिं अव्वाण वज्जए।
तेसिं तित्थयरे वयणेहि, सुद्धि अम्हाण कीरउ।।

यह गाथा वृहत्कल्पसूत्र के भाष्य की है। इसमे कहा है– मोहकर्म के उदय से जो–जो पापकर्म अर्थात् अनर्थ किये हो, आलोचना करने के लिए वह सब निष्कपटभाव से गुरु के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। शास्त्र धन्य है जिसने साधु–साध्वियो की आलोचना करके जीवन शुद्ध करने का चरित प्रकट करके हमे सावधान कर दिया है। इस चरित से हमे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कदाचित् अपने से ऐसा कोई कार्य हो जाये तो गुरु के समक्ष आलोचना करके इस प्रकार निवेदन करना चाहिए– 'गुरुदेव, मुझ से अमुक प्रकार का अपराध हो गया है। आप भगवान की वाणी के अनुसार मुझे शुद्ध और पवित्र कीजिए।' गुरु से इस प्रकार प्रार्थना करके उनके द्वारा दिये हुए दण्ड को स्वीकार करना चाहिए।

शास्त्र मे आलोचना के अनेक भेद किये गये हैं। मूल गुणो की भी आलोचना होती है और उत्तर गुणो की भी आलोचना होती है। साधुओ के मूल गुण पाच महाव्रत है और श्रावक के मूलगुण पाच अणुव्रत हैं। इनमे दोष लगना मूलगुणो मे दोष लगना कहलाता है और उनकी आलोचना करना मूलगुण की आलोचना है। मूलव्रत मे दोष लगने पर भी घबराने की आवश्यकता नही है कि हाय! मेरे मूलव्रत मे दोष लग गया! दोष लगता है इसी कारण तो आलोचना की जाती है। जो वस्त्र मलीन हो गया हो उसी को धोने की आवश्यकता होती है। साफ–सुथरे वस्त्र को धोने की क्या आवश्यकता होती है? इसी प्रकार दोष लगता है तभी आलोचना का विधान किया गया है।

बचपन मे, जब मै दीक्षा का उम्मीदवार था, प्राय यह पद गाया करता था–

बाहर भीतर समता राखो, जैन मे फैन खटसी रे,
कायर तो कादा मे खुचिया, शूरा पार उतरसी रे।।
यो भव रतन चिन्तामणि सरखो, बारम्बार न मिलसी रे,
चेत सके तो चेत रे जीवडा, एहवो जोग न मिलसी रे।।

अर्थात् बाहर और भीतर समता धारण करो। बाहर से तो किसी अन्य अभिप्राय से समता का प्रदर्शन किया जा सकता हे लेकिन भीतर समता रखना अत्यन्त ही कठिन हे। हम साधु अगर बाहरी समता न रखकर किसी से लडे तो तुम ही हमे उपालम्भ देने लगोगे। अतएव बाह्य समता तो हमे रखनी ही चाहिए। मगर जैसी समता बाहर रखी जाती हे, उसी प्रकार भीतर

भी होनी चाहिए। सच्ची समता वही है जो भीतर और बाहर एकसी हो। जो पुरुष बाहर की भाति भीतर समता रखता है, वही सच्चा वीर है। दस लाख योद्धाओ को जीतने वाले वीर की अपेक्षा भी आन्तरिक समता धारण करने वाला और सच्ची आलोचना करने वाला बडा वीर है।

आलोचना किसके समक्ष करनी चाहिए, यह भी जान लेना आवश्यक है। आलोचना एक चौकन्नी कही गई है, एक छकन्नी कही गई है और विशेष पसग उपस्थित होने पर आठकन्नी भी कही गई है। आठकन्नी से अधिक का विधान शास्त्र मे कही नही मिलता। चौकन्नी आलोचना वही है जिसमे दो कान आलोचना करने वाले के हो और दो कान आलोचना सुनने वाले के हो। जब कोई पुरुष, आचार्य के समक्ष आलोचना करता है तो दो कान उसके अपने होते है और दो कान आचार्य के होते हैं। जब आलोचना करने वाली कोई स्त्री हो तो दो कान उस स्त्री के दो कान आचार्य के और दो कान उस साध्वी के होते हैं जो आलोचना कराने के लिए स्त्री को साथ लायी है। यह दोनो प्रकार की आलोचनाए क्रमश चौकन्नी और छकन्नी कहलाती है। आचार्य यदि स्थविर अर्थात् वृद्ध हो तो किसी दूसरे साधु को पास रखने की आवश्यकता नही होती। अगर आचार्य तरुण हो तो पास मे एक साधु रखना आवश्यक है। इस प्रकार दो कान आलोचना करने वाली स्त्री के, दो कान साध्वी के, दो कान आचार्य के और दो कान साधु के होने से आलोचना आठकन्नी कहलाती है।

इस प्रकार की आलोचना गुप्त अपराध के लिए की जाती है। जो अपराध हो उसकी आलोचना पकट मे ही करनी चाहिए। शास्त्र मे कहा है–दसवे पायश्चित्त के अधिकारी को राजा या सेठ वगरैह के पास जाकर कहना चाहिए कि मुझसे अमुक पकार का अपराध हुआ है। उसकी शुद्धि के लिए अमुक दिन आलोचना होगी। आप कृपा करके अवश्य पधारे। सब लोगो से इस पकार कह कर और नियत समय पर उन सबके आ जाने पर अपने मस्तक पर पगडी रखकर गृहस्थ की भाति यह प्रकट करे कि साधु अवस्था मे मुझसे अमुक अपराध हो गया है। इस भाति प्रकट मे आलोचना करे और फिर [illegible] शुद्ध हो। तात्पर्य यह है कि जो दोष प्रकट हो उसकी आलोचना [illegible] प्रकट मे ही करनी चाहिए। अगर किसी श्राविका को साध्वी के पास ही आलोचना करनी हो तो वह चौकन्नी (चतु कर्णी) भी हो सकती ह। लेकिन [illegible] मौजूद हो तो साधु के पास ही आलोचना करनी चाहिए और

इस दशा मे आलोचना छकन्नी होनी चाहिए। हा, आचार्य तरुण हो तो एक साधु को भी साथ रखना चाहिए और इस दशा मे आलोचना आठकर्णी होगी।

कहने का आशय यह है कि आलोचना मे सरलता धारण करनी चाहिए। अपने मे कोई दोष आ गया हो तो उसे काटे के समान समझकर निकाल देना चाहिए। शरीर मे काटा लग गया हो तो उसे बाहर निकालना चाहिए या अन्दर ही रहने देना चाहिए? काटा तो वाहर ही निकाला जाता है। इसी प्रकार मायाशल्य, निदानशल्य ओर मिथ्यादर्शन–शल्य भी आत्मा के काटे के समान है। इस त्रिविध शल्य को आत्मा मे रहने देना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है? किसी भाले की नौंक टूटकर शरीर मे घुस जाये तो उसे निकालने मे विलम्ब नही किया जाता, इसी प्रकार इस त्रिविध शल्य को तत्काल बाहर निकाल देना चाहिए। आलोचना द्वारा ही शल्य बाहर निकाले जा सकते है। अतएव अकृत्यो की आलोचना करने मे भीरुता या कायरता मत दिखाओ। आज बनिया बनकर जो आघात तुम पीठ पर सहन करते हो, वही आघात वीर बनकर छाती पर सहन करो और पापो का प्रायश्चित्त करो। इसी मे आत्मा का कल्याण है।

भगवान से यह प्रश्न किया गया था कि आलोचना से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने फरमाया है कि आलोचना द्वारा सरलता प्राप्त होती है। भगवान का यह उत्तर हमे यह शिक्षा देता है कि सच्ची आलोचना वही है जो सरलतापूर्वक की जाये अथवा जिसके करने पर सरलता प्रकट हो। शास्त्र मे कहा है कि जिस अपराध का दण्ड एक मास का है, उसकी आलोचना निष्कपटभाव से की जाये तो एक ही मास का दण्ड दिया जाता है। लेकिन कपट सहित आलोचना करने पर दो मास का दण्ड मिलता है। अर्थात् एक मास का दण्ड अपराध का होता है ओर एक मास का कपट करने का। यह विधान करके शास्त्रकारो ने माया–कपट को महान् अपराध गिना है और इसीलिए भगवान ने कहा है कि सरलतापूर्वक आलोचना करने वाले मे माया–कपट नही रहेगा।

ससार मे भ्रमण कराने वाली माया, कपट या अविद्या ही हे। कपट ही ससार का वीज है। भगवान कहते हे कि कपट अर्थात् माया के ही प्रताप से जीवो को स्त्रीवेद ओर नपुसकवेद का बध होता हे। जो निष्कपटभाव से आलोचना करेगा और सरलता धारण करेगा उसे इन दोनो वेदो का वध नही होगा। इतना ही नही, कदाचित् स्त्रीवेद या नपुसकवेद का बध पहले हो चुका होगा तो उसकी भी निर्जरा हो जायेगी।

कुछ लोग समझते हैं कि किये हुए कर्म भोगने ही पडते हैं। यह बात सत्य है,मगर साथ ही शास्त्र यह भी बतलाता है कि सरलता धारण करने से कृत कर्मो की निर्जरा भी हो जाती हैं। कर्मो की निर्जरा न हो सकती होती तो मोक्ष का उपदेश वृथा हो जाता।

कपटहीन होकर अपने पापो की आलोचना करने से क्या लाभ होता है? इसके लिए टीकाकार ने सग्रह रूप मे जो कथन किया है, उसका आशय यह है कि आलोचना करने से स्त्रीवेद या नपुसकवेद का बध नही होता। यही नही बल्कि पहले के बधे हुए स्त्रीवेद या नपुसकवेद रूप कर्म की निर्जरा भी हो जाती है और साथ ही साथ मोक्ष के विघातक अन्य कर्मो का भी नाश होता है। इस तरह सरलतापूर्वक आलोचना करने का फल महान् है, अतएव सरलता का महत्व भी बहुत है और यदि सरलतापूर्वक परमात्मा को वन्दन किया जाये तो आत्मा को परमात्मभाव की भी प्राप्ति होती है। दर्पण मे मुख देखना हो तो आवश्यक है कि दर्पण और मुख के बीच कोई व्यवधान न हो। अगर थोडासा भी व्यवधान हुआ तो मुह नही दिख सकता। इसी प्रकार आलोचना करते समय बीच मे जरा भी कपट का व्यवधान रखा गया तो वह सच्ची आलोचना नही होगी एक प्रकार का ढोग होगा। इससे आलोचना का असली लाभ प्राप्त नही किया जा सकता। इसलिए आलोचना कपटरहित ही करनी चाहिए।

किसी धनाढ्य सेठ के पुत्र को कोई भयकर रोग हुआ। पुत्र का रोग दूर करने के लिए सेठ ने अनेक वैद्य बुलाए। वैद्यो ने कहा—'ऐसा रोग मिटाने के लिए करोड दवाओ की आवश्यकता है। इन करोडो दवाओ का मूल्य भी करोडो रुपया होगा।' सेठ ने प्रश्न किया—'यह तो ठीक है, परन्तु थोडी-थोडी होने पर करोड दवाओ का वजन कितना अधिक हो जाएगा?' वैद्यो ने कहा—'वजन तो अवश्य अधिक हो जायेगा, मगर उस दवा से औरो को भी लाभ पहुचेगा। आपके पुत्र का रोग नष्ट होने के साथ इस रोग के अन्य रोगियो को भी आरोग्यता मिलेगी। हमारे ख्याल से तो आपके पुत्र को यह रोग, अन्य रोगियो का रोग मिटाने के लिये ही आया है।'

वैद्यो का यह कथन सेठ को उचित प्रतीत हुआ। उसने तिजोरी से रूपया निकाल कर दवाइया सग्रह करवाई। उन सब दवाओ से वैद्यो ने एक विशेष दवा तैयार की, जिसके सेवन से सेठ का लडका निरोग हो गया। तदनन्तर सेठ ने घोषणा करवा दी अमुक रोग की दवा हमारे पास मौजूद है। जो इस रोग से ग्रस्त हो, हमसे दवा ले जाय। इस घोषणा से अनेक लोग आकर सेठ से दवा लेने लगे और दवा का सेवन करके रोगमुक्त होने लगे।

अब आप विचार कीजिए कि सेठ के लडके को रोग हुआ तो यह अच्छा हुआ या बुरा? वास्तव मे इस सम्बन्ध मे एकान्त रूप से कुछ नही कहा जा सकता। मगर उस दवा के सेवन से जो रोगमुक्त हुए थे, उनका कहना था कि हमारे भाग्य से ही सेठ के लडके को रोग हुआ था। उनका यह कथन सुनकर सेठ क्या कह सकता था?

इसी प्रकार आत्मा को किसी प्रकार की त्रुटि का रोग हुआ है। भगवान महावीर महावैद्य के समान हैं। वे आलोचना को ही उस रोग की अमोघ औषधि बतलाते हुए कहते है—'हे श्रमणो! हे श्रमणियो! यह औषधि ऐसी अमोघ है कि सेवन से तुम रोगमुक्त हो जाओगे। इतना ही नही, किन्तु तुम्हारे साथ दूसरो के भी रोग मिट जाएगे।' इस प्रकार भगवान ने हम लोगो को अमोघ औषधि बतलाई है। मगर जो औषध का सेवन ही नही करेगा, उसका रोग किस प्रकार मिटेगा? भगवान तो त्रिलोकनाथ है। वह नरक योनि तक के जीवो का दु ख मिटाना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होने निर्ग्रन्थप्रवचन रूपी औषधि का उपदेश दिया है और कोई उसका सेवन करे या न करे, किन्तु हमे अर्थात् साधु साध्वी, श्रावक-श्राविका को तो भगवान की बतलाई हुई दवा लेनी ही चाहिए। अगर हमने नियमित रूप से दवा का सेवन किया तो हमारा रोग नष्ट हो जायेगा। हमारे रोग के नाश से दूसरे को भी दवा पर

विश्वास होगा और वे भी उसका सेवन करके अपने भवभ्रमण का अन्त कर सकेगे। इस पकार आलोचना करने से करने वाले को तो लाभ होता ही है, मगर दूसरो को भी काफी लाभ पहुचता है।

आलोचना का उद्देश्य क्या है? आलोचना न करने से क्या हानि होती है? और आलोचना करने से किस फल की प्राप्ति होती है? इन सब प्रश्नो का समाधान करने वाली एक गाथा टीकाकार ने उद्धृत की है। वही यह है–

उद्धियदडो साहू, अचिर जे सासय ठाणं।
सोवि अणुद्धे दडो, संसारे पवडओ होति।।

अर्थात्–साधुओ के लिए यही उचित है कि उनकी आत्मा मे यदि पापरूपी शल्य हो तो उसे बाहर निकाल दे, फिर चाहे वह मिथ्यात्वशल्य हो, निदानशल्य हो अथवा कषायशल्य हो। इस त्रिविध शल्य मे से कोई भी शल्य घुस गया हो तो उसे बाहर करके नि शल्य हो जाना चाहिये। इस प्रकार नि शल्य हो जाने से थोडे ही समय मे शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसके विरुद्ध जो साधु नि शल्य नही होता, अपनी आत्मा मे पाप रहने देता है और अपने मे से दड को बाहर नही कर देता, वह अनन्त ससार की वृद्धि करता है। अतएव जिन्हे ससार से बाहर निकलने की अभिलाषा है, उन्हे अपने पाप प्रकाशित करके, निष्कपट भाव से आलोचना करनी ही चाहिए।

पाचवे बोल का वर्णन यहा समाप्त हो रहा है। इस बोल का वर्णन सुनकर हमे क्या करना चाहिए? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है। भगवान कहते है–'मै तो सभी जीवो का कल्याण चाहता हू किन्तु अपना कल्याण अपने ही हाथ मे है।

पूज्य श्री श्रीलाल जी महाराज कई बार कहा करते थे कि आजकल साधुओ मे यह खराबी घुस गई है कि वे ऊपर से तो साफ रहते हैं मगर भीतर पोल चलाते है। इस पद्धति से साधुओ की तथा समाज की वहुत हानि हुई है। आज भी यही देखा जाता है कि कतिपय साधु ऊपर से तो साधुता का सुन्दर स्वाग रचते है मगर भीतर पोल चलाते रहते हैं। देशनेताओ, समाजसेवको और जातिसेवको मे भी कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं जो वाहर कुछ प्रकट करते हैं और भीतर कुछ और ही करते है। आज तो धर्ममार्ग मे भी यही होने लगा है।

जिस काल मे ऐसा अन्धेर होता है, शास्त्रकार उसे विषमकाल कहते है। ऐसा कोई काल नही है, जिसमे पाप न होते हो, मगर जिस काल मे पापो को छिपाने का प्रयत्न नही किया जाता, पाप होने पर प्रकट कर दिये जाते है और उनके परित्याग की भावना रहती है उस काल मे चाहे जितने पाप हो फिर भी वह कल्याण का ही काल कहलाता है। अपराध इसी काल मे होते है, ऐसी कोई बात नही है। पहले भी अपराध होते थे। किन्तु वर्त्तमानकाल और भूतकाल मे अन्तर यह है कि भूतकाल मे अपराध, अपराध समझे जाते थे और उन्हे छिपाया नही जाता था, जब कि वर्त्तमान काल मे अपराधो को प्रकट करने की पद्धति बहुत ही कम दिखाई देती है और पापो एव अपराधो को पाप एव अपराध मानने वाले लोग भी बहुत कम नजर आते है। देश भर मे, चहु ओर फैले हुए इस रोग के कारण ही आज विदेशी लोग भारतीयो पर अधिक भरोसा नही करते। इतिहास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भारत मे बहुत से ऐसे लोग भी हो गये हैं जिन्होने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए देशद्रोह तक किया है। अगर ऐसा हुआ तो इसके लिए शास्त्र दोष के पात्र नही है। शास्त्र तो स्पष्ट घोषणा करते हे कि सरल बनो, कपट न करो। अपराध के पाप से कपट का पाप कम नही वरन् ज्यादा ही हे।

सरलता धारण करने से और अपराध को अपराध मानने से कितना लाभ होता है, इस बात के अनेक उदाहरण शास्त्र मे तथा इतिहास मे लिखे है। सती चन्दनबाला और मृगावती का उदाहरण बहुत ही वोधप्रद हे।

सती चन्द्रवाला महान् सती मानी जाती हे। वह समस्त सतियो मे महती सती थी। इसी प्रकार मृगावती भी बडी सती मानी गई है। इन दोनो सतियो मे पारस्परिक प्रेम भी खूब घना था। फिर भी एक दिन, अनजान मे जब सती मृगावती अकाल मे स्थान से वाहर रह गई तो सती–शिरोमणी चन्दनवाला ने उनसे कहा–'आप सरीखी बडी सती को अकाल मे बाहर रहना शोभा नही देता।' इस प्रकार चन्दनबाला ने मृगावती को मीठा उपालम्भ

किया। मृगावती सोचने लगी–'आज मुझे उपालम्भ सहना पडा।' यद्यपि मृगावती कह सकती थी कि मै जान–बूझकर बाहर नही रही। मगर उनमे ऐसा विनय था, ऐसी नम्रता थी कि वह ऐसा कह नही सकी। वह विनयपूर्वक खडी रहकर विचार करने लगी–मुझ मे कितना अज्ञान है कि मेरे कारण मेरी गुराणीजी को इतना कष्ट हुआ। मुझ मे अपूर्णता न होती तो यह प्रसग ही क्यो उपस्थित होता?'

इस पकार अपने अज्ञान का विचार करते–करते सारे ससार का विचार कर डाला कि अज्ञान ने क्या–क्या अनर्थ नही किये है? अज्ञान ने मुझे ससार मे इतना घुमाया है। इस प्रकार अज्ञान की निन्दा और अपनी भूल के पश्चात्ताप के कारण उनमे ऐसे उज्ज्वल भाव का उदय हुआ कि अज्ञान का सर्वथा नाश हो गया और केवलज्ञान हो गया। केवलज्ञान हो जाने पर भी सती मृगावती खडी ही रही। इतने मे उन्होने अपने ज्ञान से देखा कि एक काला साप उसी ओर जा रहा है, जिस ओर महासती चन्दबाला हाथ को तकिया बनाकर सो रही है। हाथ हटा न लिया जाये तो सम्भव है साप काटे बिना नही रहेगा। साप ने काट खाया तो कितना घोर अनर्थ हो जायेगा! इस प्रकार विचार कर साप का मार्ग रोकने वाली महासती चन्दनबाला का हाथ हटा कर एक ओर कर दिया। हाथ हटते ही चन्दनबाला की आख खुली। आख खुलते ही उन्होने पूछा– 'मेरा हाथ किसने ,खीचा?' मृगावती बोली क्षमा कीजिए। आपका हाथ मैंने हटाया है।' चन्दनबाला ने फिर पूछा–'किसलिए हाथ हटाया है?' मृगावती ने उत्तर दिया– 'कारणवश हाथ हटाने से आपकी निद्रा भग हो गई। आप मेरा अपराध क्षमा करे।' चन्दनबाला ने कहा–तुम अभी तक जाग ही रही हो? मृगावती ने उत्तर दिया– 'अब निद्रा लेने की आवश्यकता ही नही रही।' चन्दनबाला ने पूछा–'पर हाथ हटाने का क्या प्रयोजन था? मृगावती ने कहा– 'इस ओर से एक काला साप आ रहा था।

अपने अपराध छिपाने के लिए परिश्रम किया जाता है। मृगावती जान–बूझकर अपने स्थान से बाहर नही रही थी। अनजान मे बाहर रह जाने पर भी अपने को अपराधी मानना कितनी सरलता है।

सती मृगावती को केवलज्ञान हुआ हे, यह जानकर चन्दनबाला पश्चात्ताप करने लगी। उन्होने सोचा–मैंने ऐसी उत्कृष्ट सती को उपालम्भ दिया ओर केवली की भी असातना की। मुझसे यह बडा अपराध बन गया हे। मैं अपने अपराध तो देखती नही, दूसरो को उपालम्भ देती हू!' इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई सती चन्दनबाला ने मृगावती से कहा–'मैंने आपकी अवज्ञा की है और मेरे कारण आपको कष्ट पहुचा हे। मेरा यह अपराध आप क्षमा करे। जब मै अपना ही अपराध नही देख सकती तो दूसरो को किस बिरते पर उपालम्भ दे सकती हू? मृगावती ने कहा– आपने मुझे जो उपालम्भ दिया उसी का तो यह प्रताप है! फिर अनन्तज्ञान प्रकट हो जाने पर भी गुरु–गुरानी का विनय तो करना ही चाहिए। अतएव आप किसी प्रकार का पश्चात्ताप न करे। हा, मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।'

चन्दनबाला विचारने लगी–इस तरह का उपालम्भ मैंने न जाने किसे–किसे दिया होगा? अज्ञान के कारण ऐसे अनेक अपराध मुझसे हुए होगे। मैंने अपना अपराध तो देखा नही ओर दूसरो को ही उपालम्भ देने के लिए तेयार हो गई। चन्दनबाला इस प्रकार आत्मनिन्दा करने लगी। आत्मनिन्दा करते–करते उन्हे भी केवलज्ञान हो गया।

कहने का आशय यह हे कि सरलता धारण करने से ओर अपने पापो का गम्भीर विचार करने से आत्मा नवीन कर्मो का बध नही करता, वरन् पूर्वबद्ध कर्मो को नष्ट कर डालता हे। भगवान न कहा– आलोचना करने से स्त्रीवेद ओर नपुसकवेद का बध नही होता। अगर इन वेदो का पहले बध हो गया हो तो उन कर्मों की निर्जरा हो जाती हे। ऐसा होने पर भी हमे आलोचना के द्वारा पुरुपवेद के बध की कामना नही करनी चाहिये। हमारा एकमात्र उद्देश्य समस्त कर्मो का क्षय करना ही होना चाहिए।

छठा बोल

आत्मनिन्दा

उत्तराध्ययनसूत्र के 29 वे अध्ययन के पाचवे बोल–आलोचना के विषय मे विचार किया जा चुका है। शास्त्र मे शिष्य ने प्रश्न पूछे है और भगवान ने उनका उत्तर दिया है। यद्यपि यह प्रश्नोत्तरी गुरु–शिष्य के बीच हुई है फिर भी यह सकल ससार के लिए हितकर है। अतएव इस प्रश्नोत्तरी पर ध्यान देना आवश्यक है।

आलोचना की सफलता आत्मनिन्दा पर निर्भर है। आलोचना आत्मनिन्दापूर्वक ही होनी चाहिए। इसी कारण शिष्य ने आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा के विषय मे प्रश्न पूछा है। प्रश्न इस प्रकार है–

प्रश्न–णिन्दणयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर–णिन्दणयाए ण पच्छाणुताव जणयइ पच्छाणु तावेण विरज्जमाणे करणगुणसेढि पडिवज्जइ करणगुणसेढि पडिवण्णे य ण अणगारे मोहणिज्ज [illegible] उग्घाइए।। 6।।

शब्दार्थ

प्रश्न-भते! आत्मनिन्दा से जीव क्या पाता है?

उत्तर–आत्मदोषो की निन्दा पश्चात्ताप की भट्ठी सुलगाती है। [illegible] दोष भस्म हो जाते है और वैराग्य का उदय होता है। [illegible] श्रेणी (क्षपकश्रेणी) प्राप्त करता है और वह [illegible] मोहनीयकर्म का क्षय करता है।

व्याख्यान

आलोचना के विषय मे प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् निन्दा के विषय मे प्रश्नोत्तर किस अभिप्राय से किया गया है? इस विषय मे टीकाकार कहते है कि आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा करनी ही चाहिये, क्योकि आत्मानिन्दा करने से ही आलोचना सफल होती हे। सच्ची वात वही मानी जाती हे जो कसौटी करने पर खरी उतरे। सच्चा सोना वही है जो कप, छेद और ताप की परीक्षा मे खरा उतरता हे। इसी प्रकार आलोचना भी वही सच्ची मानी जाती है जो आत्मनिन्दापूर्वक की गई हो।

ज्ञानीपुरुषो का कथन हे कि जो शक्ति पराई निन्दा मे खर्च करते हो, वह आत्मनिन्दा मे ही क्यो नही लगाते? आत्मनिन्दा के विना की जाने वाली आलोचना, ढोग के अतिरिक्त और कुछ भी नही हे। ऐसी आलोचना मे पोल रहती है और एक न एक दिन पोल खुले विना नहीं रह सकती। अतएव आलोचना के साथ आत्मनिन्दा भी करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता हे–जव आत्मा ने किसी प्रकार का कुकृत्य किया हो, तो आत्मा की निन्दा करना उचित हे। अगर कोई कुकृत्य ही न किया हो तो आत्मनिन्दा की क्या आवश्यकता हे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं– कोई पूर्ण पुरुष ही ऐसा हो सकता हे जिसने किसी भी प्रकार का अपराध या दुष्कृत्य न किया हो। छद्मस्थ पुरुष से तो किसी न किसी प्रकार का अपराध हो ही जाता हे। अतएव उस अपराध को छिपाने का प्रयत्न न करते हुए आत्मनिन्दा के द्वारा उसे दूर करना चाहिए। यद्यपि मूलपाठ मे सिर्फ निन्दा–शव्द का प्रयोग किया गया हे। तथापि उसका अभिप्राय यहा आत्मनिन्दा करना ही हे। परनिन्दा के साथ उसका कोई सम्वन्ध नही हे।

शिष्य ने भगवान से प्रश्न किया–आत्मनिन्दा करने से जीव को क्या फल मिलता हे? किसी भी कार्य का निर्णय उसके फल से ही होता है। आम और एरड के वृक्ष मे फल की भिन्नता से भेद किया जाता हे। अतएव यहा यह जान लेना आवश्यक हे कि आत्मनिन्दा करने से किस फल का लाभ होता ह? फल पर विचार करने से यह भी ज्ञात हो जायेगा कि आत्मनिन्दा करना उचित हे या नही? इसी अभिप्राय से शिष्य ने भगवान स यह प्रश्न पूछा हे कि आत्मनिन्दा करने से क्या फल मिलता हे? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा– आत्मनिन्दा करने से 'मने यह खराव काम किया हे' किस प्रकार का पश्चात्ताप होता हे।

पश्चात्ताप करने मे लोगो को यह भय रहता है कि मै दूसरो के सामने हल्का या तुच्छ गिना जाऊगा। मगर इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना पतन का कारण है। सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की जायेगी तो 'मैने अमुक दुष्कृत्य किया है अथवा मैने अमुक पाप छिपाया है' इस प्रकार का विचार आये बिना रह ही नही सकता। ऐसा करने से आत्मा मे अपने दोषो को पकट करने का सामर्थ्य आता है और अपने पापो को छिपा रखने की दुर्बलता दूर होती है।

जैसे दर्पण मे अपना मुख देखते हो, उसी प्रकार अपनी आत्मा मे देखे तो विदित हो जायेगा कि आत्मा मे कितना और किस प्रकार की त्रुटिया विद्यमान है। दर्पण मे मुख देखने मे तो भूल नही होती परन्तु आत्मनिन्दा करने मे भूल हो जाती है। आत्मा अपनी निन्दा न करके परनिन्दा करने को उद्यत हो जाता है। जब तुम्हारे अन्त करण मे निन्दा करने की प्रवृत्ति है तो फिर उसका उपयोग आत्मनिन्दा करके निर्दोष और निरपराध बनने मे क्यो नही करते? परनिन्दा करके अपने दोषो की वृद्धि क्यो करते हो? जब दुर्गुण ही देखने है तो अपने ही दुर्गुण क्यो नही देखते? और उन्ही दुर्गुणो की निन्दा क्यो नही करते? अपनी त्रुटिया दूर करने के लिए हमारे सामने क्या आदर्श है यह बतलाने के लिए कहा गया है कि–

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मणयन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येक वचस्येक कार्यमेक महात्मनाम्।। हितो 1/101

अर्थात्–दुरात्मा अपने मन की, वचन की और कार्य की प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न रखता है अर्थात् उसके मन मे कुछ होता है, वचन से कुछ कहता है और कार्य कुछ और ही करता है। किन्तु महात्मा पुरुषो के मन, वचन और काय मे एक ही बात होती है।

आत्मनिन्दा करने मे इस नीतिवाक्य को आदर्श मानकर विचार करो कि मै जिह्वा से जो कुछ कहता हू वह मेरे कार्य के अनुसार है या नही? ऐसा तो नही है कि मै कहता कुछ और करता और हू? गिनती मे कोई भूल नही होती। तुम पाच और पाच का योग दस ही कहते हो–नौ या ग्यारह नही। इसी प्रकार [illegible] संसार मे यदि सत्य का ही व्यवहार हो तो कोई झगडा [illegible] होता कुछ और ही है। जब दूसरे को ठगना होता है तो [illegible] नही किया जाता है। वहा कहना और करना अलग–अलग [illegible] दो जिह्वाए होती है। उसे 'द्विजिह्व' कहते है। इसी [illegible] साप कहलाते है और साप विषैला समझा जाता है।

किन्तु मनुष्य के एक ही जीभ होती हे। अतएव मनुष्य मे दोहरी प्रवृत्ति होना उचित नही है। वाणी तथा कार्य की एकता ही मनुष्यता का प्रमाण हे। जो व्यक्ति वाणी और कार्य के बीच का अन्तर समझेगा वह आत्मसुधार की दृष्टि से आत्मनिन्दा ही करेगा। वह परनिन्दा करने की खटपट मे नही पडेगा।

वाणी और कार्य की तुलना करने के साथ मन और कार्य की भी तुलना करो और साथ ही साथ मन तथा वचन की भी तुलना करो। मन का भाव जुदा रखना और कार्य जुदा करना स्थानागसूत्र के कथनानुसार विष के घडे को अमृत के ढक्कन से ढकने के समान है। ऐसा करना ससार को धोखा देना है। मन एव वचन मे कुछ और होना और कार्य कुछ और करना आत्मा की बडी दुर्बलता है। आत्मा के कल्याण के लिए यह दुर्बलता दूर करनी ही चाहिए।

वास्तव मे होना यह चाहिए कि मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति मे किसी प्रकार का अन्तर न रहे। मगर आज तो उलटी ही सीख दी जाती है कि कार्य से चाहे जो पाप करो पर वचन मे सफाई रखो ओर यदि दूसरो को धोखा देने की यह कला तुमने सीख ली तो बस मौज करोगे। किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो ऐसा करने मे मौज नही है आत्मा का पतन है। ज्ञानीजनो का कथन है कि बोलना कुछ, करना कुछ और सोचना कुछ यह सब प्रवृत्तिया आत्मा को पतित करने वाली हैं। अगर आत्मा के उत्थान की इच्छा है तो इन प्रवृत्तियो से दूर ही रहो।

धृतराष्ट्र ने अपने अन्तिम समय मे, कुन्ती के सामने आलोचना करके अपने पापो की शुद्धि की थी। उस आलोचना के सम्बन्ध मे विचार करने से एक नई बात सामने आती हे। अपने पापो की आलोचना करते हुए धृतराष्ट्र ने सजय से कहा—'हम लोग जब वन मे भ्रमण कर रहे थे तो एक ऐसा अन्धकूप हमे मिला था जो ऊपर से घास से ढका था। उस अन्धकूप को खराब कहा जाये या अपने आपको खराब कहा जाये? मेरा सम्पूर्ण जीवन लोगो को, अन्धकूप की भाति, भ्रम मे डालने मे व्यतीत हुआ है। मे ऊपर से तो पाडवो की भलाई चाहता था ओर शास्त्रविधि के अनुसार उन्हे आशीर्वाद भी देता था, मगर हृदय मे यही था कि पाडवो का नाश हो ओर मेरे ही बेटे राज्य करे।'

तुम्हारा व्यवहार तो धृतराष्ट्र के समान नही हे? धृतराष्ट्र की कूटनीति ने कितनी भयकर हानि पहुचाई थी यह कोन नही जानता? उसकी कूटनीति के कारण ही महाभारत सग्राम हुआ था जिसमे अठारह अक्षोहिणी

सेनाओ का बलिदान हुआ था, अनेक तरुणिया विधवा हो गई थी और अनेक बालक अनाथ बन गये थे, व्यापार चौपट हो गया था और चारो और चोर–डाकुओ का महान् उपद्रव मच गया था। धृतराष्ट्र ने कहा– यह सब अनर्थ मेरी ही कलुषित बुद्धि के कारण हुए है। मेरी बुद्धि मे कलुषता न होती तो यह अनर्थ भी न होते। साधारण मनुष्य के पाप का फल उसी तक सीमित रहता है मगर महान् पुरुष के पापो का फल सारे समाज और देश को भुगतना पडता है। इस नियम के अनुसार मेरे पापो का फल भी सर्वसाधारण को भोगना पडा है। मेरे हृदय मे सदैव यह दुर्भावना बनी रही कि किसी तरह पाण्डवो का नाश हो और मेरे पुत्र निष्कण्टक राज्य भोगे। मै पाण्डवो की अभिवृद्धि फूटी आखो से भी नही देख सकता था। मैने पाण्डवो को जो कुछ दिया, वह बहुत थोडा था, फिर भी पाण्डवो ने अपने पराक्रम से, लोकमत अनुकूल करके उसमे बहुत वृद्धि कर ली थी। पाण्डवो की इस अभिवृद्धि से मुझे प्रसन्न होना चाहिए था। मगर मेरे दिल मे तो द्वेष का दावानल दीप्त हो रहा था। मै उनका अभ्युदय नही देख सका। मै अपने जिन पुत्रो को राज्य देने के लिए पाण्डवो का नाश चाहता था, मेरे वह पुत्र भी ऐसे थे कि राज्य के लिए उन्होने भीम को विष खिला दिया था, और पाण्डवो को भस्म कर डालने के लिए लाक्षागृह बनाया था। यह सब मायाजाल रचने के उपलक्ष्य मे मैने अपने पुत्रो की थोडी निन्दा की थी, लेकिन भावना मेरी भी यही थी कि किसी भी उपाय से पाण्डवो का नाश हो जाये। इस प्रकार मैं हृदय से पाडवो का अहित ही चाहता था, तथापि भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्य सज्जनो के समक्ष मेरी निन्दा न हो ओर मै नीच न गिना जाऊ, इस विचार से प्रेरित होकर कपटक्रिया करता रहता था। अगर मै कपटक्रिया से बचा होता और निष्कपट व्यवहार किया होता तो आज मुझे पुत्रनाश का दुस्सह दुख न देखना पडता।

धृतराष्ट्र का इस प्रकार का पश्चात्ताप और उस पश्चात्ताप का विवरण ग्रन्थो मे सुरक्षित रहना जगत के हित के लिए उपयोगी प्रतीत होता है। धृतराष्ट्र कहते है– मै पहले समझ सका होता कि मेरी इस कपटक्रिया का यह भयकर परिणाम होगा तो मै इस भीषण पाप से बच गया होता। हे दुर्योधन! तेरे ही पाप के कारण भीम ने तेरा सहार किया है। निष्पाप पतिव्रता गान्धारी ने बार–बार मुझसे कहा था कि दुर्योधन का त्याग कर दो। जब जुआ [illegible] हुआ तभी गान्धारी ने उग्रतापूर्वक मुझसे कहा था–'इस पापी दुर्योधन [illegible] कर दो अन्यथा उसके कारण कदाचित् कुल का भी सहार हो

जायेगा।' मगर पुत्रस्नेह के वश होकर मैंने उसकी बात नही मानी। पुत्र के प्रति अनुचित स्नेहमोह रखने का यह परिणाम आया है कि आज कुल का सहार हो गया और पुत्र–वियोग की वेदना भोगनी पडी।'

इस घटना का उल्लेख करने का आशय यह बतलाना है कि पाप को छिपा रखने से अन्त मे कितना दुष्परिणाम होता है। यह बात ध्यान मे रखकर पाप को दबाने की चेष्टा मत करो। उसे तत्काल प्रकाश मे ले आओ।

सिख अर्गन होते चाह चली, खर कूकन की धिक्कार उसे।
जिन खाय के अमृत वांछ रही, लीद पशुअन की धिक्कार उसे।
जिन पाय के राज्य की आशा रही चक्की चाटनकी धिक्कार उसे।
जिन पाय के ज्ञान की आश रही जग विषयन की धिक्कार उसे।

इस कविता मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है वे दूसरे के बोधक है। मगर हमारे लिए विचारणीय यह है कि मधुर वाद्य की मनोहारिणी ध्वनि यदि कर्णगोचर होती हो तो उसे छोडकर गधे की कर्ण कटुक आवाज सुनने की इच्छा करने वाले को धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार जो पुरुष अपने पाप छिपाता है तथा सुकृत करने की शक्ति और योग्य अवसर पा करके भी दुष्कृत करता है, उसके लिए धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त जो अपनी आत्मा की निन्दा नहीं करता और परनिन्दा के लिए कमर कसे रहता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। जो पुरुष अमृत के समान भोजन का त्याग करके गधे की लीद खाने दौडता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। मतलब यह हे कि आत्मनिन्दा अमृतमय भोजन के समान हे ओर पराई निन्दा करना गधे की लीद के समान है। तुम्हारे पास आत्मनिन्दारूपी अमृतमय भोजन हे तो फिर परनिन्दारूपी गधे की लीद खाने के लिए क्यो दोडते हो? अपनी आत्मा को न देखना और दूसरो की वह अगर चक्की चाटने की इच्छा करता हे तो उसे धिक्कार देने के सिवाय ओर क्या कहा जाये? क्योकि चक्की चाटने का स्वभाव तो कुत्तो का है। कवि के इस कथन को लक्ष्य मे रखकर आप अपने विषय मे विचार करे कि आपकी आत्मा तो ऐसी भूल नहीं कर रही हे? न जाने किस प्रवल पुण्य के उदय से आपको चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष से भी अधिक मूल्यवान मानव–शरीर मिला हे। चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष तो मिल जाये मगर मनुष्य–शरीर न मिले तो यह सव चीजे किस काम कीं? ऐसा उत्तम मानव जन्म पा करके भी जो आत्मनिन्दा करने के बदले

परनिन्दा मे प्रवृत्त होते है, उनका कार्य राज्य मिलने पर भी चक्की चाटने के समान है।

आत्मनिन्दा द्वारा सब तरह का सुधार हो सकता है। पाप खराब है, इसलिए पाप की निन्दा की जाती है, मगर जिस पाप को तुम खराब मानते हो और जो वास्तव मे ही खराब है अथवा जिस पाप के कारण तुम पराई निन्दा करते हो, वह पाप तुम्हारे भीतर तो नही है? उदाहरणार्थ–हरामखोरी करना खराब काम है। अतएव एक आदमी दूसरे को हरामखोर कहकर धिक्कारता है। मगर उस धिक्कार देने वाले को देखना चाहिए कि मुझमे भी तो यही बुराई नही है? अगर खुद मे यह बुराई है तो अपनी बुराई की ओर से आख फेर कर दूसरे की ही बुराई क्यो देखी जाये? कदाचित् दूसरे की निन्दा करके तुम अपनी मित्रमण्डली मे भले आदमी कहला लोगे, परन्तु ज्ञानीजन तो वास्तविक बात के सिवाय और कोई बात अच्छी नही समझते। अतएव उनके सामने परनिन्दा करके तुम भले नही कहला सकते।

कवि अन्त मे यही कहता है कि जो व्यक्ति स्वय बुरा होते हुए भी दूसरो की निन्दा करके अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है, उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाये? जो अपने को ज्ञानी कहलाकर भी विषयो की आशा रखता है, वह अज्ञानियो से भी अधिक खराब है।

ऊपर कही हुई बाते भलीभाति समझ लेने से आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी और जब आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी तो पापो के लिए पश्चात्ताप भी होगा। भक्तजन आत्मनिन्दा करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करते। वे स्पष्ट शब्दो मे घोषणा कर देते है–

हे प्रभो! हे प्रभो! शू कहू, दीननाथ दयाल।
हु तो दोष अनन्तनु, भाजन छु करूणाल।।

अर्थात्–हे भगवान! मै अपने दोषो का कहा तक वर्णन करू! अनजान मे मैने बहुतेरे दोष किये है। उनकी बात ही अलग है। मगर जान–बूझकर जो दोष किये है और जिनकी मै निन्दा भी करता हू, वही दोष फिर करने लगता हू। मै दूसरे के दोष आख पसार कर देखने को तत्पर रहता हू, मगर अपने पहाड से दोषो को भी देखने की आवश्यकता नही समझता। मेरी यह स्थिति कितनी दयनीय है।

राजनीति तथा धार्मिक एव सामाजिक व्यवहार मे अगर अपने दोष [illegible] स्वीकार की जाये तो आत्मा का कितना कल्याण हो? मगर आजकल क्या दिखाई देता है? मजिस्ट्रेट डेढ रुपया चुराने वाले को सजा [illegible]

देता है और स्वय हजारो रुपया चोरी के हजम कर जाता है। अगर वह अपनी ओर आख उठाकर देखे तो उसे विदित होगा कि उसका कार्य कितना अनुचित है। जब मनुष्य अपने कार्य का अनौचित्य सोचता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नही रहता।

भक्तजन अपने दोष परमात्मा के समक्ष नग्न रूप मे प्रकट कर देते है। वे कहते हैं— 'प्रभो! मै अनन्त पातको का पात्र हू।' इस प्रकार अपने पापो के प्रकाशन से आत्मा पाप—भार से हल्का हो जाता है। आत्मनिन्दा के द्वारा आत्मा जब निष्पाप बन जाता है तो उससे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। हा, पाप को दबाने का परिणाम बडा ही भयकर होता है। दबाये हुये पाप का परिणाम किस प्रकार भयकर होता है, यह बात धृतराष्ट्र की आलोचना से सहज ही समझी जा सकती है।

आत्मनिन्दा करने से क्या लाभ होता है इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा— आत्मनिन्दा करने का फल तो प्रत्यक्ष ही है। आत्मनिन्दा करने वाले के अन्तकरण मे पश्चात्ताप पैदा होता है कि—'हाय! मुझसे यह दुष्कृत्य बन गया!'

पश्चात्ताप ही आत्मनिन्दा की सच्ची पहिचान है। जब पश्चात्ताप हो तो समझना चाहिए कि सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की गई है। जिन्हे दुष्कृत्यो के प्रति अनुराग होगा, उनके हृदय मे पश्चात्ताप न होना स्वाभाविक ही है और जिन्हे पश्चात्ताप नही होता, कहना चाहिए कि उन्होने वास्तव मे आत्मनिन्दा ही नही की है।

पश्चात्ताप करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा है— पश्चात्ताप से वैराग्य उत्पन्न होता है ओर जब वैराग्य उत्पन्न होता हे तो हृदय मे सासारिक पदार्थो का महत्व नही रहता। सासारिक पदार्थो के प्रति ममता न होना पश्चात्ताप का लक्षण हे। जब यह ममता हट जाये तो समझना चाहिए कि हृदय मे सच्चा पश्चात्ताप हुआ हे।

जो वस्तु एक बार सच्चे हृदय से खराब मान ली जाती है, उसके प्रति फिर रुचि नही होती। उदाहरणार्थ—तुम्हारे सामने भली—भाति का भोजन आया। मगर उसी समय किसी ने तुम्हे भोजन मे विष होने की सूचना दी। क्या इस अवस्था मे उस भोजन के प्रति आपकी रुचि दोडेगी? ठीक इसी प्रकार जब वास्तविकता का ज्ञान होता हे ओर विवेक जागृत होता हे तब ससार के किसी भी पदार्थ की ओर रुचि नही दोड सकती। जब तक विवेक जागृत नही हुआ है, तभी तक सासारिक पदार्थो की ओर रुचि जाती हे।

विवेक होने पर वही पदार्थ दु खरूप दिखाई देने लगते है। कहा भी है—'दुखमेव सर्व विवेकिन ।' अर्थात् विवेकी पुरुष के लिए ससार के समस्त पदार्थ दु खरूप ही पतीत होते हैं।

पश्न किया जा सकता है—प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से यह प्रतीत नही होता कि सासारिक पदार्थ दु खरूप हैं। ऐसी स्थिति मे उन्हे दु खरूप किस प्रकार माना जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार के जो पदार्थ एक जगह सुखदायक है, वही दूसरी जगह दु खप्रद मालूम होते है। यह बात घ्यान मे रखते हुए विवेक के साथ विचार किया जाये तो आत्मा को सासारिक पदार्थों के पति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रह सकता। सासारिक पदार्थ एक जगह सुखदायक होते हुए भी दूसरी जगह दु खजनक है, यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। ऊन की बारीक और मुलायम शाल उत्तम श्रेणी की मानी जाती है परन्तु उसी ऊन का एक बारीक तन्तु यदि आख मे पड जाये तो कैसा लगता है? जिस ऊन का तन्तु शरीर पर सुखद मालूम होता था, वही आख मे पड कर घोर वेदना उत्पन्न करता है। यही हाल अन्य वस्तुओ का है। इसीलिए ससार के पदार्थ दु खजनक कहे गये है। ससार के पदार्थ यदि सचमुच ही सुखद होते तो किसी भी समय और किसी भी अवस्था मे दु खमय न होते। मगर बात ऐसी नही है। अतएव स्पष्ट है कि सासारिक पदार्थ सुखकार नही, दु खदायक है।

मृत्यु हो गई है। इस स्थिति मे वह भोजन विष के समान प्रतीत होता है ओर आखो से आसू बहने लगते हैं, यह स्वाभाविक है। अव विचार कीजिए कि भोजन और भामिनी मे अगर सुख होता तो वे उस समय दु खरूप क्यो प्रतीत होने लगते? जब कि वह दु खरूप प्रतीत होते हैं तो उन्हे सुखरूप कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार ससार के किसी भी पदार्थ मे सुख नहीं हे। सासारिक पदार्थ मे जो सुख प्रतीत होता हे वह विकारी सुख है, अविकारी सुख नहीं। अविकारी सुख तो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे ही है। इस सुख की प्राप्ति उसी समय होती है जब सासारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य पैदा हो जाये। यह सुख प्राप्त होने पर किसी प्रकार का दु ख शेष नही रहता। अतएव सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा करो, जिससे पश्चात्ताप हो, पश्चात्ताप से वैराग्य हो और वैराग्य से सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सच्चे सुख की प्राप्ति हो।

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखना और मानना सम्यग्ज्ञान का अर्थ है। हिसा को हिसा मानना और अहिसा को अहिसा समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिसा और अहिसा का स्वरूप तथा इन दोनो के भेद समझने आवश्यक हे। ऐसा करने से ही हिसा को हिसा ओर अहिसा को अहिसा माना जा सकता है। यहा अहिसा के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'अहिसा' शब्द 'अ' तथा 'हिसा' के सयोग से बना हे। व्याकरण के नियमानुसार यहा नञ् समास किया गया है। जहा नञ् समास होता हे वहा कही–कही पूर्व पदार्थ को प्रधान बनाया जाता है, मगर 'अहिसा' शब्द मे पूर्व पदार्थ प्रधान नही हो सकता। जैसे 'अमक्षिक' पद मे पूर्व पदार्थ प्रधान हे। पूर्व पदार्थ प्रधान होने के कारण 'अमक्षिक' पद से मक्खी का अभाव प्रतीत होता है। 'अहिसा' पद मे भी पूर्व पदार्थ की प्रधानता मानी जाये तो अहिसा का अर्थ हिसा का 'अभाव होगा। लेकिन इस अभाव से किसी वस्तु की सिद्धि नही होती। अतएव 'अहिसा' पद को पूर्व पदार्थ प्रधान नही माना जा सकता।

नञ् समास मे कही–कही उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती हे। जेसे 'अराजपुरुष' पद मे उत्तर पद की प्रधानता हे। अतएव 'अराजपुरुष कहने से यह जाना जा सकता हे कि राजपुरुष से भिन्न कोई ओर मनुष्य हे। 'अहिसा' शब्द को अगर उत्तर पद–प्रधान माना जाये तो एक हिसा से भिन्न किसी दूसरी हिसा का वोध होगा, जेसे कि 'अराजपुरुष' कहने से राजपुरुष से भिन्न पुरुष का बोध होता हे। 'अहिसा' पद को उत्तर पद– प्रधान मानकर उससे

किसी दूसरी हिसा का ग्रहण करना उचित नही है, क्योकि हिसा चाहे कोई भी क्यो न हो, कल्याणकारी नही हो सकती। शास्त्रकार अहिसा को ही कल्याणकारी मानते है। ऐसी दशा मे अहिसा शब्द का 'दूसरे प्रकार की हिसा' अर्थ नही माना जा सकता। इस प्रकार 'अहिसा' शब्द मे उत्तर पद की प्रधानता भी नही मानी जा सकती।

नञ् समास मे कही–कही अन्य पदार्थ की प्रधानता भी देखी जाती है। जैसे–'अगोष्पद' शब्द मे अन्य पदार्थ की प्रधानता है। 'अगोष्पद' शब्द कहने से जहा गाय का पैर न हो ऐसा वन या प्रदेश' अर्थ लिया जाता है। इस पकार 'अगोष्पद' शब्द मे अन्य पदार्थ (वन–प्रदेश) की प्रधानता है। अगर अहिसा शब्द मे अन्य पदार्थ की प्रधानता मानी जाये तो 'अहिसा' का अर्थ होगा–ऐसा मनुष्य जिसमे हिसा नही है।' अर्थात् जिस पुरुष मे हिसा नही है। वह पुरुष 'अहिसा' कहलाएगा। परन्तु पुरुष द्रव्य है, क्रियाविशेष नही है और अहिसा क्रियाविशेष है। अहिसा व्रतरूप है परन्तु पुरुष व्रतरूप नही हो सकता। अतएव 'अहिसा' मे अन्य पुरुष की प्रधानता मानना भी युक्तिसगत नही है।

नञ् समास मे कही–कही 'उत्तर पदार्थ का विरोधी' ऐसा अर्थ भी होता है जैसे 'अमित्र' शब्द मे उत्तर पदार्थ का विरोधी अर्थ है। 'अमित्र' शब्द से मित्र का विरोधी अर्थात् शत्रु अर्थ प्रतीत होता है। 'अहिसा' शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार–उत्तर पदार्थ का विरोधी करना चाहिए। अर्थात् यह मानना चाहिए कि जो हिसा का विरोधी हो, वह अहिसा है। इस प्रकार अहिसा का अर्थ करने से पूर्वोक्त दोषो मे से कोई दोष नही आता। अत अहिसा का अर्थ हिसाविरोधी–रक्षा अर्थ करना युक्तिसगत और शास्त्रानुकूल प्रतीत होता है। विद्वानो ने नञ समास के छह अर्थ बतलाये है। उनका कहना है–

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता।
अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्त्तिता ।।

अर्थात–नञ के छह अर्थ है। उनमे पहला अर्थ है– तत्सादृश्य उसी [illegible] यथा अब्राह्मण कहने से ब्राह्मण के समान क्षत्रिय आदि अर्थ होता है, [illegible] आदि अर्थ नही हो सकता।

नञ का दूसरा अर्थ अभाव है। जैसे 'अमक्षिका' कहने का अर्थ [illegible] का अभाव होता है।

नञ का तीसरा अर्थ तदन्यत्व अर्थात उससे भिन्न है। जैसे–अनश्व [illegible] से भिन्न दूसरा (गधा आदि) अर्थ समझा जाता है।

नञ् का चौथा अर्थ 'तदल्पता' अर्थात् 'कमी' होता है। जैसे–'अनुदरा कन्या।' 'अनुदरा कन्या' का सामान्य अर्थ है–विना पेट की कन्या। परन्तु बिना पेट का कोई भी मनुष्य नही हो सकता, अतएव 'अनुदरा कन्या' कहने का अर्थ होगा 'छोटे पेट वाली कन्या।' यहा 'अनुदरा' शब्द पेट का अभाव नही बतलाता वरन् उदर की अल्पता बतलाता है।

नञ् का पाचवा अर्थ है– अप्रशस्तता। जैसे– 'अपशवोऽन्येऽगोऽश्वेभ्य' अर्थात् 'गाय और घोडा के सिवाय अन्य जानवर अपशु है।' इस कथन का अर्थ यह नही है कि गाय और घोडा के सिवाय अन्य जानवरो मे पशुत्व का अभाव है। इस कथन का सही अर्थ यह है कि अन्य जानवर उत्तम पशु नही है। गाय और घोडा को छोडकर अन्य पशु उत्तम पशु नही है। यही कहने वाले का अभिप्राय है।

नञ् का छठा अर्थ है– विरोधी वस्तु को बतलाना। जैसे 'अधर्म' शब्द कहने से धर्म का अभाव नही समझा जा सकता, वरन् धर्म का विरोधी अधर्म अर्थात् पाप अर्थ ही समझना सगत होता है।

अहिसा का अर्थ भी इसी नियम के अनुसार होगा और इस कारण अहिसा का अर्थ हिसा का विरोधी अर्थात् रक्षा अर्थ ही उपयुक्त है। इसी अर्थ को दृष्टि मे रखकर शास्त्रकारो ने रक्षा को अहिसा का पर्यायवाचक शब्द बतलाया है। ऐसा होते हुए भी कई लोग अहिसा का अर्थ 'हिसा न करना' ही कहते है। वे रक्षा को अहिसा के अन्तर्गत नही मानते है। यह उनकी भूल है। हिसा का विरोधी अर्थ रक्षा है। रक्षा अहिसा के ही अन्तर्गत है। शास्त्रो मे रक्षा के ऐसे–ऐसे उदाहरण मौजूद हे कि उन्हे पढकर चकित रह जाना पडता है। राजा मेघरथ द्वारा कबूतर की रक्षा करने का उदाहरण अद्वितीय है। मेघरथ राजा ने अपना शरीर दे देना स्वीकार किया मगर शरणागत कबूतर को देना स्वीकार नही किया। अहिसा का यह जीवित स्वरूप हे। मृत अहिसा किसी काम की नही होती। आज अहिसा को कायरता की पोशाक पहनायी जाती है। मगर जो हिसा का विरोध न करे वह अहिसा ही नही। अहिसा सदा जीवित ही होनी चाहिए। जीवित अहिसा को जीवन मे स्थान दिया जाये तो कल्याण अवश्यम्भावी है।

सच्चा अहिसा का पालन करने वाला पापो के प्रायश्चित्त से कभी पीछे नही हटेगा। पापो का पश्चात्ताप करने से पापो के प्रति अरुचि उत्पन्न होती हे और पापो के प्रति अरुचि होने से आत्मा अपूर्वकरण गुणश्रेणी प्राप्त करता है।

अपूर्वकरण गुणश्रेणी किस पकार प्राप्त होती है, यह बात आध्यात्मिकता का रहस्य जानने वाला ही भलीभाति जान सकता है। दूसरे के लिए समझना कठिन है। जैसे हमारे उदर मे अन्न जाता है, किन्तु उस अन्न मे क्या–क्या परिणमन होते है, अन्न किस प्रकार पचता है, रसभाग और खल–भाग किस–किस पकार अलग होते है, नाक, कान, आख आदि इन्द्रियो को किस पकार अपना–अपना भाग मिलता है, यह बात हम नही देख सकते। इसी प्रकार हम यह भी नही देख सकते कि कर्म आत्मा को किस प्रकार क्या करते है। मगर ज्ञानी पुरुष यह सब जानते है। कर्म आत्मा मे क्या परिणति उत्पन्न करते है यह बात आप ज्ञानियो के वचन पर श्रद्धा करके ही मान सकते है। वैद्य किसी रोग का उपशम करने के लिए औषध देता है। रोगी वैद्य पर विश्वास करके ही औषध सेवन करता है। रोगी स्वय नही देख सकता कि औषध पेट मे जाकर क्या क्रिया करती है, सिर्फ हकीम पर श्रद्धा रखकर सेवन करता जाता है। इसी प्रकार कर्म किस पकार क्रिया करते है और उनका विनाश किस प्रकार होता है यह बात हम नही देख सकते। तथापि ज्ञानी पुरुष तो सम्यक् प्रकार से जानते ही है। तुम दवा द्वारा होने वाली क्रिया नही देख सकते किन्तु दवा से होने वाला परिणाम अवश्य देख सकते हो। इसी तरह आत्मा मे कर्म जो कुछ करते है वह तुम नही देख सकते किन्तु कर्म का फल देख सकते हो और उसका अनुभव भी कर सकते हो।

साराश यह है कि ज्ञानी पुरुषो के वचनो पर विश्वास करके हम यह मानते है कि आत्मा मे कर्म इस प्रकार की क्रिया करते है। जिन ज्ञानियो ने हमे बतलाया है कि कर्मो का फल दु खदायी होता है, उन्ही ज्ञानियो ने यह भी प्रकट किया है कि पश्चात्ताप करने से आत्मा को अपूर्वकरण गुणश्रेणी की प्राप्ति होती है। जैसे औषधि रोगो को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अपूर्वकरण गुणश्रेणी पूर्वसचित पापो को खीचकर जला डालती है अर्थात् मोहनीय कर्म का नाश कर देती है। मोहनीय कर्म का नाश होने पर शेष कर्म [illegible] प्रकार हट जाते है जैसे सेनापति के मर जाने पर सैनिक भाग छूटते है। [illegible] जैसे सूर्योदय होने से तारागण छिप जाते है और चन्द्रमा का [illegible] फीका पड़ जाता है उसी प्रकार पश्चात्ताप से होने वाली अपूर्वकरण [illegible] द्वारा मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और उसके नाश होने पर [illegible] कर्म भी नष्ट हुए बिना नही रहते।

[illegible] का फल बतलाते हुए टीकाकार ने एक सग्रहगाथा [illegible]–

[illegible]

उवरि मठिइय दलियं हिट्ठि मठाणेसु कुणइ गुणसेढि।
गुणसंकमं करई पुण असुहाओ सुहम्मि पक्खिवई।।

अपूर्वकरण गुणश्रेणी ऊपर के स्थान के कर्मपुद्गलो को खीचकर अध स्थान पर ले आती है। जैसे–कोई व्यक्ति एक पुरुष को पकडना चाहता था। मगर वह शक्तिशाली होने के कारण पकड मे न आया। यह उसका उपरितन (ऊचा) स्थान कहलाया। अब कोई अधिक शक्तिमान् तीसरा पुरुष उसे पकडकर पहले पकडने वाले को सौप दे तो वह पकड मे आ गया। यह उसका अध (नीचा) स्थान कहलाया। इसी प्रकार जो कर्म उदय मे नही आते थे, उन्हे पकडकर अपूर्वकरण गुणश्रेणी उदय मे ले आती है और उन कर्मों मे गुणसक्रमण कर देती है। मान लीजिए–एक जगह लोहा अधर मे लटका है। वह इतनी ऊचाई पर है कि आपकी पकड मे नही आता। परन्तु किसी ने खीचकर तुम्हे पकडा दिया। तुमने उसे पकडकर पारसमणि का स्पर्श कराया और वह सोना बन गया इसी प्रकार जो कर्म उदय मे नही आते थे, उन्हे करणगुणश्रेणी उदय मे ले आती है और उनमे गुणसक्रमण कर देती है अर्थात् पाप को भी पुण्य बना देती है। आपके हाथ मे लोहा हो और उसे सोना बनाने का सुयोग मिल जाये तो क्या आप वह सुयोग हाथ से निकलने देगे? ऐसा सुअवसर कौन चूकेगा? पारस के सयोग से लोहा, सोना बन जाए तो भी वह आत्मा को वास्तविक शान्ति नही पहुचा सकता, परन्तु पश्चात्ताप मे यह विशेषता है कि वह लोहे को ऐसा सोना बनाता है जो आत्मा को अपूर्व, अद्भुत, अनिर्वचनीय और अक्षय शान्ति प्रदान करता है।

जो पश्चात्ताप पाप को भी भस्म कर डालता है, उसे करने का अवसर मिलने पर भी जो व्यक्ति पश्चात्ताप न करके पाप का गोपन करता हे, उसके विषय मे एक भक्त ने ठीक ही कहा हे–

अवगुण ढांकन काज, करू जिनमत–क्रिया।
तजू न अवगुण–चाल, अनादिनी जे प्रिया।।

अर्थात्–हे प्रभो! में अवगुणो को छिपाने के लिए जिनमत की क्रिया करता हू ओर ऐसा करके अपने अवगुण छिपाता हू–उनका त्याग नही करता। मेरी यह केसी विपरीत क्रिया हे!

महामति आत्मा का विचार कुछ विलक्षण ही होता हे। विचारशील व्यक्ति के विचारो का आभास देने के लिए द्रोपदी ओर युधिष्ठिर के बीच जो वार्तालाप हुआ था, यहा उसका उल्लेख किया जाता हें।

द्रौपदी बुद्धिमती थी। उसे समझा सकना सहज काम नही था, क्योकि वह सहज ही कोई बात नही मान लेती थी। वह उस बात के विरुद्ध तर्क भी करती थी। भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर से कहा करते थे–'हम आपकी आज्ञा के अधीन है। हर हालत मे हम आपका आदेश शिरोधार्य करेगे ही, परन्तु द्रौपदी को आप यह बात भलीभाति समझा दीजिए।' इस प्रकार कोई बात द्रौपदी के गले उतारना टेढी खीर समझी जाती थी।

एक दिन द्रौपदी विनयपूर्वक हाथ जोडकर धर्मराज के पास आकर बैठी। धर्मराज ने उससे पूछा–'देवी! स्वस्थ हो न?'

द्रौपदी– महाराज! मन मे कुछ रखना और जीभ से कुछ कहना मैने नही सीखा। मेरे हृदय मे तो ज्वाला धधक रही है। इस स्थिति मे कैसे कहू कि मै स्वस्थ हू?

धर्मराज–तुम्हारा कहना सच है। तुम्हारे हृदय मे जो ज्वाला धधक रही है, उसका कारण मै ही हू। मेरे ही कारण तुम सब को वनवास भोगना पडा है।

द्रौपदी–मेरे हृदय मे एक सन्देह उत्पन्न हो गया है। मै आपसे उसका निवारण कराना चाहती हूँ।

धर्मराज–कहो, क्या सन्देह है?

द्रौपदी–जिस समय दुष्ट दु शासन ने मुझे नग्न करने का प्रयत्न किया था उस समय मेरे शरीर का वस्त्र बढ गया था। वह खीचते–खीचते थक गया लेकिन मुझे नग्न नही कर सका था। इस घटना से धृतराष्ट्र का हृदय परिवर्तन हो गया था और उन्होने मुझसे वर मागने के लिए कहा था। उस समय मैने यह वर मागा था कि मेरे पति को गुलामी से मुक्त कर दिया जाये। उन्होने मेरा यह वचन मानकर आप सबको मुक्त कर दिया था और राजपाट भी वापस सौप दिया था। इस प्रकार वह घटना समाप्त हो गई थी। फिर आप दूसरी बार जुआ क्यो खेले? जुआ खेलकर दूसरी बार बधन मे क्यो पडे? क्या इस प्रश्न का आप समाधान करेगे?

युधिष्ठिर–जब पहली बार मैने जुआ खेला तब तो मेरी भूल थी, मगर दूसरी बार खेलने मे मेरी कोई भूल नही थी। वह तो पहली भूल के पाप का प्रायश्चित था। मेरी इच्छा थी, मैने पहली बार जो भूल की है, उसका पश्चाताप मुझे करना ही चाहिए। उस भूल का दण्ड मुझे भोगना ही चाहिए। मै उस भूल के दण्ड से बचना नही चाहता था। यद्यपि अपनी भूल का यथोचित फल मुझे मिल गया था पर तुम्हारे वरदान से वह दण्ड क्षमा कर

दिया गया था। भूल करके तुम्हारे वरदान के कारण दण्ड से वच निकलना कोई अच्छी वात नही थी। जो स्वय पाप करता है किन्तु पत्नी के पुण्य द्वारा, पाप के दण्ड से बचना चाहता है, वह धर्म को नही जानता। इसके अतिरिक्त काका ने तुम्हे जो वरदान दिया था, यह हृदय परिवर्तन के कारण नही, वरन् भय के कारण दिया था। उनके हृदय मे सचमुच ही परिवर्तन हुआ होता तो वह दूसरी बार भी हम लोगो को वन मे न जाने देते। वास्तव मे उनका हृदय बदला नही था। वल्कि उनके हृदय मे यह भावना थी कि किसी भी उपाय से पाण्डव दूर चले जाएँ और मेरे पुत्र निष्कटक राज्य भोगे। हृदय मे इस प्रकार की भावना होते हुए भी, लोकापवाद के भय से ही काका ने मीठे वचन कहकर तुम्हे वरदान दिया था। अतएव मैने सोचा—मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके दण्ड से बच निकलना उचित नही है। मुझे अपनी भूल का फल भोगना ही चाहिए। मै दुर्योधन से यह कहना चाहता था कि तुझे जो करना हो सो कर, लेकिन मै पत्नी को मिले वरदान के कारण वनवास से नही बचना चाहता। मै मन ही मन यह कहने का विचार कर ही रहा था कि उसी समय दुर्योधन का आदमी मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा 'आपको दुर्योधन महाराज फिर जुआ खेलने के लिए बुलाते है।' दुर्योधन का यह सन्देश सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने निश्चय किया— इस बार फिर सर्वस्व हार जाना ही उचित है, जिससे मै वन मे जा सकू और पत्नी के वरदान के कारण मिली हुई वनवास—मुक्ति से मुक्त हो सकूँ। मेरे भाई मेरे निश्चय का अनुसरण करे या न करे, परन्तु मुझे तो वनवास करना ही चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके मेने फिर जुआ खेला ओर उसमे हार गया। मन मे निश्चित किये विचारो को पूर्ण करने के लिए ही मेने दुवारा जुआ खेला था।'

युधिष्ठिर का यह स्पष्टीकरण सुनकर द्रोपदी कहने लगी— आपने यह तो नवीन ही वात सुनाई! आपके दूसरी बार जुआ खेलने का मतलव तो मे सगझ गई। लेकिन एक दूसरी वात मे पूछना चाहती हूँ। वह यह हे कि जव गन्धर्व ने दुर्योधन को कैद कर लिया था तव आपने उसे छुडाने के लिए भीम ओर अर्जुन को क्यो भेजा था?

युधिष्ठिर उत्तर देते हुए कहने लगे—देवी! म जिस कुल मे उत्पन्न हुआ हू उसी कुल के मनुष्य को जिस वन मे में रहता हूँ उसी वन मे मार डाला जाये, यह में केसे देख सकता हूँ! तुग पीछे आई हो, लेकिन कुल के सरकार

मुझमे तो पहले से ही विद्यमान हैं। हम और कौरव आपस मे भले ही लड मरे, मगर हमारा भाई दूसरे के हाथ से मार खाये और हम चुपचाप बैठे देखे, यह नही हो सकता। इसी कारण दुर्योधन को गन्धर्व के सिकजे मे से छुडाने का मुझे कोई पश्चात्ताप नही है। उलटा इससे मुझे आनन्द है। दयाभाव से प्रेरित होकर मैने दुर्योधन को शत्रु के पजे से छुडाया है।

धर्मराज का यह कथन सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आप इस समय जो कष्ट भोग रहे है वह सब इसी दया का परिणाम है न? आपने उसे बचाया मगर वह दुष्ट आपका उपकार मानता है? अजी, वह तो उलटा हमे कष्ट देने का ही पयत्न करता है।

युधिष्ठिर—देवी! हम लोग जब वन मे चलते हैं तो अपने पैर के नीचे फूल भी आ जाते हैं। यद्यपि उसे पैर से कुचलकर हम उसका अपराध करते है तथापि वह अपना स्वभाव नही छोडता। जब फूल भी अपना स्वभाव नही छोडता तो फिर दुर्योधन की करतूत देखकर मै अपना स्वभाव कैसे छोड दू? दुर्योधन हमारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे परन्तु मैं अपना क्षमाभाव नही त्याग सकता। जैसे भीम को गदा का और अर्जुन को गाडीव का बल है, उसी प्रकार मुझमे क्षमा का बल है। यद्यपि गदा और गाडीव का प्रयोग जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसा क्षमा का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई नही देता है और न उसका तात्कालिक फल ही दृष्टिगोचर होता है। परन्तु मुझे अपनी क्षमा पर विश्वास है। मै विश्वासपूर्वक मानता हू कि जैसे दीमक वृक्ष को खोखला कर देती है उसी प्रकार मेरी क्षमा ने दुर्योधन को खोखला बना दिया है। दीमक के द्वारा खोखला होने के पश्चात् वृक्ष चाहे आधी से गिरे या बरसात से, मगर उसे खोखला बनाने वाली चीज तो दीमक ही है। इसी प्रकार दुर्योधन का पतन चाहे गदा से हो या गाडीव से लेकिन उसे निसत्व बनाने वाली मेरी क्षमा ही है। अगर मेरी क्षमा उसे खोखला न कर सकी तो गदा या गाडीव का उस पर कोई प्रभाव नही पड सकता।

द्रौपदी ने कहा—धर्म की यह तराजू अद्भुत है। आपके कथन से ऐसा [illegible] है कि आप प्रत्येक कार्य धर्म की तुला पर तोल कर ही करते हैं।

युधिष्ठिर—[illegible] चीजे तोलने के काटे मे कुछ पासग भी रहता है [illegible] तोलने के काटे मे रचमात्र भी पासग नही [illegible] धर्म का काटा बिना किसी अन्तर के ठीक निर्णय

दे देता है। मैं अपने धर्मकाटे मे तनिक भी अन्तर नही आने देता। मैं अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करूँगा और इसका कारण यही है कि मेरी धर्मतुला ऐसा करने के लिए मुझे बाध्य करती है।'

मित्रो! आपको भी युधिष्ठिर के समान क्षमा धारण करनी चाहिए या नही? अगर आज ऐसी क्षमा का व्यवहार करना आपके लिए शक्य न हो तो कम से कम श्रद्धा मे तो क्षमा रखी ही जा सकती है। क्षमा पर परिपूर्ण श्रद्धा रखना तो सम्यग्दृष्टि का स्वाभाविक गुण है। सब पर समभाव रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। समभाव धारण करने वाले मे इसी प्रकार की क्षमा की आवश्यकता है। आज आप लोगो के व्यवहार मे इस क्षमा के दर्शन नही होते, मगर युधिष्ठर जैसो के चरित्र मे वह मिलती ही है। अतएव उसकी शक्यता के सम्बन्ध मे शका नही उठाई जा सकती।

सातवां बोल

गर्हा

निन्दा के सम्बन्ध मे जो प्रश्नोत्तर चल रहा था, वह समाप्त हुआ। आत्मनिन्दा, गर्हा पूर्वक करनी चाहिए। अतएव यहा गर्हा के सम्बन्ध मे विचार करना है। गर्हा के सम्बन्ध मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है—

प्रश्न—गरहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—गरिहणयाए ण अपुरक्कार जणयइ, अपुरक्कारगए ण जीवे अप्पसत्थेहितो जोगेहितो णियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थ जोग पडिवण्णे य ण अणगारे अणतघाई पज्जवे खवेइ।। 7।।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान्! गर्हणा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—गर्हणा करने से जीव दूसरो से सम्मान नही पाता। कदाचित् उसमे खराब भाव उत्पन्न हो जाए तो भी वह अपमान के भय से खराब विचारो को हृदय से बाहर निकाल देता है अर्थात् शुभ परिणाम वाला हो जाता है। प्रशस्त परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्मो का क्षय करके वह अनन्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

भगवान से शिष्य ने यह प्रश्न पूछा है कि—'हे भगवन्! गर्हा—अपने दोषो का दूसरे के समक्ष प्रकाशन—करने से जीव को क्या लाभ होता है?' भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर मे जो कुछ कहा है उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है गर्हा वास्तव मे किसे कहते है? निन्दा और

[illegible]

गर्हा मे क्या अन्तर है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं—अनेक पुरुष ऐसे है जो अपनी आत्मा को नीच मानते हैं और कहते हैं—

जेती वस्तु जगत में, नीच नीच ते नीच।
तिनते मै हू अधम अति, फंस्यो मोह के बीच।।

अर्थात्—ससार मे नीच से नीच गिनी जाने वाली जितनी वस्तुए है, उनमे मेरी आत्मा सबसे नीच है।

पापोऽह पापकर्माऽह, पापात्मा पापसम्भव ।

अर्थात्—हे प्रभो! मै पापी हू, पापकर्मी हू और जिन पापो को मैं बार–बार धिक्कारता हूँ, उन्ही पापो को पुन करने वाला हूँ। इससे बढकर पतित दशा और क्या हो सकती है?

इस ससार मे अनेक महात्मा भी ऐसे हैं, जो अपने विषय मे ऐसा अनुभव करते हैं। उनकी विचारधारा कुछ ऐसी होती हे कि मेरे पाप या दोष मे और परमात्मा ही क्यो जाने? अपने पापो की प्रकटता यही तक सीमित क्यो रहे? दूसरे लोगो को भी मेरे पापो का पता क्यो न चल जाये? मेरा नग्न स्वरूप जगत् क्यो न देखे? इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर गुरु आदि के समक्ष अपने दोष निवेदन करना गर्हा कहलाता है। अपने दोषो की आप ही निन्दा करना निन्दा है, चाहे दूसरा कोई छद्मस्थ जाने, या न जाने। मगर गर्हा तो दूसरो के सामने अपने दोष प्रकट करने के लिए ही की जाती है।

इस भेद को देखते हुए गर्हा का फल निन्दा के फल से अधिक होना चाहिए। गर्हा का फल अधिक न हो तो उसके करने से लाभ ही क्या है? फल का विचार किये बिना मन्द पुरुष भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करता। अतएव गर्हा का फल निन्दा की अपेक्षा अधिक ही होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे भगवान फरमाते हैं—गर्हा करने से अपुरस्कार भाव उत्पन्न होता हे। किसी व्यक्ति की प्रशसा होना—जेसे यह उत्तम पुरुष है, यह गुणवान् पुरुष हे आदि कहना पुरस्कार भाव कहलाता हे। 'अपुरस्कार' मे इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव हे। 'अपुरस्कार' शब्द मे 'अ' अभाव का सूचक हे। गर्हा करने म अपुरस्कार भाव प्रकट होता हे। पहले–पहल तो ऐसा भय बना रहता था कि कोई मेरा अपराध जान लेगा तो मुझे तुच्छ समझकर मेरी निन्दा करेगा। किन्तु जब गर्हा करने का विचार आता हे तो वह भय जाता रहता ह। उस समय व्यक्ति की यही इच्छा होती हे कि लोग मुझे प्रशसनीय

न माने वरन् निदनीय समझे। इसी फल की प्राप्ति के लिए गर्हा की जाती है। अर्थात् लोगो की दृष्टि मे अपने को निन्दनीय मानने के लिए गर्हा की जाती है।

कहा जा सकता है कि यह तो गर्हा का उलटा फल मिला। गर्हा करने से तो उल्टी अधिक निन्दा हुई। गर्हा करने से यदि निन्दा होती है और शास्त्रकार भी गर्हा का फल अपुरस्कार बतलाते हैं तो गर्हा करने से लाभ के बदले हानि ही समझना चाहिए। अपमान से बचने के लिए लोग बडे–बडे पाप करते है, तो फिर अधिक निन्दा करने के लिए गर्हा क्यो की जाये?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, वास्तव मे बडे–बडे पाप निन्दा से बचने के लिए ही किये जाते है। मै तो यहा तक मानता हू कि कई–एक मत–मतान्तर भी अपने पापो को पुण्य प्रमाणित करने के लिए चल रहे है अथवा इसीलिए चलाये गये है कि उनके चलाने वाले निन्दा से बच जाए। अर्थात् अपने पाप दबाने के लिए या उन पर पुण्य का पालिश चढाने के लिए अनेक मत–मतान्तर चलाये गये है। बात खराब है, यह जानते हुए भी उसे न छोडना फिर भी जनता मे अपना स्थान उच्च बनाये रखना इस उद्देश्य से पाप को धर्म का रूप दिया जाता है और उसी को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है। देखा जाता है कि लोग अपनी भलमनसाई प्रकट करने के लिए और अपनी गरीबी दबाने के लिए नकली मोती या रोल्ड गोल्ड की माला पहन लेते है। इस पद्धति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग सन्मान चाहते है। इस प्रकार सन्मान लाभ की भावना से ही पाप को पुण्य का रूप दिया जाता है और पाप को धार्मिक सिद्धान्त के आसन पर आसीन कर दिया जाता है। किन्तु गर्हा करने वाला व्यक्ति इस प्रकार की भावना का परित्याग कर देता है और अपुरस्कार भाव धारण करता है। जो सम्मान की कामना से ऊपर उठ चुका है और अपमान का जिसे भय नही है, बल्कि जो अपमान चाहता है वही व्यक्ति गर्हा कर सकता है।

प्राय देखा जाता है कि लोग निन्दनीय कार्य तो कर बैठते हे मगर निन्दा सुनने से डरते हैं और निन्दा सुनने के लिए तैयार नही होते। शास्त्र [illegible] है– जब किसी व्यक्ति के अन्त करण मे यह भावना उद्भूत होती है कि [illegible] जो निन्दनीय कार्य किये है उनके कारण होने वाली निन्दा मैं सुन लू, [illegible] गर्हा किये बिना नही रहता और जब वह इस तरह शुद्ध भाव से गर्हा [illegible] उत्पन्न होने वाले अपुरस्कार भाव द्वारा वह अप्रशस्त योग [illegible] है।

शूली पर चढकर शस्त्रघात सहन करके या विषपान करके मर जाना कदाचित् सरल है, परन्तु शान्तभाव से अपनी निन्दा सुनना सरल नहीं है। अपनी निन्दा सुनकर अशुभ योग का आ जाना वहुत सम्भव हे। मगर अपनी निन्दा सुन लेने वाला और जिन कामो की वदौलत निन्दा हुई है, उनका त्याग कर देने वाला अपने अन्त करण मे अशुभ योग नही आने देता। इसका फल यह होता है कि वह अप्रशस्त योग से निकलकर प्रशस्त योग मे प्रविष्ट हो जाता है।

ससार मे विरले ही ऐसे पुरुष मिलेगे जो अपनी निन्दा सुनने के लिए तैयार हो। अधिकाश लोग ऐसे ही हैं जो चाहते है कि हम खराव कृत्य भले ही करें किन्तु हमे कोई खराब न कह पाये। यह दुर्भावना आत्मा के लिए विष के समान है। इस विष से आत्मा मे अधिक बुराइयाँ आ घुसती हैं। इससे विपरीत जिनकी भावना यह हे कि मुझे प्रशसा नही चाहिए, निन्दा ही चाहिए, वे लोग गर्हा किये बिना नहीं रहते, गर्हा करने वालो मे अपुरस्कार भाव आता है और अपुरस्कार भाव आने से पापो का नाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा जब अपुरस्कार भाव को अपनाती है तव वह अप्रशस्त योग से छूटकर प्रशस्त योग प्राप्त करती है।

अप्रशस्त योग मे से निकलकर प्रशस्त योग मे प्रवेश करना साधारण बात नही है। धूल के रुपये बनाये जा सकते हैं, मगर अप्रशस्त को प्रशस्त बनाना उससे भी कही कठिन कार्य है। आपने बाजीगरो को धूल से रुपया वनाते देखा होगा। वह तो सिर्फ हस्त कौशल है। अगर वह धूल से रुपया वना सकते तो पेसे–पैसे के लिए क्यो भीख मागते फिरते? यह वस्तु स्थिति स्पष्ट होने पर भी वहुतेरे लोग ऐसी बातो मे चमत्कार मानते हे ओर कहते हे कि चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता है। इस भावना से प्रेरित होकर लोग ढोग को भी चमत्कार मानने लगते हे और इस प्रकार के ढोग के पीछे लोग ओर विशेषत स्त्रिया पागल बन जाती है। इस प्रकार अन्धे होकर ढोग के पीछे दौडने का अर्थ यह हे कि अभी तक परमात्मा के प्रति पूर्ण और दृढ विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ हे। परमात्मा के प्रति सुदृढ विश्वास उत्पन्न हो जाने पर यह स्थिति उत्पन्न नही होती।

आशय यह हे कि लोग इस प्रकार ढोग मे तो पड जाते हे किन्तु अपनी आत्मा को नही देखते कि हमारी आत्मा मे क्या हे? भक्तजन यह वात ध्यान मे रखकर ही यह कहते हैं–

रे चेतन! पोते तूं पापी, परना छिद्र चितारे तू।

भक्तजनो ने अपनी आत्मा को यह चेतावनी दी है–'हे आत्मन्! तेरे पापो का पार नही है। फिर भी तू अपने पाप न देखकर दूसरो की बातो मे क्यो पडता है? तेरे पात्र मे मलीन जल भरा है, उसे तो तू साफ नही करता और दूसरो से कहता फिरता है कि लाओ, 'मैं तुम्हारा पानी साफ कर दू।' यह कथन क्या युक्तिसगत कहा जा सकता है? भक्तजन सबसे पहले अपने पर ही विचार करते हैं अतएव वह कहते है–

मो सम पतित न और गुसाई।
अवगुण मोसो अजहु न छूटे, भली तजी अब ताई।
मोह्यो जेही कनक–कामिनी, ते ममता मोह बढाई।।
रसना स्वाद मीन ज्यो उलझी सुलझत नहिं सुलझाई।।
मो सम पतित न और गुसाई।।

अर्थात्–प्रभो! मुझसा पतित और कौन होगा? मैं गुणो का त्याग कर देता हू, पर अवगुणो का तो आज तक त्याग नही किया।

जिसमे भक्तजनो के समान ऐसी भावना होगी, वह अपने पाप अवश्य नष्ट कर डालेगा। वास्तव मे जो इस उच्च भावना का धनी है वह बडा भाग्यशाली है। शास्त्रकार ऐसे भाग्यशाली को इसीलिए कहते है कि पुरस्कारभावना से निकलकर अपुरस्कार भावना मे आने के लिए गर्हा करो और गर्हा करके अपुरस्कार भावना मे आओ।

भक्तजनो का कथन है–हे प्रभो! मै भलीभाति जानता हू कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यकचारित्र अथवा साधुअवस्था हितकर है और क्रोध आदि विकार अहितकर है। फिर भी मै साधुपन अगीकार नही करता और क्रोध करता हू। यह मेरी कैसी विपरीत दशा है! ऐसी दशा मे मुझ जैसा पतित और कौन होगा?

अगर साधुपन तुमसे नही ग्रहण किया जाता तो कम से कम क्रोध को तो मारो। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है–

कोह असच्च, कुविज्जा, धारिज्जा पियमप्पिय।

अर्थात्– क्रोध को असत्य करो आर्थात् क्रोध को पी जाओ और अप्रिय को भी प्रिय रूप मे धारण करो। क्रोध किस प्रकार असत्य किया जा सकता है? इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है–

एक क्षत्रिय को किसी दूसरे क्षत्रिय ने मार डाला। मारे गये क्षत्रिय की पत्नी गर्भवती थी। गर्भस्थित बालक संस्कारी था। जन्मने के बाद बडा

होकर वह ऐसा वीर निकला कि राजा भी उसका सम्मान करने लगा। एक वार वह किसी युद्ध मे विजय प्राप्त करके आया। राजा ओर प्रजा के द्वारा अपूर्व सन्मान पाकर वह घर गया। रास्ते मे वह सोचता जाता था कि सव लोगो ने मेरा सन्मान किया हे, मगर में अपने को सच्चा सम्माननीय तभी मानूगा, जव मेरी माता भी मेरे कार्य को अच्छा समझेगी और मुझे आशीर्वाद देगी। मुझे दुनिया मे जो सम्मान प्राप्त हो रहा हे, वह सव माता की ही कृपा का फल है।

इस प्रकार सोचता हुआ वह अपनी माता के पास पहुचा। उस पर नजर पडते ही माता ने अपना मुह फेर लिया। यह देखकर वह सोचने लगा–मेरी मा मेरी ओर दृष्टिपात भी नही करना चाहती। मुझे धिक्कार हे। तदनन्तर उसने मा से कहा–मा, इस वालक से क्या अपराध वन गया है कि आप इसकी ओर देखना भी नहीं चाहती?

माता वोली–बेटा। तुम्हारा असली शत्रु तो अभी तक जीवित हे। जब तक उसे न जीत लिया जाये, तव तक मुझे प्रसन्नता कैसे हो सकती हे?

पुत्र ने कहा–आपका कहना सच हे। मगर वह है कोन? जो मेरा सच्चा शत्रु हे?

माता–पिता का घात करने वाले से बडा शत्रु ओर कोन हो सकता है?

पुत्र–सचमुच, ऐसा घोर कृत्य करने वाला महान अपराधी हे। आप यह वतलाइये कि कोन मेरे पिता का घातक हे?

माता ने नाम वतला दिया। पुत्र ने कहा–ऐसा था तो आपने अभी तक मुझसे कहा क्यो नही?

माता– जहा तक तुम्हारा पराक्रम पूर्णरूप से विकसित नही हुआ था, तव तक तुम्हे शत्रु केसे वतलाती?

पुत्र–ठीक हे। मै जाता हू ओर शत्रु को वश मे कर लाता हू। जव तक में उसे वश मे न कर लूगा, अन्नजल ग्रहण नही करूँगा।

पुत्र अपने पिता के घातक के पास जाने को उद्यत हुआ। उस घातक को भी पता चल गया कि वह मुझे मारने आ रहा हे। उसने सोचा–वह वीर हे आर क्रुद्ध होकर आ रहा हे। ऐसी हालत मे मुझे मार डाले विना नही रहेगा। इस प्रकार विचार कर वह क्षत्रियपुत्र के सामने आया आर उसके पेरो मे पड गया। क्षत्रियकुमार ने कहा–तू मेरा शत्रु हे क्यो मेरे पेरो मे पडता

किया है, फिर भी मै आपके शरण आया हू।

क्षत्रिय शरणागत को नही मारता। इस सम्बन्ध मे मेवाड मे एक किवदन्ती पसिद्ध है। मुगल बादशाह मेवाड के महाराणा का शत्रु था। किन्तु जब महाराणा बादशाह को मारने लगे तो बादशाह बोला—मै आपकी गाय हूँ। बादशाह के मुख से यह दीनतापूर्ण शब्द सुनकर राणा ने उसे छोड दिया। दूसरे लोगो ने राणा से कहा—आप यह उचित नही कर रहे है। किन्तु राणा ने उन्हे उत्तर दिया—शत्रुओ का सहार करने वाले तो बहुत मिलेगे मगर शरणागत शत्रु की रक्षा करने वाले विरले ही होगे। शरणागतो की रक्षा करना क्षत्रियो का धर्म है। मै इस धर्म की उपेक्षा नही कर सकता।

शरणागत क्षत्रिय ने क्षत्रियकुमार से कहा—मै आपके शरण आया हू। यह शब्द सुनकर क्षत्रियकुमार उसे मार न सका। उसे उसने बाध लिया और अपनी माता के पास ले आया। आकर माता से कहा— लो, यह मेरा शत्रु है। कहो इसे क्या दण्ड दिया जावे? अपने पुत्र का पराक्रम देख माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—इसी से पूछ देखना चाहिए कि यह क्या दण्ड पसन्द करता है।

इस पकार कहकर माता ने अपने पति के घातक क्षत्रिय से पूछा—बोल तुझे क्या दण्ड मिलना चाहिए? क्षत्रिय ने उत्तर दिया— मॉ, शरणागत को जो दण्ड देना उचित हो, वही दण्ड मुझे दीजिए।

यह उत्तर सुनकर माता ने कहा—बेटा! अब इसे मत मारो। इसने मुझे मा कहा है। अब यह मेरा बेटा और तेरा भाई बन गया है। यह शरणागत है। अब इसे छोड दे। मै जल्दी भोजन बनाती हूँ सो तुम दोनो भाई साथ बैठकर भोजन करो।

पुत्र ने कहा—मां तुमने मुझे उत्तेजित किया है। मेरा क्रोध भडका हुआ है। वह शात होना नही चाहता। अब मै अपने क्रोध को किस प्रकार सफल करूँ?

माता ने उत्तर दिया—क्रोध को सफल करने मे कोई वीरता नही है। सच्ची वीरता तो क्रोध को जीतने मे है। दूसरे पर विजय प्राप्त करना उतनी बडी वीरता नही जितनी क्रोध पर विजय प्राप्त करना वीरता है। इसलिए तू क्रोध को जीत।

क्षत्रियकुमार ने उस क्षत्रिय से कहा—मै अपनी माता का आदेश मानकर तुझे छोडता हू और अभयदान देता हू।

जो स्वय निर्भय है, वही दूसरो को अभयदान दे सकता है। अभयदान यद्यपि सब दानो मे उत्तम माना गया है। मगर उसका अधिकारी वही है जो स्वय अभय है। जो स्वय भय से काप रहा हो, वह दूसरे को क्या खाक अभयदान दे सकेगा? तुम लोग स्वय तो भय से थर्राते हो और बकरो को अभयदान देने दौडते हो! इसमे करुणाभाव तो है मगर यह पूर्ण अभयदान नही है। तुम पहले स्वय निर्भय बनो फिर अभयदान देने के योग्य बन सकोगे।

क्षत्रियकुमार की माता ने भोजन बनाया। क्षत्रियकुमार ने और उसके पिता के घात करने वाले क्षत्रिय ने साथ बैठकर भोजन किया। कदाचित् क्षत्रियकुमार उसे मार डालता तो अधिक वैर बढता और वैर की वह परम्परा कौन जाने कहा तक चलती और कब समाप्त होती। किन्तु क्रोध पर विजय प्राप्त करने से दोनो क्षत्रिय भाई–भाई हो गये।

तुम प्रवचन को माता मानते हो। तो जैसे क्षत्रियकुमार ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की थी, उसी प्रकार तुम भी प्रवचन–माता की बात मानोगे या नही? प्रवचन माता का आदेश यह है कि क्रोध को जीतो और निर्भय बनो। छुरा लेकर मारने के लिए कोई आये तो भी तुम भयभीत मत बनो। कामदेव श्रावक पर पिशाच ने तलवार का घाव करना चाहा था, फिर भी कामदेव निर्भय ही रहा। तुम धनवान् होने का बहाना करके छूटने का प्रयत्न नही कर सकते, क्योकि कामदेव गरीब श्रावक नही था, वह अठारह करोड मोहरो का स्वामी था, उसके साठ हजार गौए थी। फिर भी वह निर्भय रहा। तुम भी इसी प्रकार निर्भय बनो। निर्भय होने पर तलवार, विष या अग्नि वगैरह कोई भी वस्तु तुम्हारा बाल बाका न कर सकेगी। वास्तव मे दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड नही कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर बेठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है। अपने आन्तरिक भय को जीतोगे तो अपने को अत्यन्त शक्तिशाली पाओगे।

कहने का आशय यह है कि क्रोध को जीतो और क्षमा धारण करो। साधारण अवस्था मे तो सभी क्षमाशील रहते है मगर क्रोध भडकने पर क्षमा रखना ही वास्तव मे क्रोध को जीतना कहलाता हे। कहावत है–

जी जी कर बतलावतां, कोना क्रोध न आय।
आढा टेढा बोलता, खबर खमानी थाय।।

जो निन्दा के भय से डरता नही है, वही क्रोध को जीत सकता हे। भक्त तुकाराम कहते है–

तुका म्हेण झण अवहेलति मझ तरी के सीराज रखविती।

अर्थात्–हे प्रभो! जब मुझमे अपनी निन्दा सहन करने की शक्ति आ जायेगी, तभी मै तुम्हारा सच्चा भक्त समझा जाऊँगा।

इस प्रकार विचार कर भक्तजन निन्दा से भयभीत नही होते, वरन् निन्दा सहन करने के लिए सशक्त और सहनशील बनते है। हा, वे नवीन निन्दनीय कार्य नही करते, मगर पहले के निन्दनीय कार्यो के कारण होने वाली निन्दा से धबराते नही। इस प्रकार जो निन्दा से नही, मगर निन्दायोग्य कार्यो से ही घबराता है, वही अशुभ योग मे से निकलकर शुभ योग मे प्रवृत्त होता है।

अपने दोषो को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना गर्हा है। गर्हा किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय की व्याख्या स्थानागसूत्र मे की गई है। गर्हा का स्वरूप बतलाते हुये श्रीस्थानागसूत्र मे, द्वितीय स्थान मे, दो प्रकार की गर्हा बतलाई गई है और तृतीय स्थान मे तीन प्रकार की कही गई है। दूसरे स्थान (ठाणा) मे कहा है–

दुविहे गरिहा पण्णत्ते, तजहा–मणसावेगे गरिहइ, वयसावेगे गरिहइ, अहवा दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा दीहमद्धमेगे गरिहइ, रहसमद्धमेगे गरिहइ।।

अर्थात्–गर्हा दो प्रकार की होती है–मन से की जाने वाली गर्हा और वचन से की जाने वाली गर्हा। परन्तु दोनो को साथ करके की जाने वाली गर्हा पूर्ण गर्हा है। अन्यथा गर्हा के चार भग हो जाते हैं। वह इस प्रकार–

(1) मन से गर्हा करना वचन से न करना।
(2) वचन से गर्हा करना मन से न करना।
(3) मन से भी गर्हा करना वचन से भी करना।
(4) मन से भी गर्हा न करना वचन से भी न करना।
(यह भग शून्य है)

कभी–कभी वचन से तो गर्हा नही होती किन्तु मन से गर्हा हो जाती है। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि नीची स्थिति मे जाने के योग्य विचार कर रहे थे। उसी समय उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुचा। मस्तक पर मुकुट न पाकर उन्होने मन ही मन ऐसी गर्हा की कि उसी समय केवली हो गये। इस प्रकार एक गर्हा ऐसी ही होती है जो वचन से तो नही होती सिर्फ मन से होती है। दूसरी गर्हा ऐसी होती है जो मन से नही की जाती सिर्फ वचन से की जाती है। ऐसी गर्हा द्रव्यगर्हा कहलाती है। वचन से न होकर भी मन से [illegible] है मगर मन से गर्हा न करके केवल वचन से कह

देना कि 'मुझसे अमुक दुष्कर्म हो गया है' एक प्रकार का दम्भ ही है। मन मे जुदा भाव रखना और वचन से गर्हा करना द्रव्यगर्हा है, जो दूसरो को ठगने के लिए की जाती है। दूसरो को ठगने के लिए की जाने वाली द्रव्यगर्हा के अनेक उदाहरण शास्त्रकारो ने बतलाये हैं।

कल्पना कीजिए, कोई पुरुष मर गया है। उसका किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध था। जब मृत पुरुष की लाश उसी स्त्री के घर के सामने होकर निकली तो वह अपना रुदन न रोक सकी। मगर साधारण रीति से रोए तो लोगो को शका हो कि यह स्त्री इस पुरुष के लिए क्यो रोई? इसका मृत पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध था? इस प्रकार की निन्दा से बच जाये और रो भी ले, ऐसा उपाय खोजकर उस स्त्री ने अपने हाथ के कडे नीचे फैंक दिये और 'मेरे कडे गिर पडे' कह–कहकर जोर–जोर से रोने लगी। वास्तव मे उसे अपने यार के लिए रोना था, मगर वह कडो का बहाना करके रोने लगी। क्या यह कहा जा सकता है कि उसका रुदन कडो के लिए है? कडा तो रोने का बहाना भर थे।

इस प्रकार भीतर कुछ और भाव रखना तथा वचन द्वारा यह प्रकट करना 'मुझसे अमुक खराब काम हो गया, इसके लिए मुझे दु ख है,' यह द्रव्यगर्हा है। यह द्रव्यगर्हा ढोग है और लोगो को ठगने के लिए की जाती है। पूर्वोक्त चतुर्भगी मे द्रव्यगर्हा दूसरे भग मे है।

तीसरे प्रकार की गर्हा मन से भी की जाती हे और वचन से भी की जाती है। चौथी गर्हा शून्यरूप हे। यह गर्हा न मन से की जाती है, न वचन से ही की जाती है।

इस प्रकार स्थानागसूत्र के दूसरे ठाणे मे गर्हा के दो भेद किये गये है। एक गर्हा वह जो मन से की जाती हे और दूसरी गर्हा वह जो वचन से की जाती है। अथवा पहली गर्हा वह है जो दीर्घकाल के कार्यों की न की जाकर निकटकाल के कार्यों की की जाये और दूसरी गर्हा वह जो निकटकाल के कार्यो की न की जाकर दीर्घकालीन कार्यो की की जाये। या दीर्घ कार्य की गर्हा की जाये और लघु (सामान्य) कार्य की गर्हा न की जाये।

कौन से कार्य दीर्घ और कौन से लघु हे? यह वर्गीकरण करना कठिन हे। अनुभवी पुरुप ही विशेप रूप से स्पप्टीकरण कर सकते हैं। किन्तु वास्तव मे गर्हा सभी पापो की करनी चाहिए, फिर चाहे वह दीर्घकालीन हो, निकटकालीन हो, मोटा पाप हो या छोटा पाप हो।

तीसरे ठाणे मे गर्हा के तीन भेद बतलाते हुए कहा गया है–

तिविहे गरिहा पण्णत्ते, तंजहा–मणसा, वयसा, कायसा।

अर्थात्–गर्हा तीन पकार की है–मन से की जाने वाली, वचन से की जाने वाली और काय से की जाने वाली। अथवा मन द्वारा किये कार्यो की गर्हा करना, वचन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना और काय द्वारा कृत कार्यों की गर्हा करना। यद्यपि गर्हा के यह तीन भेद बतलाये गये है तथापि यह नही भूलना चाहिए कि पूर्ण गर्हा वही है जो मन, वचन और काय–तीनो के द्वारा की जाती है। गर्हा करने का उद्देश्य है–

पावाण कम्माण अकरणयाए।

अर्थात्–पुन पापकर्म न करने के उद्देश्य से गर्हा की जाती है। इसीलिए पाप का प्रकाशन किया जाता है, कि पाप के कारण निन्दा हो और भविष्य मे फिर कभी वह पाप न किया जाये। यही गर्हा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब मन, वचन और काय तीनो योगो से गर्हा की जाये।

तात्पर्य यह है कि भविष्य मे पुन पापकर्म मे प्रवृत्ति न हो, इस ध्येय की सिद्धि के लिए मन, वचन और काय से–तीनो से–गर्हा करनी चाहिए।

कहा जा सकता है कि पापकर्मो की गर्हा मन से ही कर ली जाये तो काफी है। गुरु आदि के समक्ष गर्हा करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वालो से यही कहा जा सकता है कि शास्त्र का वचन अगर प्रमाण मानते हो तो शास्त्र पर विश्वास रखकर शास्त्र के कथनानुसार ही गर्हा करनी चाहिए। अगर तुम्हे शास्त्र पर विश्वास नही है तो फिर तुमसे कुछ कहना ही वृथा है। शास्त्र मे निन्दा और गर्हा के बीच बहुत अन्तर बतलाया गया है। गर्हा लघुता प्रकट करने के लिए की जाती है। अगर कोई मनुष्य ऊपर से लघुता दिखलाता है मगर पाप का त्याग नही करता तो कहना चाहिए कि वह वास्तव मे लघुता का प्रदर्शन नही करता वरन् ढोग का ही प्रदर्शन करता है। जिसमे सच्ची लघुता होती है वह गर्हा करते हुए विचार करता है कि मेरी आत्मा ने कैसा नीच कृत्य किया है?

जिस मनुष्य को सवारी के लिए हाथी उपलब्ध है, वह हाथी को [illegible] पर सवार होता है तो मूर्ख ही कहा जायेगा। इसी प्रकार [illegible] कि–हे आत्मन्! तुझे हाथी पर बैठने के समान [illegible] पर बैठने के समान नीच कृत्य क्यो करता है?

[illegible]

इस प्रकार विचार करने से सच्ची गर्हा करने की भावना का उदय होगा और उसी समय आत्मा मे लघुता भी आएगी। ज्यो–ज्यो आत्मा मे लघुता आएगी, त्यो–त्यो आत्मा परमात्मा के समीप पहुचता जायेगा।

मैंने जिन ग्रन्थो का अवलोकन किया हे, उन सव मे प्राय यही कहा गया है कि आत्मा का मूल स्वरूप कैसा है? लेकिन वह कैसी स्थिति मे आ पडा है? आत्मा को कितनी अनुकूल सामग्री उपलब्ध है, लेकिन आत्मा उसका कैसा उपयोग कर रही है! आत्मा का कार्य यह बडा ही विपरीत है। राजा ने प्रसन्न होकर किसी को उच्चकोटि की गजवेल की तलवार भेट की। मगर भेट लेने वाला ऐसा मूर्ख निकला कि उस तलवार से घास काटने लगा। क्या उसका यह कार्य तलवार का दुरुपयोग करना नही है? इसी प्रकार आत्मा को यह मानव–शरीर ऐसा मिला है जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। तीर्थकर अवतार आदि समस्त पुरुष इसी शरीर मे हुए हैं। ऐसा उत्कृष्ट शरीर पाकर भी यदि विषय कषाय मे इसका उपयोग किया गया तो अन्त मे पश्चात्ताप करना पडेगा। जो मनुष्य जन्म का माहात्म्य समझेगा और आत्मकल्याण साधना चाहेगा, वह सच्चे हृदय से गर्हा किये बिना रह ही नही सकता।

मेरी ऐसी धारणा है कि यदि मनुष्य अपने सुबह से शाम तक के काम किसी विश्वस्त मनुष्य के समक्ष प्रकट कर दिया करे तो उसके विचारो और कार्यो मे वहुत प्रशस्तता आ जायेगी। गृहस्थो को ओर कोई न मिले तो पति–पत्नी आपस मे ही अपने–अपने कार्य एक दूसरे पर प्रकट कर दिया करे तो उन्हे अवश्य लाभ होगा। अपने कृत्य प्रकाशित करने से विचारो का आदान–प्रदान होता है ओर दोषो की शुद्धि होने से जीवन उन्नत बनता है।

गर्हा जीवनशुद्धि की कुजी है। भगवान ने कहा हे कि गर्हा करने से आत्मा पवित्र बनती हे। गर्हा से आत्मा किसी भी अवस्था मे पतित नही होती वरन् उन्नत ही होती हे। आत्मा के पतन का कारण शारीरिक मोह हे। आत्मा को शारीरिक मोह मे फसाकर गिराना उचित नही हे। आत्मा ओर शरीर भिन्न भिन्न हें। आत्मा अमर ओर अविनाशी हे, जवकि शरीर नाशवान् हे। गीता मे भी कहा है–

न जायते म्रियते वा कदाचित्, नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो–न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

गीता–2 / 20

अर्थात्–शरीर ही जन्मता और मरता है। आत्मा न जन्मता है, न मरता है। आत्मा तो अजर और अमर है।

जैनशास्त्र की दृष्टि से भी आत्मा अनादिकाल से है। अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी आत्मा जैसा का तैसा है। आत्मा नरक मे जाकर न मालूम कितनी बार तेतीस सागर की स्थिति भोग चुका है। फिर भी उसका स्वरूप ज्यो का त्यो है। गीता कहती है, आत्मा का नाश नही होता। आत्मा ऐसी ज्योति है जो कभी बुझती नही। किसी दिन उसका नाश नही हुआ, होगा भी नही। आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। बहुत सी वस्तुये ऐसी भी है जो नित्य होने पर भी आज किसी रूप मे है और कल किसी और रूप मे होगी। मगर शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से आत्मा सदैव एक स्वभाव मे रहती है। इस प्रकार आत्मा शाश्वत है और साथ ही पुरातन अर्थात् सनातन है।

इस सनातन आत्मा को मामूली बात के लिए पतित करना कितनी भयकर भूल है? इस भूल के सशोधन का एक कारगर उपाय गर्हा करना है। सच्ची गर्हा करने से आत्मोन्नति होती है क्योकि गर्हा आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि का पधान कारण है। सच्ची गर्हा करने वाला पुरुष आत्मा को कभी पतित नही होने देता। चाहे जैसा भयानक सकट आ पडे, फिर भी आत्मा को पतित न होने देना ही सच्ची गर्हा का अवश्यम्भावी फल है।

राजा हरिश्चन्द्र का राजपाट वगैरह सब चला गया। उसने इन सब चीजो को प्रसन्नतापूर्वक जाने दिया, मगर आत्मा को पतन से बचाने के लिए सत्य न जाने दिया। आखिर उस पर इतना भयकर सकट आ पडा कि एक ओर मृत पुत्र सामने पडा है और दूसरी ओर उसकी पत्नी दीन वाणी मे कहती है कि पुत्र का सस्कार करना आपका कर्त्तव्य है। यह आपका पुत्र है। आप इसका सस्कार न करेगे तो कौन करेगा? पत्नी के इस प्रकार कहने पर भी हरिश्चन्द्र ने यही उत्तर दिया कि मेरे पास इसका सस्कार करने की कोई सामग्री नही है?

हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा ने कहा–अग्निसस्कार करने के लिए और क्या सामग्री चाहिए? लक्कड सामने पडे ही है। फिर अग्निसस्कार करने मे ईंधन की क्या आवश्यकता है।

हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया– तुम ठीक कहती हो पर यह लक्कड मेरे नही खरीदे है। स्वामी की आज्ञा है कि कर देने वाले को ही लकडियॉ दी जाएँ। अतएव यह लकडियॉ बिना मोल नही मिल सकती।

यह सुन कर तारा बोली—आपका कथन सत्य है, पर आप एक टके का कर किससे माग रहे है? क्या मैं आपकी पत्नी नही हूँ? इस समय मेरे पास एक भी टका नही है।

राजा ने कहा—रानी! पुत्रवियोग के कारण तुम मोह मे पड गई हो। तुम अपने ध्येय को भी भूली जा रही हो। विचार करो, तुम कौन हो? तुम एक राज्य की महारानी हो, फिर भी केवल सत्य को पालन करने के लिए ही दूसरे के घर की दासी बनी हो। तुम मुझे स्वामी कहती हो सो मैं पूछता हूँ कि मेरी हड्डियो को स्वामी कहती हो या आत्मा को? तुम भलीभाति जानती हो कि जो पुरुष एक दिन प्रतापशाली राजा था और जिस ओर नजर फेरता था उसी ओर लक्ष्मी विलास करने लगती थी, वह राजा सत्य के लिए ही दूसरे का दीन दास बना है। जिस सत्य का पालन करने के लिए मैंने और तुमने इतने कष्ट उठाये है क्या आज उसी सत्य का परित्याग कर देना उचित है? अगर मैं कर वसूल किये बिना, स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध लकडिया दे दू और पुत्र का अग्निसस्कार कर डालू तो सत्य का विघात होगा या नही?

राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्याग्रह सच्ची गर्हा का स्वरूप स्पष्ट करता है। आज तुम्हे भी विचार करना चाहिए कि सत्य का पालन करने के लिए कितना त्याग सीखने की आवश्यकता है! नाशशील शरीर के लिए तो थोडा—बहुत त्याग किया जाता है किन्तु अजर—अमर आत्मा के लिए तनिक भी त्याग नही करते हैं! यह कितनी भयानक भूल है।

हरिश्चन्द्र का कथन सुनकर रानी बोली—"वास्तव मे आपका कहना ठीक है। सत्य का त्याग करना कदापि उचित नही है, परन्तु पुत्र का शव यो ही पडे रहने देना और उसका सस्कार न करना भी क्या उचित है?"

राजा ने उत्तर दिया—"जो होनहार होगा, सो होगा। परन्तु शव के सस्कार के लिए सत्य का घात करना उचित नही। सत्य सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए सर्वप्रथम सत्य की ही रक्षा करनी होगी।"

कतिपय लोग कह देते है—"क्या किया जाये, अमुक ऐसा कारण उपस्थित हो गया कि उस समय सत्य का पालन करना अत्यन्त कठिन था। किसी भी युक्ति से उस समय काम निकालना आवश्यक था।" इस प्रकार कहकर लोग सत्य की उपेक्षा करते हं। किन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि सत्य का विश्वास रखने से तुम्हारे भीतर अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होगा ओर उस दशा मे तुम्हारा कोई भी कार्य अटका नही रहेगा। शास्त्र मे कहा ही हे—

देवा वि त णमसति, जस्स धम्मे सया मणो। दश

सत्य का निरन्तर पालन करने से देवता भी तुम्हारी सेवा मे उपस्थित होगे। मगर आज तो यह कहा जाता है–

देव गया द्वारिका, पीर गया मक्का।
अंग्रेजो के राज मे, ढेढ मारे धक्का।।

अर्थात्– आजकल कलियुग चल रहा है। देव भी न जाने कहा विलीन हो गये हैं।

मगर देवो को देखने से पहले अपनी आत्मा को क्यो नही देखते? तुम्हारे हृदय के भाव देखकर ही देव आ सकते है। तुम मे धर्म होगा तो देव अपने आप आ जायेगे अतएव धर्म को अपनाओ, हृदय मे धर्म को स्थान दो।

रानी ने राजा से कहा– पुत्र के शव का सस्कार करने का एक उपाय है। उस उपाय से पुत्र के शव का अग्निसस्कार भी हो जायेगा और सत्य की रक्षा भी हो जायेगी। राजा के पूछने पर रानी ने उपाय बतलाया– मैने जो साडी पहन रखी है, उसमे से आधी साडी से अपनी लाज बचा लूगी और आधी आपको कर के रूप मे देती हूँ। आप आधी साडी लेकर पुत्र का सस्कार कीजिए।

राजा ने यह उपाय स्वीकार किया। कहा–ठीक है, इससे दोनो कार्य सिद्ध किये जा सकते है।

रानी इस विचार से बडी प्रसन्न थी कि इस उपाय से मेरे और मेरे पति के सत्य की रक्षा भी हो जायेगी और पुत्र का अग्निसस्कार भी हो जायेगा। रानी मे उस समय ऐसा वीररस आया कि वह तत्काल ही अपनी आधी साडी फाड देने को तैयार हुई।

महारानी तारा तो सत्यधर्म की रक्षा के लिए अपनी आधी साडी फाड देने को तैयार है पर आप अपने धर्म की रक्षा के लिए और अहिसा का पालन करने के लिए चर्बी वाले वस्त्र भी नही तज सकते। तुम्हे गरीब प्राणियो पर इतनी भी दया नही आती। चर्बी वाले वस्त्र पहनने से उन्हे कितना दु ख सहन करना पडता है? मालूम हुआ है कि यत्रवादी लोग गरीब मजदूरो के हित का [illegible] नही रखते। अगर कुछ ध्यान देते भी है तो बस उतना ही जिससे उनके [illegible] आये। गरीबो पर दया रखकर वे उनके हित के लिए कुछ [illegible] करते। प्राय यत्रवादी लोगो मे गरीबो के प्रति दया होती ही नही। [illegible] वाले मिल के वस्त्र पहनकर गरीबो का दु ख क्यो बढाते [illegible] और खादी के कपडो की तुलना करके देखो तो मालूम [illegible]

होगा कि दोनो मे कितना अधिक अन्तर है। यह अन्तर जान लेने के बाद अहिसा की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से और आर्थिकदृष्टि से खादी अपनाने की इच्छा हुए बिना नही रहेगी।

गरीबो पर दया करने के लिए ही गाधीजी ने अधिक वस्त्र पहनना त्याग दिया था। उन्होने वस्त्रो की मर्यादा बाध ली थी और मर्यादित वस्त्रो से ही अपना काम चलाते थे। वस्तुत इस उष्ण देश मे अधिक वस्त्रो की आवश्यकता भी नही है। वस्त्र मुख्यरूप से लज्जा की रक्षा के लिए ही है। अगर इसी दृष्टि से वस्त्रो का उपयोग किया जाये तो बहुत लाभ होगा। इस देश मे यद्यपि थोडे ही वस्त्रो से काम चल सकता है, फिर भी यहा के लोग एक-दूसरे के ऊपर, कम से कम तीन वस्त्र प्राय पहनते ही है। तीन से कम वस्त्र पहनना फैशन के खिलाफ समझा जाता है। ठूस-ठूस कर पहने हुए वस्त्रो के कारण भले ही पसीना हो और वही भीतर ही सूखकर शरीर को हानि पहुचाए, मगर तीन से कम वस्त्र पहनना फैशन के विरुद्ध कहलाता है।

तुम्हे देखना चाहिए कि तुम्हारे गुरु किस प्रकार रहते है। हम तुम्हारे बीच मे बैठे है, इसी कारण लज्जा की रक्षा के लिए हमे वस्त्र ओढना पडता है। अगर हम जगल मे जाकर, एकान्त मे बैठे तो हमे वस्त्र की आवश्यकता ही न रहे। तुम लोग ऐसे त्यागी गुरुओ के उपासक होते हुए भी चर्बी लगे वस्त्रो तक का त्याग नही कर सकते, यह कितनी अनुचित बात है।

रानी ने वीरता के आवेश मे अपनी आधी साडी फाड डाली। रानी ने अपनी साडी क्या फाडी, मानो अपने कष्ट ही फाडकर फैक दिये। उसकी साडी के तार क्या टूटे मानो उसका तीव्र अन्तरायकर्म ही टूट गया।

रानी को इस प्रकार साडी फाडते देखकर राजा को दु ख हुआ। उसने सोचा--मेरी पत्नी के पास एक ही साडी थी और वह भी आधी दे देनी पडी। लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार कर प्रसन्नता भी हुई कि ऐसा करने से हमारे सत्य की रक्षा हुई हे। अन्त मे राजा-रानी का कष्ट दूर हुआ ओर उनके सत्य की भी रक्षा हुई।

कहने का आशय है कि सकट सिर पर आने पर भी अपने आपको पतित न होने देना चाहिए। सत्यधर्म की ऐसी दृढता जिसमे होगी वही सच्ची गर्हा कर सकेगा।

आठवां बोल

सामायिक

पिछले प्रकरण मे गर्हा का विवेचन किया गया है। गर्हा का विषय इतना गम्भीर है कि उसकी विस्तृत व्याख्या करने मे महीनो और वर्ष भी लग सकते है। मगर इतने अवकाश के अभाव मे उसे सक्षेप मे ही समाप्त किया गया है। गर्हा के विषय मे जो कुछ भी कहा गया है, उसका सार यही है कि बालक अपने माता–पिता के सामने जैसे नि सकोचभाव से सभी बाते कह देता है, उसी प्रकार गुरु आदि के समक्ष अपने समस्त पापो–दोषो को निवेदन कर देना चाहिए। यही सच्ची गर्हा है। सच्ची गर्हा करने से अभिमान पर विजय प्राप्त होती है। बारीकी से अपने दोषो का निरीक्षण करने वाला और उन्हे गुरु वगैरह के समक्ष प्रकट कर देने वाला आत्मबली ही अभिमान को जीत सकता है। इस प्रकार अहकार को जीतने वाला अपनी आत्मा का कल्याण–साधन करता है।

समभाव के अभाव मे सच्ची गर्हा नही हो सकती। अतएव समभाव के विषय मे भगवान से यह प्रश्न पूछा गया है–

मूलपाठ

प्रश्न 8–सामइएण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर–सामाइएण सावज्ज जोगविरइणयइ।

शब्दार्थ

प्रश्न 8–भगवन्! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।

व्याख्यान

यहा सक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है। अन्य ग्रन्थो मे इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है। विशेषावश्यक भाष्य मे सामायिक के विषय मे बारह हजार श्लोक लिखे गये हे।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओ का आधार है। जैसे आकाश सभी के लिए आधारभूत है, चाहे कोई गृह बना–कर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधारभूत। इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणो का आधार है। सामायिक आधार है और दूसरे गुण सब आधेय है। आधार के बिना आधेय टिक नही सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव मे अन्य गुण भी नही टिक सकते। जैसे पृथ्वी के आधार बिना कोई वस्तु नही टिक सकती और आकाश के आधार बिना पृथ्वी नही टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण नही टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग से 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है, उसी दृष्टि से दूसरो की आत्मा को देखना समभाव कहलाता है। इस प्रकार का समभाव एकदम नही आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन मे समभाव का आना कठिन भी नही है।

कहा जा सकता है कि–'ऐसा समभाव लेकर बैठे तो पेट भी नही भर सकता और आखिर भूखो मर कर प्राण गवाने पडेगे। ससार–व्यवहार चलाने के लिए छलकपट करना आवश्यक है और जिसमे जितना बल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल–कपट करना चाहिए। ऐसा न करके, समभाव को छाती से चिपका कर बैठे रहे तो जीवन कष्टमय बन जायेगा।'

इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते हैं–समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय बनता ही नही है। विषम भाव से ही कष्टो की सृष्टि होती है। बहुत से लोगो की यह मान्यता हे कि 'वलीया के दो भाग' वाली नीति रखने से ही जीवन–व्यवहार ठीक–ठीक चल सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषो का कथन इससे विपरीत है। उनके कथनानुसार समभाव धारण करने से ही जीवन–व्यवहार भली–भाति चलता हे।

इस प्रकार दोनो प्रकार के लोग अपनी–अपनी मान्यता प्रकट करते है। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता हे। मगर तटस्थभाव

से विचार करने पर अन्त मे यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषो का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढे–लिखे लोगो से चल रहा है या अनपढ लोगो से? पढे–लिखे अधिक हैं या अनपढ लोग अधिक हैं? और अगर सभी लोग पढ–लिख जाय तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नही, तो क्या पढना बुरी बात है? दुनिया मे अनपढ अधिक है और अनपढो द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढना छोड देता है? ससार मे गरीबो की सख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फैक देता है? रोगियो की सख्या अधिक जानकर कोई स्वय रोगी बनने की इच्छा करता है?

ससार मे रोगी भले ही अधिक हो, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नही बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया मे विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते है कि समभाव से ससार का काम नही चल सकता, उन्हे सोचना चाहिए कि जब वे दूधमुहे बालक थे और अपने आप खा–पी नही सकते थे चल–फिर भी नही सकते थे, तब उनके माता–पिता ने उन्हे आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या आज वह जीवित होते? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा मे कृतघ्न होकर क्यो कहते हो कि समभाव से काम नही चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है।

कोई कितना ही क्रूर क्यो न हो, उसमे भी किसी न किसी रूप मे, थोडी–बहुत मात्रा मे समभाव विद्यमान रहता है और उस समभाव की बदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिहनी को लीजिए। सिहनी क्रूर स्वभाव वाली है। यह सभी कहते है। लेकिन क्या वह अपने बच्चो के लिए भी क्रूर है? क्या वह अपने बच्चो पर समभाव नही रखती? वह अपने बच्चो पर समभाव न रखती और उनके साथ भी क्रूरता का [illegible] करती तो आज उसकी जाति का अस्तित्व होता? इस प्रकार [illegible] सर्वत्र समभाव की मात्रा पाई जाती है और समभाव के कारण ही [illegible] अस्तित्व है [illegible] प्रत्येक प्राणी मे न्यूनाधिक समभाव पाया ही जाता है। [illegible]

है परन्तु ज्ञानी पुरुष समभाव पर ज्ञान का कलश चढाना चाहते हैं। ज्ञानपूर्वक समभाव ही सामायिक है।

आप लोग सामायिक मे बैठते हैं पर उस समय आपका प्राणीमात्र पर समभाव रहता है या नही? आप सामायिक मे बैठे हो। उसी समय कोई व्यक्ति आकर आपके कानो मे से मोती निकाल ले जाये तो आप चिल्लाहट मचायेगे? उस समय आपको विचारना चाहिए– मोती ले जाने वाला बेचारा दु खी होगा। उसे उसकी आवश्यकता होगी, इसलिए वह ले गया है। इस प्रकार विचार करके आप मोती ले जाने पर क्रोध न करे तो समझना चाहिए कि आप मे समभाव है। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही आपकी सच्ची सामायिक होगी। यही नही, कोई पुरुष शरीर पर आघात करने आये, फिर भी उस पर विषयभाव उत्पन्न न होना सामायिक की कसौटी है। कदाचित् कोई सहसा इस उच्च स्थिति पर न पहुच सके तो भी लक्ष्य तो यही होना चाहिए। सैनिक एकदम सही निशाना लगाना नही सीख लेता, मगर सावधान होकर अभ्यास करता है और अन्त मे सफल निशानेबाज बन जाता है, इसी प्रकार जीवनसिद्धि का लक्ष्य साधने के लिए समभाव का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। सैनिक अभ्यास करते–करते बहुत बार निशाना चूक जाता है, फिर भी उसका ध्यान तो लक्ष्य ताकने का ही होता है। इसी प्रकार जीवन मे पूर्ण समभाव न उतारा जा सके तो भी लक्ष्य यही होना चाहिए और शनै शनै ही सही, पर उसी ओर अग्रसर होते जाना चाहिए। अभ्यास करते रहने से किसी दिन पूर्ण सामायिक प्राप्त होगी और जीवन समभावमय बन जायेगा। सामायिक करते समय इतने समभाव का अभ्यास तो कर ही लेना चाहिए कि जब आप सामायिक मे बेठे हो और उस समय कोई आपको गालिया दे तो भी उस पर समभाव रह सके। आपके अन्त करण मे इतना समभाव आ जाये तो आपको समझना चाहिए कि अब हमारा तीर निशाने पर लगने लगा है। इससे विपरीत, मुहपत्ती बाधते बाधते कानो मे निशान पड जाए और सामायिक करते–करते वर्षो व्यतीत हो जाए, फिर भी जब आप सामायिक मे बैठे और कोई गाली दे तो आप समभाव न रख सके तो समझना चाहिए कि आपका लक्ष्य कही हे ओर आप तीर कही अन्य जगह मार रहे हैं। यहा तक तो जो कुछ कहा गया हे वह देशविरति सामायिक को लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया हे। सर्वविरति सामायिक के लिए इससे भी अधिक समझना चाहिए। सर्वविरति सामायिक मे पूर्ण समभाव की आवश्यकता रहती है।

सामायिक अथवा समभाव का फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा है कि सामायिक से समभाव की प्राप्ति होती है और समभाव से सावद्य योग से निवृत्ति होती है। मन, वचन और काय के योग से जो पाप होते हैं वह सावद्य योग कहलाते हैं। यह सावद्य योग सामायिक से दूर हो जाता है।

सामायिक का फल बतलाते हुए अनुयोगद्वार सूत्र मे तथा अन्यत्र भी कहा गया है–

जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे नियमे तवे।
तस्स सामइयं होइ, इह केवलिभासियं।।
जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइअं होइ, इह केवलि भासिय।।

इन गाथाओ का आशय यह है कि समभाव से वर्त्तने वाले के ही तप नियम–सयम आदि सफल होते हैं। समभाव के अभाव मे तप और नियम आदि सफल नही होते। तप करना और दूसरो को कष्ट देना, सयम लिया मगर दूसरो पर हुकूमत चलाई, तो यह तप और सयम समभाव विहीन है। तप–सयम की सच्ची सफलता समभाव की विद्यमानता मे ही है।

सामायिक की अवस्था मे आक्रमणकारी पर भी क्रोध नही आना चाहिए। क्रोध न आये तो समझ लीजिए कि मै भगवान के कथनानुसार समभाव का पालन कर रहा हू। इसके विरुद्ध अगर क्रोध भडक उठता है तो ज्ञानी कहते है– अभी तुझमे सयम नही आया, क्योकि तू समभाव से दूर हैं। सयम तो समभावपूर्वक ही होता है। समभाव के अभाव से सयम ठिक नही सकता। इस प्रकार सामायिक करते समय क्रोध भी नही करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नही करना चाहिए। जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझे नही मेरे समभाव को है। अतएव मुझे तो समभाव ही की रक्षा करनी चाहिए। अहभाव, समभाव के विरुद्ध है अतएव अहभाव का तो त्याग करना ही चाहिए। जब मन मे अहभाव आये तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझमे समभाव नही आया है।

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य मे सामायिक की आवश्यकता [illegible] समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के बिना किसी भी कार्य [illegible] पर शान्ति नही मिल सकती फिर भले ही वह कार्य [illegible] सम्बन्धित हो। समभाव होने पर ही सब कार्यों मे शान्ति [illegible] है। जिसमे समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के

समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है और जिस सामायिक से सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृत्ति होती है, वह सावद्य योग क्या है? इस सम्बन्ध मे कहा है–

कम्म सावज्ज जं गरहिय, ति कोहाईओ व चत्तारि।
सह तेहि जो होउ जोगो पच्चक्खाण भवइ तस्स।।

इस गाथा मे सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योकि समस्त निन्दनीय कर्म कषाय के अधीन होकर ही किये जाते है। निन्दनीय कर्मो का कारण कषाय है, अत कारण मे कार्य का उपचार करके कषाय को भी सावद्य योग कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (पृत्ति) की जाती है वह सावद्य योग कहलाती है। सावद्य योग का निषेध करना, सावधयोग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

इस गाथा मे आये हुए 'सावज्ज' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैने कहा था–

आरात् सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्य ।

अर्थात्–समस्त हेय धर्मो–पापकर्मो का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषो द्वारा त्यागे गये है अथवा उनके द्वारा जो निन्दित हे, वे सब कार्य सावद्य हे। श्रेष्ठ पुरुष कभी निन्दित कार्य नही करते। जिन कार्यो से जगत् का कल्याण होता है वह श्रेष्ठ कार्य हे ओर ससार का अहित करने वाले कार्य निन्दित कर्म हें। सारा ससार जुआ खेलने लगे तो क्या ससार का अहित नही होगा? ऊपर से तो जुआ मे अल्प आरम्भ दिखाई देता हे परन्तु वास्तव मे जुआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर हे। इसी कारण शास्त्र मे उसे महाप्रमाद कहा हे। इसी प्रकार ससार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगे तो दुनिया का काम कैसे चल सकता हे? क्या उस स्थिति मे ससार दु खो से व्याप्त नहीं हो जायेगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने

गये हैं। इसी तरह के और कार्य भी सावर्ज्य कार्य है। निद्य कार्य त्याज्य ही है। अतएव निन्दित कार्यो का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्म कल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो। इसी मे कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अवलम्बन लिए बिना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरणार्थ–आप लोग शाकाहारी है इसलिए मासाहार से बचे हुए है– अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मासाहार से बचना क्या सभव था? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने अपस्थित हुए बिना किसी का त्याग नही किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नही हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मासाहार से बचना आवश्यक है। मासाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मासाहार छोडने और धीरे–धीरे निराहार बनने का एक मार्ग है। महारभी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारम्भी वस्त्र का आलम्बन लिया ही जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आलम्बनभूत है।

सावद्य योग से निवृत्त होने की इच्छा करने वाले को विचार करना चाहिए कि मुझे सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश किसने दिया है? अगर तीर्थंकर भगवान ने यह उपदेश न दिया होता तो कौन जाने सावद्य योग से निवृत्त होने की बात भी सुनाई देती या नहीं? ऐसी अवस्था मे जिन्होने सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश दिया है, उन चौबीस तीर्थंकरो की प्रार्थना–स्तुति करना आवश्यक है। सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए यह एक आलम्बन है। [illegible] तीर्थंकरो की स्तुति करने से क्या लाभ होता है इस प्रश्न का उत्तर [illegible] से दिया जायेगा।

नवां बोल

चतुर्विंशतिस्तव

प्रश्न 9–चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर–चउव्वीसत्थएण दसणविसोहि जणयइ।।9।।

शब्दार्थ

प्रश्न 9–चौबीस जिनो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है।

उत्तर–चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है।

व्याख्यान

भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चोबीस तीर्थंकरो का स्तव करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है। चोबीस तीर्थंकरो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता हे? यह प्रश्न पूछा गया हे। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने फरमाया हे कि चोवीस तीर्थकरो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती हे।

तीर्थंकरो के स्तवन के अनेक भेद हे। जेसे–नाम–स्तवन, स्थापनास्तवन द्रव्यस्तवन, भावस्तवन, कालस्तवन, क्षेत्रस्तवन आदि। अन सब भेदो को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक हे।

नामस्तवन के भी दो भेद हे। एक भेद–नामस्तवन दूसरा अभेद–नामस्तवन। भगवान ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना ओर भगवान महावीर को महावीर कहना अभेद–नाम हे। इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद–नामस्तवन कहलाता हे। किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव, या अनेक जीवा अथवा अनेक अजीवो को तीर्थंकर का नाम देना

भेद नाम कहलाता है। भेद–नाम मे और अभेद–नाम मे बहुत अन्तर है। अभेद–नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद–नाम से किसी भी वस्तु को किसी भी नाम से सबोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद–नाम है लेकिन बालक का रुपया नाम रख देना भेद–नाम है। भेद–नाम से भेद जैसा और अभेद–नाम से अभेद जैसा कार्य होता है। भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती और अभेद–नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है। थाली मे भोजन के नाम से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाये तो उससे क्षुधा शान्त नही होती, क्योकि वह भोजन अभेद–नाम नही वरन् भेद–नाम है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नही मिट सकती। इस प्रकार के भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती। अर्थक्रिया तो अभेद–नाम से ही सिद्ध होती है। यह नामस्तवन की बात हुई।

इसी प्रकार तीर्थकरो का नाम लिखकर उन नामो मे स्थापना की जाये या मूर्ति मे उनकी स्थापना की जाये तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो मानते हैं, मगर अभेद–निक्षेप से नही मान सकते। इसी प्रकार इस तरह की नामस्थापना को वन्दना भी नही कर सकते। हम अभेद–निक्षेप को ही वन्दना करते है। भेद–निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्यतीर्थकरो की बात लीजिए। जो चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं, वे जब तक केवली नही हुए थे, वरन् राज्य अवस्था मे थे, तब तक द्रव्यतीर्थंकर थे। ऐसे द्रव्यतीर्थंकरो का स्तवन करना द्रव्यस्तवन है। हम द्रव्यतीर्थंकर को नमस्कार नही करते और न उनका स्तवन ही करते है, किन्तु जब उनमे तीर्थंकर के योग्य गुण प्रकट हो जाते हैं तभी उन्हे नमस्कार करते हैं और तभी उनका स्तवन करते है।

तीर्थंकरो को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किसलिए किया जाता है यह बात प्रतिक्रमण मे बोली ही जाती है–

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म तित्थयरे जिणे।
अरिहते कित्तइस्स, चउवीस पि केवली।।

अर्थात–चौबीस तीर्थंकर भगवान् लोक मे उद्योत करने वाले है मै उनका वन्दन करता हू। ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नही होता तब तक वस्तु दिखाई नही देती। प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

भगवान पचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। हम लोग भगवान के ज्ञानप्रकाश से ही पचास्तिकाय को जान पाते हैं।

भगवतीसूत्र मे मडूक श्रावक का प्रकरण आता है। उसमे कहा गया है कि मडूक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था—"तुम्हारे भगवान महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमे से चार को अरूपी और एक पुद्गल को रूपी कहते हैं। लेकिन अरूपी क्या तुम्हे दिखाई देता है?" मडूक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—"हम अरूपी को नही देख सकते।"

कालोदधि—जिस वस्तु को तुम देख नहीं सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखड नही तो क्या है?

मडूक—हे देवानुप्रिय! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए, जो न देखी जा सके उसे नही मानना चाहिए। किन्तु मैं पूछता हू कि पवन, गन्ध और शव्द को तुम आखो से देख सकते हो? समुद्र को एक किनारे पर खडे होकर दूसरा किनारा देख सकते हो? अगर नही तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नही मानना चाहिए? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि वस्तु देखी न जा सके उसे मानना ही नही चाहिए।

मडूक का यह युक्तिवाद सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ। वह सोचने लगा—भगवान महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल है तो स्वय भगवान कैसे होगे?

मडूक श्रावक जव भगवान महावीर के पास आया तब भगवान ने उससे कहा—"हे मडूक! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था?"

मडूक बोला—हा भगवन्! मैंने यही उत्तर दिया था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही हैं।

भगवान ने कहा—हे मडूक! तूने कालोदधि को समीचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मैं धर्मास्तिकाय देखता हूँ तो अनन्त अरिहन्तो की अवहेलना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया वह समीचीन हे।

लोक व्यवहार मे भी अनुमान को प्रमाण मानना पडता हे। अनुमान को प्रमाण माने विना व्यवहार मे भी काम नही चल सकता। ऐसी स्थिति मे धर्म के विषय मे अनुमान प्रमाण क्यो न माना जाये? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उदगमस्थान का अन्दाज लगाता हे। आप सिर्फ नदी देख रहे हॅं, उसका उदगमस्थान आपको दिखाई नही देता, फिर भी नदी देखने से उसका उदगमस्थान मानना ही पडता हे। इसी प्रकार एक भाग को देखने से

दूसरा भाग भी मानना पडता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थंकर भगवान ने अपने ज्ञान–पकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक बात का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान तीन लोक मे उद्योत करने वाले है, उन्हे मै नमस्कार करता हूँ। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान धर्म की स्थापना करते हैं, उन्हे भी मै नमस्कार करता हूँ। ऐसे अरिहन्त भगवान चौबीस है और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी है।

चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन तो बहुत से लोग करते है, किन्तु स्तवन के गुण भलीभाति समझकर स्तवन किया जाये तो सब प्रकार की शकाए निर्मूल हो जाती है। चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान ने तीर्थंकरो की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन करने से स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नही कर सकते। अर्थात् उसका दर्शन अत्यन्त निर्मल और प्रगाढ हो जाता है। दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन निरन्तर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टिगोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नही देता फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है। और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भगवान के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थंकर का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी। मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा। शास्त्र मे कहा है– **सद्धा परम दुल्लहा।**

अर्थात्–श्रद्धा बहुत दुर्लभ है।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय मे है, जो श्रद्धा जीवित होती है। जैसे मुर्दा मनुष्य किसी काम का नही समझा जाता उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम की नही होती। अगर किसी मनुष्य मे मुर्दापन आता दिखाई देता है, [illegible] दवा देकर स्वस्थ किया जाता है इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा [illegible] रहा है तो उसे भी चौबीस जिनो की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ। [illegible] श्रद्धा गुण की प्राप्ति होगी। अतएव चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति [illegible] और धीरज रखो। उदासीनता का त्याग करो।

आपने युधिष्ठिर की कथा सुनी होगी। युधिष्ठिर मे उदासीनता आ गई थी। अगर उनमे उदासीनता रह गई होती तो अर्थक्रिया की सिद्धि न हो सकती। भीष्म ने उस समय युधिष्ठिर से कहा—यह अवसर उदासीनता दूर करके अर्थक्रिया सिद्ध करने का है, अत घबराओ मत। तुमने अनेक लोगो को मारा है फिर भी घबराने की जरूरत नही हे क्योकि इस समय तुम्हारे ऊपर कार्यसिद्धि करने का उत्तरदायित्व आ पडा है। जो हार गया या मारा गया वह तो गया ही, परन्तु जो जीता है या जो जीवित हे उसके सिर गम्भीर उत्तरदायित्व आ पडा है। जो मर गये वे तो गये ही, किन्तु उनके पीछे जो लोग बचे हैं उनकी रक्षा का भार विजेता के कन्धो पर आ पडता हे। जो विजेता व्यक्ति मृत पुरुषो के पीछे रहे हुए लोगो की सार—सभाल नहीं रखता, वह पतित हो जाता है। तुम विजयी हुए हो अत बचे हुए लोगो की सार—सभाल तुम्हारे जिम्मे है। तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण भारतवर्ष का भार है। अत तुम्हारे जो शत्रु मारे गये हैं उनके पत्नी—पुत्र आदि के प्रति वैर—भाव न रखते हुए उन्हे सान्त्वना दो—शान्ति पहुचाओ, जिससे वे लोग दुर्योधन को भूल जाए।

हे युधिष्ठिर। राजा चाहे तो अपना भी कल्याण कर सकता है और दूसरो का भी कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार वही दोनो का अकल्याण भी कर सकता है। मगर अपना ओर दूसरो का कल्याण करने वाले राजा अगुलियो पर गिनने जितने ही होते हैं। अधिकाश राजा तो प्रजा को ऐसी उलटी ही शिक्षा देते हें, जिससे प्रजा निर्वल वन जाती है ओर राजा के अनुचित कार्य के विरुद्ध बोलने की हिम्मत भी नही कर सकती। जो विचारशील राजा सोचता हे कि अन्त मे मुझे भी मरण—शरण होना हे तो क्यो न में अपना ओर दूसरो का कल्याण करू, वही राजा प्रजा को अच्छी शिक्षा देगा। वह प्रजा को निर्वलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा हर्गिज न देगा।

हे युधिष्ठिर। दुर्योधन की कुशिक्षा का हमारे ऊपर ऐसा जवर्दस्त प्रभाव था कि यह वात अव हमारी समझ मे आई हे। हम उसके पापो को देखते थे जानते थे, पर हम मे इतना साहस ही नही था कि उसके विरुद्ध जीभ खोल सकते। इसका प्रधान कारण यही था कि हमे निर्वलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध जवान नही खोलना चाहिए।

आप लोग "विरूद्धरज्जाइकम्मे" पाठ का अर्थ समझते हे? अगर आप इस शव्द का यह अर्थ समझते हो कि 'राजा के विरूद्ध कुछ न करना' तो

आपको धर्म का त्याग कर देने के लिए तैयार रहना पडेगा। कल्पना करो राजा ने प्रत्येक को अनिवार्य रूप से शराब पीने का कानून बनाया अब आप राजा के बनाये इस कानून को मानेगे? अगर कहो कि राजा की ऐसी आज्ञा नही माननी चाहिए, तो जो काम शराब पीने से भी अधिक हानिकारक है, ऐसे कामो के लिए राजा के विरुद्ध कुछ न बोलने की बात कहना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है? राजा के विरूद्ध न बोलना या राजा के विरुद्ध काम न करना 'विरूद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ नही है। इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध काम नही करना चाहिए राजा के विरुद्ध काम नही करना चाहिए यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप मे कायरता आ गई है।

भीष्म कहते है–'हे युधिष्ठिर! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खीचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नही था कि हम कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते मगर हम सब टुकुर–टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खीचा जाता रहा! यद्यपि हमे उस समय उस पाप–कार्य का विरोध करना चाहिए, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके! हमारी यह कैसी कायरता थी? दुर्योधन से हमे यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ नही बोलना चाहिए। इसी शिक्षा के कारण वहा उपस्थित लोगो मे ऐसी कायरता बैठ गई थी कि सब मौन साधे बैठे रहे। सब लोग अपने–अपने मन मे सोचते थे कि अनुचित कार्य हो रहा है, मगर दुर्योधन के सामने कौन बोले हमारे लिए यह कितनी लज्जास्पद बात थी! एक कवि ने कहा है–

नीरक्षीर विवेके हस! आलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य कुलव्रत पालयिष्यति क?।।

पक्षियो के झुण्ड मे एक राजहस भी था। किसी पुरुष ने इस झुण्ड के सामने दूध और पानी का एक प्याला रखा। दूसरे पक्षियो ने उस प्याले मे चोच मारी तो राजहस ने भी चोच मारी। लेकिन जब दूसरे पक्षी चुपचाप बैठ गए तो राजहस भी चुप ही रहा। यह दृश्य देखकर कवि कहता है–"हे राजहस! दूध और पानी को अलग अलग करने के अवसर पर भी यदि तू चुप बैठा रहेगा तो तेरे कुलव्रत का पालन कौन करेगा?"

कवि की इस उक्ति पर विचार करके आपको समझना चाहिए कि यद्यपि धर्म सिर्फ मेरा ही नही–सव का है, फिर भी सब लोग धर्म करे या न करे, किन्तु मुझे तो धर्म का आचरण करने के लिए सदा तैयार रहना ही चाहिए। फारसी की एक कहावत के अनुसार मनुष्य इस कुदरत का बादशाह है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का कोई कार्य अनुचित क्यो होना चाहिए?

भीष्म कहते हैं–हे युधिष्ठिर! तुम्हारे राज्य मे इस प्रकार प्रजा को निर्बल बनाने वाली शिक्षा नही होनी चाहिए। प्रजा को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह राजा के विरुद्ध भी पुकार कर सके और राजा, प्रजा की पुकार सुनने के लिए तैयार रहे। इसी प्रकार सत्ता का दुरुपयोग नहीं वरन् सदुपयोग होना चाहिए। राज्य मे अगर इतना–सा सुधार भी न हुआ तो तुम मे ओर दुर्योधन मे क्या अन्तर रहेगा?

भीष्म के इस कथन पर आप भी विचार करो। भगवान महावीर ने जो शिक्षा दी है वह कायरता धारण करने के लिए नहीं वरन् वीरता प्रकट करने के लिए है। आप इस शिक्षा का उल्टा अर्थ करके कायरता मत आने दो। वस्तु का विपरीत उपयोग करके कायर मत वनो। किसी वीर पुरुप के हाथ मे तलवार होती ह तो वह अपनी भी रक्षा करता हे ओर दूसरो की भी रक्षा करता हे। इसके विरुद्ध कायर के हाथ की तलवार उसकी स्वय हानि करती हे ओर वह तलवार का भी अपमान करता हे। तुम्हे वीरधर्म मिला हे। इस वीरधर्म का अर्थ उल्टा करके कायरता मत धारण करो। सदेव इस वात का ध्यान रखो कि वीरधर्म का दुरुपयोग न होने पाये।

दसवां बोल

वन्दना

प्रश्न 10–वदणएण भते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर 10–वदणएण नीयागोय कम्म खवेइ, उच्चागोय कम्म निबधइ, सोहग्ग च ण अप्पडिहय आणाफल णिवत्तेइ, दाहिणभाव च ण जणयइ।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बध करता है सुभग, सुस्वर आदि का बन्ध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते है और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है।

व्याख्यान

चोवीस तीर्थकरो की प्रार्थना करने के सम्बन्ध मे पहले विवेचन किया जा चुका है। जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है उन तीर्थकरो भगवान को वन्दना–नमस्कार भी करना ही चाहिए। अत यहा वन्दना के विषय मे कहा जायेगा। कदाचित् कोई तीर्थकरो की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते हैं। अत शास्त्र मे वन्दना के [illegible] विषय मे प्रश्न किया गया है।

वदि धातु से वन्दना शब्द बना है। वन्दन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वदना कब करनी चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करनी चाहिए अर्थात् [illegible] आवश्यक है तत्पश्चात चोवीस जिनस्तवन आवश्यक है और [illegible] वन्दना आवश्यक है। वदना करने की भी विधि है। वन्दना किस

प्रकार करनी चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने बहुत प्रकाश डाला है। आज तो वन्दन करने की विधि मे भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनो से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल मे विधिपूर्वक ही वन्दना की जाती थी और इसी कारण वन्दना के फल के सम्बन्ध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वदना के 25 आवश्यक बतलाये गये हैं। वह पच्चीस आवश्यक कहा हैं, इस विषय मे कहा है–

दुयो णय अहाजायं कीयकम्मं बारसावस्सयं होई।
चउ सीर तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमण।।

वदना के पच्चीस आवश्यको का निरूपण इस प्रकार किया गया है–दो बार नमन कीर्तिकर्म अर्थात् वदना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, बारह आवर्त्तन आवश्यक,चार मस्तक–नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो बार गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना आवश्यक और एक बार गुरु के अभिग्रह मे से निकलना आवश्यक। इन पच्चीस आवश्यको के होने पर ही वदना पूर्ण होती है।

यहा यह देखना है कि पच्चीस आवश्यको का अर्थ क्या है? साध्वी या अन्य स्त्री गुरू से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढे तीन हाथ दूर रहे, यह गुरु का अभिग्रह क्षेत्र है अगर स्थान का सकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढे तीन हाथ की और साध्वी नीची दृष्टि करके हाथ मे ओधा और मुख पर मुखवस्त्रिका, सहित गुरु को नमस्कार करते हुए "खमासणा" का यह पाठ बोलते हें–

इच्छामि खमासमणो वदिउ।

अर्थात्–हे क्षमाश्रमण! मे आपको वदन करने की इच्छा करता हू।

कहा जा सकता है कि जब वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह हे कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है। अभिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल ओर भाव की अपेक्षा चार भेद है। इन सब का यहा वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र–अभिग्रह मे प्रवेश करना हे, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने मे उद्दडता होना उचित नही है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र–अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती हे। अगर आचार्य अभिग्रह मे प्रवेश करने

कहेगे। अगर वे अभिग्रह मे पवेश करने की स्वीकृति नही देना चाहते होगे तो तिविहेण कहने का तात्पर्य यह है कि वही से मन, वचन, और काय से नमस्कार कर लो।

अगर आचार्य 'छदेण' कह कर अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति दे तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण के समय के समान नमता धारण करके, हाथ मे ओघा रखकर और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित अभिग्रह मे 'निस्सही निस्सही' (अर्थात् मैं मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हू) कहते हुए गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना चाहिए और फिर गुरु के चरणो मे निकट पहुच कर बारह प्रकार का आवर्त्तन करना चाहिए। आवर्त्तन करते समय 'अहो काय काय सफासिय' ऐसा बोलते जाना चाहिए। 'अहोकाय काय' इसमे छह अक्षर हैं। इन छह अक्षरो मे दो–दो अक्षरो का एक–एक आवर्त्तन होता है। इस प्रकार 'अहोकाय काय' इन छह अक्षरो के तीन आवर्त्तन हुए। 'अहोकाय काय' ऐसा बोलते हुए आवर्त्तन करना चाहिए और 'सफासिय' शब्द का उच्चारण करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरण स्पर्श करना चाहिए।

'अहोकाय कायसफासिय' का अर्थ है–हे गुरु महाराज! आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मै अपनी ऊची काया अर्थात् मस्तक से स्पर्श करता हू।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात् इस प्रकार कहना चाहिए–

'खमणिज्जो भे! किलामो अप्पकिलताण बहु सुभेण मे दिवसो वइक्कतो।'

अर्थात्–हे पूज्य! अपनी ऊची काया द्वारा आपकी नीची काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो, मेरा वही अपराध क्षमा कीजिए।

पर क्यो नही ध्यान दिया जाता होगा? मगर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनसे चरणो का स्पर्श ही न किया जाये। एक कौडी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पडने पर भी खर्च न करना कृपणता है। इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है। मगर उन्हे कष्ट होने के विचार से चरणो का स्पर्श ही न करना अनुचित है। गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणो का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने मे किसी अश मे, गुरु को कष्ट पहुच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि–हे गुरु! आपके चरणो का स्पर्श करने मे आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए। आप क्षमासागर है, अत मेरा अपराध भी क्षमा करे।

'अहोकाय कायसफासिय' इन शब्दो का ह्रस्व–दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोडकर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए–

बहुसुभेणं भे! दिवसो वइकन्तो? जत्ता भे! जवणिज्जं च भे!

इस पाठ मे देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या सवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है–हे गुरु! दिवस, रात्रि, पक्खी चौमाया या सवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ?

इस प्रकार गुरु से कुशल–प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, जवणि कहकर दूसरा और 'ज्ज च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनो के समय उच्चारण किये हुए अक्षरो मे से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि–गुरु महाराज! मूल गुण ओर उत्तर गुण रूपी आपकी सयम यात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न? 'जवणिज्ज' का अर्थ यह हे कि आप इन्द्रियो और मन का दमन तो बराबर करते हैं न? 'ज्ज च भे' का आशय यह हे कि 'हे गुरु! आपकी सयमयात्रा आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हूँ।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या हे? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए? इन प्रश्नो का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा किसलिए करते हे? वर–कन्या जव तक अग्नि की प्रदक्षिणा नही करते तव तक वे कुवारे समझे जाते हे। अग्नि

की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला पाणो का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भग नही करती। स्त्रिया अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती है तो क्या पुरुषो को मर्यादा का पालन नही करना चाहिए।

जैसे पति–पत्नी अग्नि की प्रदक्षिण करके एक–दूसरे के धर्म को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरतापूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वही शिष्य यदि गुरु के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक है। इस प्रकार यहा तक पन्द्रह आवश्यक हुए। चार बार मस्तक नमाने के चार आवश्यक प्रवेश करते समय के ओर एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलकर पच्चीस आवश्यक होते है।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन वचन, और काय को एकाग्र करके गुरु को वन्दना करनी चाहिये। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिये कि अनेक जन्म–जन्मान्तर मे भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है उसकी सार्थकता गुरु को वन्दन करने से ही हो सकती है। अतएव मन को खराब कामो मे नही पिरोना चाहिये। मान लीजिए, किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा? अगर नही तो जो मन अनके जन्म–जन्मान्तरो के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामो मे पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है? अनेक विध कठिनाइया झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वन्दना की जाये तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है। जिस वन्दना का फल यहाँ तब बतलाया गया है कि क्या हुआ नीच गोत्र कर्म भी वन्दना से क्षीण हो जाता हे और [illegible] गोत्र का बध होता है उस वन्दना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ [illegible] समय होगा? [illegible] लोग सत्कार्य मे मन एकाग्र नही करते ओर [illegible] है।

[illegible] करना ही मन की गुप्ति ह फिर वचन से वहु–मानतापूर्वक [illegible] हुए गुरु को वन्दना करना कायगुप्ति ह।

[illegible] हुए। इन आवश्यको की रक्षा करके आर [illegible] गुरु को वन्दना की जाती है वही सच्ची

आज वदना की यह विधि कदाचित ही दिखाई देती है, अतएव वदनाविधि जानने का और विधिपूर्वक वन्दना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोडी भी वन्दना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगो ने विधिपूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त की है वे सख्या मे थोडे होने पर भी विधि पूर्वक युद्ध करके विजयी होते हैं और अशिक्षित योद्धा बहुसख्यक होने पर भी हार जाते हैं। इसी प्रकार विधिरहित बहुत वन्दना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल के लोग विधिपूर्वक ही वन्दना करते थे। आप लोग वदना की विधि सीखकर, विधिपूर्वक वन्दना करेगे तो आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वन्दना करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वन्दना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र का बध करता है।

भगवान ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय मे यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र कर्म क्या है? आजकल नीचगोत्र ओर उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने मे भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम मे पड गये हैं। वीरमगाव मे मुझसे प्रश्न किया गया था कि शास्त्र मे उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है? मैंने कहा—हा, शास्त्र मे दोनो का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा ओर नीच गोत्र नीच होगा? उत्तर मे मैंने कहा—तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र मे कही ऐसा आया हो तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नही चाहिए! इसके अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वही नीचगोत्र ही बना रहता है, यह केसे कहा जा सकता है? नीचगोत्र वाला उच्चगोत्र भी बन सकता है।

गोत्र का अर्थ कहते हुए कहा गया हे—

गा वाणी त्रायते रक्षते इति गोत्र ।

'गो' शव्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहा 'गो' शव्द का अर्थ वाणी हे और 'त्र' का अर्थ पालन करना हे। इस प्रकार गोत्र का अर्थ 'वाणी का पालन करना' होता ह। इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री हे ओर नीच पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है।

कहा जाता है कि नीचगोत्र वाले को मुक्ति नही मिल सकती लेकिन यह ध्यान मे रखना चाहिए कि नीचगोत्र कर्म क्षय भी हो जाता है और तब वही मुक्ति का अधिकारी क्यो न होगा? नीचगोत्र मे उत्पन्न होकर के भी उच्च पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है। गोत्र दो प्रकार का है–एक जन्मजात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र। जन्मजात गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है–

सोवागकुल सभूओ, गुणुत्तर धरो मुणी।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खु जिइदिओ।।

–उत्तराध्ययन, 12,1

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हो करके भी नीच–वाणी को पालने वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत मे भी कहा है कि ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भी चाडाल बन सकता है। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नही किन्तु कर्मजात भी है।

वदना का फल बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि वन्दना से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्चगोत्र का बध होता है। परन्तु इस बात का प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि वन्दना पूर्ण हो सके। जब मै आप लोगो को यह विषय सुनाता हूँ तब यह भी विचार करता हूँ कि कही मै ऐसा न रह जाऊ कि चम्मच दूसरो की थाली मे तो परोस देती है लेकिन स्वय कुछ भी स्वाद नही लेती। मै कोरा न रह जाऊ, अत अपनी आत्मा से यही कहता हू कि हे आत्मन् ! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके। अगर मुझसे पूर्ण नियमो का पालन होता हो तो मुझे और क्या चाहिए? मगर मैं अपने सम्बन्ध मे ऐसा अनुभव करता हू कि मुझसे अभी तक सम्पूर्ण आदर्श नियमो का पालन नही होता। अतएव मै अपनी आत्मा को यही कहता हू कि हे आत्मन्! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके।

अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता देखने का प्रयत्न करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

अहकार को जीतना वन्दना का एक प्रधान प्रयोजन हे। वन्दना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है। नम्रभाव धारण करने वाला ही अहकार को जीत सकता है परन्तु वन्दना सासारिक पदार्थों की स्वार्थभावना से नहीं होनी चाहिए। सासारिक पदार्थों की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते हैं। क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नही करता? बचपन मे मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन करते हैं। मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गाठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है। इस प्रकार स्वार्थ सिद्धि के लिए तो वदना की ही जाती है किन्तु यहा जिस वदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नही होनी चाहिए। वह गुणो की वन्दना होनी चाहिए। गुण देखकर उन्हे प्राप्त करने के लिए की जाने वाली वदना ही सच्ची वदना है। इसी प्रकार की वन्दना से अहकार पर विजय प्राप्त की जा सकती और परमात्मा से भेट हो सकती है।

आज वन्दना करने मे भी पक्षपात किया जाता है। अर्थात् यह कहा जाता हे कि वे हमारे है अतएव उन्हे मैं वदना करता हू और अमुक मेरे नही हैं, अत मैं उन्हे वन्दना नही करता। वन्दना करने मे भी इस प्रकार का पक्षपात चलाया जाता है। छद्मस्थ पक्षपात से सर्वथा मुक्त नही हो सकता, लेकिन वह पक्षपात तेरे–मेरे का नही होना चाहिए, वरन् पक्षपात गुणो के प्रति होना चाहिए ओर यह देखना चाहिए कि उनमे वन्दना करने योग्य गुण हे या नही।

शास्त्रो का कथन हे कि तुम उन्ही को वन्दना करो, जिनमे सयम आदि गुण हें, जिनमे यह गुण नही हे, उन पासत्था आदि को शास्त्र मे वदना न करने का विधान किया हे। शास्त्र को पासत्था कुशल या स्वछन्दचारी लोगो के प्रति द्वेष नही हे, किन्तु शास्त्र ने उन्हे वन्दना करने वालो को भी यह सूचना कर दी हे कि पासत्थ आदि को वन्दना करना उन्हे ओर अधिक पतित करने के समान हे। अगर आप उन्हे वन्दना करेगे तो वे विचार करेगे–'लोग हमे वन्दना तो करते ही हे, फिर यदि सयम का पालन न किया तो भी क्या हर्ज हे?' इस प्रकार विचार कर वे लोग अधिक पतित हो जाते हें। अत ऐसे लोगो को वन्दना करना उन्हे अधिक पतित करने के समान हे। वदना गुणो के लिए ही की जाती हे अत जिनमे सयमादि गुण हो उन्ही को

वन्दना करना उचित है। जिन्होने सयमादि गुणो को स्वीकार तो किया है, किन्तु जो उन्हे अपने जीवन मे उतारते नही हैं, उन पासत्थ आदि को वन्दना करना अपने को और उनको पतित करने के समान है। सबोधसत्तरी मे कहा है–

पासत्थ वदगाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
होई कायकिलेसो अण्णाण बंधई कम्म।।

अर्थात्– जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणो को धारण तो करता है परन्तु उनका निर्वाह नही करता उसे पासत्था कहते है। ऐसे (पार्श्वस्थ) लोगो को और इसी कोटि के कुशील और स्वच्छदी लोगो को वदना करना अनुचित है। कतिपय लोगो का कहना है कि हमे किसी के प्रति राग–द्वेष नही रखना चाहिये और सभी की वन्दना करनी चाहिए। मगर यह कथन ठीक नही है। राग–द्वेष नही होगा तो वन्दना किये बिना ही मुक्ति मिल जायेगी अगर कोई वन्दना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वन्दना कर रहा है? राजपुरुष आदि को जो वन्दना की जाती है वह उसकी सत्ता के कारण की जाती है, लेकिन वदना करने योग्य गुणो से रहित पासत्था आदि को वन्दना करने का उद्देश्य क्या है? यहा जिस वन्दना का प्रकरण चल रहा है वह वन्दना सयमादि गुणो से हीन पुरुषो को करना उचित नही है कि पासत्था को वन्दना करने से कीर्ति भी नही मिलती। कहा जा सकता है कि कीर्ति न मिले तो न सही निर्जरा तो होगी। मगर आगे इसी गाथा मे कहा है पासत्था आदि को वन्दना करने से निर्जरा भी नही होती। कोई कह सकता है– निर्जरा न हो तो न सही वन्दना करने मे हानि क्या है? इसके उत्तर मे कहा है–पासत्था आदि को वन्दना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है। कदाचित् कहा जाये कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नही होती? इस प्रश्न के उत्तर मे गाथा मे बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नही होता वरन् अनाज्ञाकर्म का [illegible] भी होता है अर्थात् भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप [illegible] है।

धारण नही करते किन्तु साथ ही गुणीजनो के प्रति की जाने योग्य वदना भी नही करते। निशीथसूत्र मे भी कहा है–

जे भिक्खू पासत्थ वदइ, वंदंत वा साइज्जइ।
एव कुसीलं उसन्नं, अहाछंद संसत्तं।।

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वदना करने का बहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वन्दना करने से बहुत लाभ होते हैं, मगर गुणरहित को वदना करने से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। वदना के जो बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, उनके वर्णन करने का अभी समय नही है। अतएव सक्षेप मे मैं इतना ही कहता हू कि पच्चीस आवश्यक सहित और बत्तीस दोषरहित वदना करने का फल नीचगोत्र का क्षय करना और उच्चगोत्र बाधना है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुष की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी–किसी कुल मे अमुक प्रसगो पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच सस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल मे ऐसी पद्धति होती है कि अमुक प्रसग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ की वाणी का आचरण है। इस प्रकार जो जैसो की वाणी का पालन करता है, उसके कुल मे सस्कार भी प्राय वैसे ही बन जाते हैं ओर उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते है। उच्चगोत्र वालो के कुल के सस्कार से आत्मा उन्नत बनता है, अवनत नही बनता। किसी कुल के सस्कार ऐसे भी होते है कि उनकी बदोलत उन्हे अच्छी बात रुचिकर नही होती ओर पाप–कृत्यो के प्रति घृणा नही होती। किसी कुल के सस्कार ऐसे होते हे कि चाहे जो हो पर उस कुल मे जन्मने वाले पापकार्यो मे प्रवृत्त नही होते। उदाहरणार्थ–तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयो की थेली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तेयार नही होओगे। यह उच्चगोत्र और कुल के सत्सस्कारो का ही प्रभाव हे। कभी–कभी उच्चगोत्र वालो मे भी कोई बुरी वात घुस जाती हे। जेसे तुम लोगो को वकरा मारने मे जेसी घृणा है, वेसी घृणा क्या असत्य भाषण ओर व्यभिचार के प्रति भी हे?

प्राचीनकाल मे व्यभिचार, हिसा से भी अधिक बुरा माना जाता था। मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नही देखी जाती। पुराने जमाने मे व्यभिचार हिसा से भी बुरा समझा जाता था, इसका प्रमाण यह हे कि

धारण नही करते किन्तु साथ ही गुणीजनो के प्रति की जाने योग्य वदना भी नही करते। निशीथसूत्र मे भी कहा हे–

जे भिक्खू पासत्थं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ।
एव कुसील उसन्नं, अहाछंदं ससत्तं।।

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वदना करने का बहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक हे कि वन्दना करने से बहुत लाभ होते हैं, मगर गुणरहित को वदना करने से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती हे। वदना के जो बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, उनके वर्णन करने का अभी समय नही है। अतएव सक्षेप मे में इतना ही कहता हू कि पच्चीस आवश्यक सहित ओर बत्तीस दोषरहित वदना करने का फल नीचगोत्र का क्षय करना ओर उच्चगोत्र बाधना है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी हे। श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है ओर नीच पुरुष की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी–किसी कुल मे अमुक प्रसगो पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच सस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल मे ऐसी पद्धति होती हे कि अमुक प्रसग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ की वाणी का आचरण है। इस प्रकार जो जैसो की वाणी का पालन करता हे, उसके कुल मे सस्कार भी प्राय वैसे ही बन जाते हैं ओर उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते हे। उच्चगोत्र वालो के कुल के सस्कार से आत्मा उन्नत बनता हे, अवनत नही बनता। किसी कुल के सस्कार ऐसे भी होते हे कि उनकी बदोलत उन्हे अच्छी बात रुचिकर नही होती ओर पाप–कृत्यो के प्रति घृणा नही होती। किसी कुल के सस्कार ऐसे होते है कि चाहे जो हो पर उस कुल मे जन्मने वाले पापकार्यों मे प्रवृत्त नही होते। उदाहरणार्थ–तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयो की थेली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तेयार नही होओगे। यह उच्चगोत्र ओर कुल के सत्सस्कारो का ही प्रभाव हे। कभी–कभी उच्चगोत्र वालो मे भी कोई बुरी बात घुस जाती है। जेसे तुम लोगो को बकरा मारने मे जेसी घृणा हे, वेसी घृणा क्या असत्य भाषण ओर व्यभिचार के प्रति भी हे?

प्राचीनकाल मे व्यभिचार, हिसा से भी अधिक बुरा माना जाता था। मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नही देखी जाती। पुराने जमाने मे व्यभिचार हिसा से भी बुरा समझा जाता था, इसका प्रमाण यह हे कि

कर नमस्कार करू, यह बात जुदी है, किन्तु लोभ के वश होकर तो कदापि नमस्कार नही करूँगा। ऐसा करने से मेरी माता को ही कलक लगता है।' राणा प्रताप मे ऐसी दृढता थी। इसी दृढता के कारण उन्हे जगल मे इधर–उधर भटकना पडा और सकटो मे रहना पडा। राणा ने अपना कुलधर्म निभाने के लिए सभी कष्ट सहना स्वीकार किया किन्तु बादशाह के आगे नतमस्तक होना स्वीकार नही किया।

धर्ममार्ग मे भी इसी प्रकार दृढता धारण की जाये और सयम आदि गुणो के धारको को विधिपूर्वक वदना की जाये तो भगवान द्वारा प्ररूपित वदना का फल अवश्य प्राप्त होता है। मगर दृढता धारण किये बिना फल की प्राप्ति नही होती। कामदेव और अरणक को पिशाच ने कैसे–कैसे कष्ट दिये थे, फिर भी उन्होने पिशाच के सामने सिर नही झुकाया। यह धर्म दृढता का ही परिणाम है। धर्म मे दृढता रखने वाले के चरणो मे देवता आकर नमन करते है। पहले देव ने कामदेव को कष्ट दिये थे किन्तु अन्त मे देव को ही दृढधर्मी कामदेव के आगे झुकना पडा था। आप भी ऐसी ही धर्मदृढता धारण करे। ढीले बने रहने से काम नही चलता। धर्म मे अटल श्रद्धा और दृढता धारण करने से ही कल्याण हो सकता है।

मन, वचन और काय की शुद्धि किस प्रकार की जा सकती हे, यह बताने के लिए वन्दना का प्रकरण चल रहा है। वन्दना के प्रताप से आत्मा के अनेक विकार दूर हो जाते है और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन ओर काय की शुद्धि होती है ओर आत्मा को शाति प्राप्त होती हे। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशाति प्राप्त करना चाहते हे ओर सुभागी बनना चाहते हे तो गुरु को विधिपूर्वक वदना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणो का ही प्रताप है। व्यवहार मे तो कहते ही हे कि यह सब गुरुचरणो का प्रताप हे लेकिन हृदय मे भी यही कहो ओर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप मे ही कहते हे–आदेश रूप मे नही। फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ सयोग मिला हे, वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला हे। यह बात ध्यान मे रखकर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शाति प्राप्त होगी ओर आत्मकल्याण होगा।

ग्यारहवां बोल

प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिए मगर कभी–कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते है और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते है। इन अशुद्ध भावो को बाहर निकालने और आत्मा मे पुन शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के सम्बन्ध मे भगवान से प्रश्न किया गया है–

प्रश्न 11–पडिक्कमणेण भते। जीवे कि जणयइ?

उत्तर 11–पडिक्कमणेण वयच्छिद्दाणि पिहेइ, पिहिय वयच्छिद्दे पुण जीवे णिरूद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयण मायासु उवउत्ते उपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ।।11।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–प्रतिक्रमण करने से अहिसा आदि व्रतो के अतिचार (दोष) रुकते है और अतिचारो को रोकने वाला जीव आस्रव को रोकता हुआ तथा निर्मल चारित्र का पालन करता हुआ आठ प्रवचनमाता (पाच समिति और तीन गुप्ति) रूप सयम मे उपयुक्त, अप्रमत्त और सुप्रणिहित होकर विचरता है अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

व्याख्यान

प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने सक्षेप मे कहा है–प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। और प्रतिक्रमण

करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे अभी ऊहापोह न करते हुए सिर्फ इतना कहता हू कि भगवान की आज्ञा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के साधुओ को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधु ऋजु–सरल होते हैं। अतएव जब उन्हे दोष लगता हे तब वे प्रतिक्रमण करते है और जब दोष नही लगता तो प्रतिक्रमण नही करते। मगर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के साधुओ को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

अब विचार करना चाहिए कि प्रतिक्रमण का अर्थ क्या हे? दूसरे लोग जिस प्रकार सध्या–वदन आदि करते हैं, वही स्थान जेनदर्शन मे प्रतिक्रमण का है। परन्तु सध्यावदन ओर प्रतिक्रमण मे भेद है। प्रतिक्रमण का स्वरूप ओर उसका उद्देश्य बतलाते हुए कहा हे–

स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गत,
तत्रैव क्रमणं भूय· प्रतिक्रमणमुच्यते।।
क्षायोप शमिकाद् भावादोदयिकस्य वशंगत ।
तत्रापि च स एवार्थ· प्रतिकूलं गमात्स्मृत·।।

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता हे। जो आत्मा स्व–स्थान का त्याग करके, प्रमाद के वश होकर परस्थान विभाव मे चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान मे लाना प्रतिक्रमण हे। जेसे कोई बालक अपना घर छोडकर दूसरे के घर चला जाये तो उसे वापस अपने घर लाया जाता हे। इसी प्रकार आत्मा जब अपन स्थान स्वभाव से, दूसरे स्थान पर चली गयी हो तो उसको प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर स्वभाव मे लाया जाता हे।

घर मे से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लोटा लाने का प्रयत्न सारा ससार करता हे। आप लोग तिजोरी मे से रुपया निकाल देते ह किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता हे कि निकाला हुआ रुपया ब्याज सहित लोटकर आये। रुपया लोटकर आयेगा, इस आशा से आप उसे छोड नही देते। जिस रुपया की आशा छोड दी जाती हे, वह जुआ म लगाया हुआ समझा जाता हे। जिसमे लगाया रुपया लोटकर नही आता वह जुआ हे व्यापार नही। व्यापार तो वही माना जाता हे जिसम लगाया रुपया ब्याज क साथ वापस लोटता हे। इस प्रकार सभी लोग यह चाहते ह कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहा से गई हे, वह वापस लोट आये। सारा ससार इसी प्रयत्न म

परस्थान चली गयी आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्वस्थान पर लायी जाती है। प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्वस्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते हैं। आत्मा के भाव क्षायोपशमिक औपशमिक और क्षायिक है। इन भावो से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव मे जाना स्वस्थान से परस्थान जाना है। इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान मे लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा को इन्द्रिया की प्राप्ति क्षायोपशमभाव के प्रताप से ही हुई है किन्तु क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त इन्द्रिया को आत्मा उदयभाव मे ले आने के लिए तैयार हो जाता है। आत्मा को इस प्रकार न करने का उपदेश देने वाले लोग बहुत ही कम है फिर भी ऐसा उपदेश देने वालो के उपदेश को आत्मा बहुत कम सुनती है ओर नाच–गान वगैरह देखने तथा सुनने मे आनन्द मानती हैं। ऐसे समय आत्मा को विचारना चाहिए कि मुझे जो इन्द्रिया मिली है वे औदयिक भाव से नही अपितु क्षायोपशमिक भाव से मिली है। ऐसी स्थिति मे मैं उन्हे उदयभाव मे डालकर स्वय भी उदयभाव मे क्यो पडा हू?

हिरन को क्या उपदेश दिया जा सकता है? उसे बचाने का प्रयत्न करने से तो वह ओर भागता है, लेकिन बाजे की आवाज सुनकर वह मस्त बन जाता है और पास आ जाता है। मृग नही जानता कि इस राग के पीछे बाण है। इसी प्रकार आत्मा भी विषयो मे फसा है और वह इतना विचार नही करता कि इन विषयो के पीछे मोह का कैसा तीखा बाण है। इस बात का विचार करके उदयभाव मे गये हुए आत्मा को उदयभाव मे से फिर स्वस्थान मे अर्थात् क्षायोपशमिक आदि भावो मे लाना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा किस प्रकार विषयादि मे पड रहा है और किस प्रकार क्षयोपशमभाव से प्राप्त इन्द्रियो को उदयभाव मे डाल रहा है, इस बात को समझने के लिए यह देखना चाहिए कि हीरा की कान्ति बडी है या आख की ज्योति बडी है? न मालूम कितने क्षयोपशमभाव से आत्मा को आखे मिली है। परन्तु इस तरह महा कष्ट से प्राप्त आखे आत्मा को किस प्रकार उदयभाव मे डाल देती है। इस के लिए रावण और मणिरथ के उदाहरण आपके सामने है। रावण ओर मणिरथ की आखो ने ही उन्हे भ्रम मे डाला था। यह तो बडे आदमियो के उदाहरण हैं। छोटो की तो कोई गिनती ही नही है। इन उदाहरणो को सामने रखकर हम विचार कर सकते है कि रावण और मणिरथ की भाति ही अनेक लोग आख के कारण भ्रम मे पड जाते होगे अतएव इस

बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आखो को ऐसी जगह दृष्टिपात ही न करने दिया जाये, जो उदयभाव की हो।

क्षयोपशमिकभाव से प्राप्त नेत्र अगर ओदयिकभाव मे जाते हैं तो इसके लिए किसे उपालम्भ दिया जा सकता हे? आखो की वदोलत पतग दीपक पर पडकर भस्म हो जाता हे। पतग को इतना ज्ञान नही हे, इस कारण वह दीपक से प्रेम करता है, मगर तुम तो ज्ञानवान् हो? पतगे को नेत्र मिले है, मगर वह नही जानता कि नेत्रो का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। मगर तुम्हारे नेत्रो के पीछे तो महान शक्ति विद्यमान है, जो बतला सकती हे कि नेत्रो का उपयोग किस प्रकार किया जाये? पतग चार इन्द्रियो वाला प्राणी है, मगर तुम्हारे पाचो इन्द्रिया हैं। पचेन्द्रियो मे भी तुम सज्ञी पचेन्द्रिय हो। सज्ञी पचेन्द्रियो मे मनुष्य–जन्म, आर्यक्षेत्र ओर श्रावककुल मे तुम्हे जन्म मिला है। अतएव तुम्हे इस बात का भान होना ही चाहिए कि नेत्रो का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय? इतना होने पर भी तुम्हारे नेत्र कहा–कहा भटक रहे हैं। नेत्रो की चचलता के लिए सिर्फ नेत्रो को उपालम्भ देकर न रह जाओ, वरन् उस चचलता को हटाने के लिए के लिए हृदयपूर्वक प्रतिक्रमण करो ओर जिस भाव से नेत्रो की प्राप्ति हुई है, उन्हे उसी भाव मे रहने दो। तुम प्रतिक्रमण तो करते होओगे मगर वह केवल व्यवहार साधने के लिए ही न रह जाये, इस बात की सावचेती रखो। अगर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करोगे तो उससे अवश्य ही अपूर्व लाभ होगा।

यह हुई चक्षु की बात। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रिया भी क्षयोपशमभाव से ही प्राप्त हुई हें। इनके अतिरिक्त तुम्हे मन भी प्राप्त हे ओर बुद्धि भी प्राप्त हे। इन सब इन्द्रियो का, मन का ओर बुद्धि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक हे। व्यवहार मे नाक के विषय मे आप यह विचार अवश्य रखते होगे कि अमुक काम करने से हमारा नाक कट जायेगा, परन्तु ज्ञानीजनो का कथन हे कि व्यवहार के ही समान निश्चय मे भी इसी बात का विचार रखो कि नाक कटाने के समान खराब कार्य न हो। मानव–सुलभ दुर्वलता के वशीभूत होकर कदाचित् असत्यकार्य कर बेठे तो उनके लिए पश्चात्ताप करके प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए ओर इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा परस्थान मे गये हुए आत्मा को स्वस्थान पर लाना चाहिए।

सुगधित ओर स्वादिष्ट वस्तु तुम्हे अच्छी लगती हे। मगर किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले यह देख लेना आवश्यक हे कि वह वस्तु

शरीर को टिकाये रखने के लिए आवश्यक है या केवल जिह्वालोलुपता का पोषण करने के लिए ही उसका उपयोग किया जा रहा है? जो पदार्थ देखने मे और स्वाद मे प्रिय लगते हैं, उनका उपयोग तो आप करते हैं, मगर यदि पदार्थ के गुण–अवगुण का विचार करके उसका उपयोग किया जाये तो दवा लेने की आवश्यकता ही न रहे। लेकिन लोग पदार्थ के गुणो का विचार नही करते और कहने लगते है कि हमारे घर मे दवा है। उस पदार्थ ने हानि पहुचाई तो दवा लेकर अच्छे हो जाएगे। इस प्रकार दवा पर निर्भर रहकर लोग वस्तु के गुणो पर विचार नही करते। जो लोग गुणो पर विचार करते है वे पाप से भी बच सकते हैं और रोग से भी बच सकते हैं।

किसी भी वस्तु को केवल स्वाद की दृष्टि से ही मत अपनाओ, उसके गुणो और दोषो का विचार करना आवश्यक है। मछली को काटे मे लगा मास अच्छा लगता है, परन्तु वास्तव मे वह मास उसके खाने की वस्तु है या उसकी मृत्यु का उपाय है? आप मछली को उपदेश देने के लिए तैयार हो सकते हैं मगर मछली मे उपदेश ग्रहण करने की शक्ति ही नही है। लेकिन जरा अपनी ओर देखो। आप जानते–बूझते मछली जैसा, सोचे–समझे बिना काम कर बैठते हैं और स्वाद के वश होकर ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हैं, जिनसे इहलोक और परलोक दोनो बिगडते हैं।

आप मे से अधिकाश लोग चाय पीते है। चाय पीने से होने वाली हानियो को जानते हुए भी आप चाय को प्रिय वस्तु मानते है और उसका त्याग नही कर सकते। इतना ही नही चाय द्वारा आज कल सत्कार किया जाता है और कदाचित् कोई उस सत्कार को स्वीकार न करे तो सत्कारकर्त्ता अपना अपमान मानता है। इस प्रकार के अनेक हानिकर खान–पान अपना लिये गये हैं।

चाय किसी दूसरे देश मे लाभकारक भले ही हो किन्तु भारत जैसे गर्म देश मे चाय जैसी गर्म वस्तु पेट मे डालना, जानबूझकर स्वास्थ्य को हानि पहुचाने के समान और रोग को आमन्त्रित करने के समान है। इस प्रकार अनेक हानिया उत्पन्न करने वाली चाय जीभ की लोलुपता को पुष्ट करने के लिए पी जाती है या और किसी प्रयोजन से? चाय की ही भाति बीडी–सिगरेट आदि हानिकारक पदार्थ भी जीभ के स्वाद के लिए ही काम मे लाये जाते हैं। न जाने बीडी–सिगरेट मे ऐसा क्या स्वाद है कि पीने वाले उनका पिड नही छोडते। पेट मे घुसने वाला धुआ क्या स्वाद देता है? यद्यपि बीडी–सिगरेट मे कोई सुस्वाद नही है फिर भी छोटे–छोटे बालक तक बीडी पीते हैं। उन बालको को किसी

न किसी रूप मे बडे–बूढे ही बीडी पीना सिखलाते हैं। बडे–बूढे जिस बीडी को पीकर फैंक देते हैं, उसी को बालक उठा लेते हैं और पीने लगते हैं। धीरे–धीरे वह पीना सीख लेते हैं।

इस प्रकार केवल शौक के लिए हानिकारक वस्तुओ का उपयोग किया जाता है, जिससे इहलोक की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। प्राचीनकाल मे इस प्रकार के पाप नहीं होते थे, अत सीधा कदमूल और रात्रि भोजन–त्याग वगैरह का उपदेश दिया जाता था। लेकिन आजकल तो बहुतेरे नवीन पाप उत्पन्न हो गये है। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय है कि पहले किस पाप का त्याग करना चाहिए? कल्पना करो कि एक मनुष्य बीडी पीता है और दूसरा आदमी कदमूल का शाक (सब्जी) खाता है। यद्यपि दोनो वस्तुए त्याज्य हैं और दोनो का ही त्याग करना उचित है किन्तु पहले किस वस्तु का त्याग कराना उचित कहा जा सकता है? मेरे विचार से बीडी पीना अनर्थदण्ड का पाप है। इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव से मिली हुई रसनेन्द्रिय को धूम्रपान द्वारा औदयिक भाव मे लाया जाता है। ऐसा करने वाले लोग स्वय पापात्मा बनते हैं और दूसरो को भी पापात्मा बनाते हैं।

स्पर्शेद्रय का भी इसी प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा हे। क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त स्पर्शेन्द्रिय को किस प्रकार उदयभाव मे लाया जाता है, इस पर विचार किया जाय तो पता चले! जब कोई वस्तु पहले–पहले सामने आती है तो वह खराब लगती है, लेकिन बार–बार के उपयोग से वह अच्छी लगने लगती हे। अगर किसी वस्तु को देखकर पहले ही उसका उपयोग न किया जाये तो उससे बचाव हो सकता हे, मगर उपयोग करने के बाद फिर उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता हे। उदाहरणार्थ–चर्बी के वस्त्र यदि पहले से ही न पहने जाए तो उनसे बचना कठिन नही हे, मगर वस्त्रो का उपयोग करने के पश्चात्, आदत हो जाने पर, त्याग करने म कठिनाई मालूम पडती है। चर्बी के इन वस्त्रो के पहनने से केसा ओर कितना पाप हो रहा हे, इस बात का विचार अगर प्रतिक्रमण करते समय किया जाये तो इन वस्त्रो का त्याग करने की इच्छा हुए बिना नही रह सकती।

कहने का आशय यह हे कि उदयभाव मे प्राप्त इन्द्रियो को ओर मन को उदयभाव के कार्य से विलग करके आत्मा को गुणो म स्थापित करना प्रतिक्रमण हे। आप प्रत्येक वस्तु के विषय मे प्रतिक्रमण पूर्वक विचार कर कि–'में जिन–जिन पदार्थो का इन्द्रियो द्वारा उपयाग करता हू, वे पदार्थ वास्तव मे मेरे लिए हानिकारक ह या लाभदायक ह?' प्रत्येक पदार्थ का

उपयोग करते समय इस प्रकार का विवेक करने की आवश्यकता है। पेट को 'लेटर-बाक्स' बनाना उचित नही है अर्थात् जैसे लेटरबाक्स का मुह हमेशा चिट्ठी डालने के लिए खुला रहता है, उसी पकार तुम्हारा पेट भी भोजन के लिए सदा खुला नही रहना चाहिए। ऐसा होने से कितनी हानि होती है? इस बात का विचार कीजिए और अपनी आत्मा को ओदयिक भाव के कार्यों से निवृत्त करके आत्मिक गुणो मे ही स्थापित कीजिए। इसी मे आपका कल्याण है।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहकर ही नही रह जाते। वे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रियात्मक कार्य करने का भी उपदेश देते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोडना ही है। प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है-प्रतिक्रमण करने से व्रत मे पडे हुए छिद्र ढक जाते हैं। अर्थात् अगीकार किये हुए व्रतो मे अतिचार रूपी जो छिद्र पड जाते है, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दो के सयोग से बना है, जिनका अर्थ होता है-परस्थान मे प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना। स्वीकार किये व्रतो मे दोष आना आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है। उस पतित स्थान पर से आत्मा को फिर वापिस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन मे स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है। आत्मा जब व्रतो को अगीकार करता है तो सावधानी से ही अगीकार करता है परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्बलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतो का पालन करने मे किसी न किसी प्रकार की भूल हो जाना सम्भव है। भगवान् ने अपने ज्ञान से यह बात जानकर आज्ञा दी है कि मेरे शासन के साधु-साध्वियो को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योकि इस काल मे यह सम्भव नही है कि उनके व्रतो मे कोई भी दोष न लगे। अतएव नियमितरूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज बहुत बार कहा करते थे कि पक्का मकान थोडे दिनो तक सभाला न जाये और उस मकान मे जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो तब छिद्र को ढक दिया जाये तो उस मकान के तत्काल पड जाने की सम्भावना नही रहती और न उसे और कोई हानि होने का डर रहता हे, परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती ह ओर कही जरासा छिद्र नजर आया कि तत्काल मून्द देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थकरो के शासन के

साधुओ के व्रत पक्के मकान सरीखे होते हैं। अतएव जब वे अपने व्रतो मे छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते हैं, छिद्र नही देखते तो प्रतिक्रमण भी नही करते। परन्तु चौबीसवे तीर्थंकर के साधुओ के व्रत कच्चे मकान के समान हे। अत उन्हे अपने व्रतो की सदैव सार–सभाल रखनी चाहिए और व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को प्रतिक्रमण द्वारा साधते रहना चाहिए।

आप अपने कपडो मे जब छेद पडा देखते हैं तो उसे साध कर बन्द कर देते हैं, तो फिर व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को बन्द करने मे कौन बुद्धिमान् पुरुष विलम्ब करेगा? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता होगा वह अपने व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल बन्द कर देगा। नौका मे छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका मे पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष उस छेद को बना रहने देगा? छेद बन्द न किया तो उसके द्वारा नौका मे पानी भर जायेगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूब जायेगी। इसी प्रकार अगर व्रतो मे हुए छिद्र बन्द न कर दिए जाए तो आस्रव रूपी पानी भरे बिना नही रहेगा और फलस्वरूप व्रतरूपी नौका डूब जायेगी। अतएव जेसे मकान मे से पानी न टपकने देने का खयाल रखा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतो की भी सभाल रखनी चाहिए। जब कभी व्रतो मे छिद्र दिखाई दे तो उसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लडने के बाद ओर वीर योद्धा युद्ध करने के बाद सध्या समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को बतला देता हे कि आज सारे दिन मे मुझे अमुक जगह चोट लगी हे ओर अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा हे। जब मल्ल या योद्धा अपना दर्द बता देता हे तो शुश्रूषा करने वाला सेवक ओषध या मालिस द्वारा उस दर्द को मिटा देता हे ओर दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए ओर योद्धा युद्ध करने के लिए तेयार हो जाता हे। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे वल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा ओर नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने ओर योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तेयार नही सकेगा। इसी प्रकार जो साधु देवसिक ओर रात्रिक प्रतिक्रमण मे अपने व्रता की सारणा–वारणा कर लेता हे ओर लगे हुए दोषो को प्रतिक्रमण द्वारा दूर कर देता हे वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मो को जीत लेता हे।

कहने का आशय हे कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढक जाता हे ओर प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध–आस्रव वन जाता ह। निरुद्ध आस्रव होने से उसका चारित्र भी असबल अर्थात् निर्मल रहता हे सवल

का अर्थ है—मलीन, खराव। किसी वस्तु मे दाग लग जाने से खरावी आ जाती है, उसे सबल कहते है। दाग वाली वस्तु अच्छी नही कहलाती। व्रतो मे लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता हे और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है।

प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध आस्रव (आस्रव—रहित) होने के कारण असबल चारित्र वाला होगा और असवल चारित्र वाला होने के कारण आठ प्रवचन माता का पालन करने मे आरूढ होगा। भगवान की कही हुई आठ प्रवचन माताए आत्मा के लिए माता के समान हे। प्रवचन की उत्पत्ति भगवान् से ही हुई है। भगवान् के मुख से निकले हुए आठ प्रवचन पाच समिति, तीन गुप्ति आत्मा के लिए माता के समान हितकर हैं। इन आठ प्रवचनो मे वारह अगो का समावेश हो जाता है। यद्यपि आठ प्रवचनो की वात साधुओ को लक्ष्य करके कही गई है तथापि वह सभी के लिए हितकारी हैं।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और उच्चारादिपरिष्ठापनिका समिति, यह पाच समितिया हे और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति, ये तीन गुप्तिया है। इस प्रकार इन आठ प्रवचनमाता मे समस्त सद्गुणो का समावेश हो जाता है। यह आठ प्रवचन जेसे साधुओ के लिए हितकारी हे उसी प्रकार गृहस्थो के लिए भी हितकारी हे।

ईर्यासमिति का अर्थ है—मर्यादापूर्वक गमन करना। मर्यादापूर्वक गमन किस प्रकार करना चाहिए? इसका शास्त्र मे बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया हे। यद्यपि यह समिति प्रधानरूप से साधुओ के लिए कही गई हे परन्तु श्रावक भी अगर इसका अभ्यास करे तो बहुत लाभ हो सकता है। एक तो इधर—उधर आखे घुमाते हुए चलना और दूसरे चार हाथ आगे की भूमि सावधानी के साथ देखते हुए चलना, इसमे बहुत अन्तर है। दृष्टि को एकाग्र करके चलना एक प्रकार की योगक्रिया का अभ्यास है। यह अभ्यास केसा होता है? यह बात अनुभव से ही जानी जा सकती है। चलने की क्रिया जान लेने से निश्चय ओर व्यवहार दोनो मे बहुत लाभ है और चलने की क्रिया न जानने के कारण निश्चय और व्यवहार—दोनो मे हानि होती है। अमेरिकन विद्वानो ने तो यहा तक कहा हे कि जेसा प्राणायाम चलते समय हो सकता हे, वेसा दूसरे समय नही हो सकता। इतना होने पर भी लोग चलने की क्रिया नही जानते। शास्त्र मे साधुओ के लिए कहा है कि उन्हे चलते समय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का पालन करना चाहिए तथा चलते समय स्वाध्याय वगैरह किसी भी वात की ओर ध्यान न देते हुए इसी बात का खास ध्यान रखना

चाहिए कि मेरा पैर कहा पड रहा हे? ओर मेरे पेर से किसी जीव को आघात तो नही पहुच रहा हे? इस बात का ध्यान रखने से प्रतिक्रमण करते समय, हुए ईर्यावही के पाप का प्रक्षालन हो जाता हे।

शास्त्र कहते हे कि चलते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी दूसरे की गति कदापि न रुके। जब कीडी की गति को भग करना भी निषिद्ध ठहराया गया हे तो फिर मनुष्य की जो पचेन्द्रिय हे—गति भग करके उसे परतत्रता मे डालना क्या पाप न होगा? जो आत्मा असवल चारित्र वाला होगा, वह ईर्यासमिति का बराबर पालन करेगा। असवल चारित्रवान् बनने के लिए ईर्यासमिति का पालन करना आवश्यक हे।

मुनि को ईर्यासमिति के समान भाषासमिति का भी ध्यान रखना चाहिए। कीडी, मक्खी या अन्य जानवरो के साथ वातचीत नही की जाती। वातचीत मनुष्यो के साथ ही की जाती हे। अतएव बातचीत करते समय भय, हसी, क्रोध या अन्य किसी कारण से कठोर भाषा नही बोलना चाहिए।

साधुओ के लिए कठोर भाषा वोलने का निषेध किया गया हे तो क्या अर्थ यह हे कि आपको कठोर भाषा वोलना चाहिए? कठोर भाषा बोलने से निश्चय ओर व्यवहार मे आपकी भी हानि ही होती हे। इतना होने पर भी आज भाषा का वहुत दुरुपयोग होता दिखाई देता हे। कायर लाग जीभ का जेसा दुरूपयोग करते हैं, वीर पुरुष वेसा दुरुपयोग नही करते। कुत्ते भोंकते ह सिह कभी नही भौंकता। यह वात दूसरी हे कि सिह गर्जना करता हे मगर वह अपने आप गर्जता हे, कुत्तो की भाति दूसरो को देखकर नही। जेसे कुत्ते अपनी वाणी का दुरुपयोग करते हैं उसी प्रकार कायर लोग भी अपनी वाणी का दुरुपयोग किया करते हैं। मगर इस प्रकार वाणी का दुरूपयोग करना योग्य नही हे। हमारी जीभ से केसी वाणी निकल रही हे, इस वात का ध्यान आज बहुत कम लोग रखते ह। उचित तो यह हे कि बोलन से पहले प्रत्येक वात पर विवेकपूर्वक विचार कर लिया जाये कि मेरे भाषण म असत्य, भय या क्रोध तो नही हे? 'त सच्च खु भगव' अर्थात् सत्य ही भगवान् हे इस सिद्धात का ध्यान वोलते समय रखा जाय ता वाणी सार्थक हाती हे।

शास्त्र का कथन ह कि वचन को गुप्त रखना चाहिए आर यदि वोलने की आवश्यकता ही हो तो क्रोध या भय आदि किसी भी कारण स कठोर अथवा असत्य भाषण नही करना चाहिए। शास्त्र क अनुसार क्राध क अधीन होकर वोला हुआ सत्य भी असत्य ही हे क्याकि जो क्राध क अधीन होकर वोलता ह, वह स्वतत्र हाकर नही वरन् परतन्त्र हाकर बालता ह।

स्वाधीनतापूर्वक बोली हुई वाणी ही सही हो सकती है। अतएव सदैव भाषासमिति का ध्यान रखना चाहिए। जीभ के विषय मे वेताल कवि ने कहा है–

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बुलावे,
जिम्या से जस होय जीभ रो आदर पावे।
जीभ करे फजहीत जीभ जूता दिलवावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ वेकुठ पठावे।।
अदल तराजू जीभ है, गुण अवगुण दोउ तोलिये।
वैताल कहे विक्रम! सुनो, जीभ समालकर बोलिये।।

इस प्रकार जीभ से भलाई भी होती है और बुराई भी होती है। अतएव बोलने मे विवेक रखना चाहिए। अगर विवेक न रह सकता हो तो उस दशा मे मौन रहना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है–'मौन मूर्खस्य भूषणम्' अर्थात् मूर्ख पूरुष के लिए मौन ही भूषण है।

कतिपय लोग वाणी का दुरुपयोग ऐसा करते है कि वह उनकी भी अप्रतिष्ठा का कारण बनती है और दूसरो को भी उससे बुरा लगता है। अतएव बोलने मे बहुत ही विवेक रखना चाहिए। वाणी का बडा महत्व है। उपनिषद् मे कहा है–भोजन का सारा भाग वाणी को ही मिलता है। इस प्रकार वाणी मे शरीर की प्रधान शक्ति रहती है। वाणी की जितनी रक्षा की जाये उतना ही लाभ है। थोडी देर बोलने मे तुम्हे कितना श्रम मालूम होता है। इसका कारण यह है कि बोलने से शरीर की प्रधान शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिको के कथनानुसार जीभ मे तोप से भी अधिक शक्ति है इसलिए बोलने मे विवेक की बडी आवश्यकता है।

इसी प्रकार ऐषणा समिति और आदान–निक्षेपण समिति मे भी ध्यान रखना आवश्यक है और इसी प्रकार पाचवी समिति मे भी विवेक रखना चाहिए कोई भी वस्तु ऐसी जगह नही रखना चाहिए और न फेकना चाहिए, जिससे देखने वाले को घृणा हो या गन्दगी का आभास हो। जामनगर–काठियावाड मे देखा जाता है कि बरसा का जो पानी गड्डो मे भर जाता है और उसमे कीडे पड जाते है, उन कीडो को स्त्रिया एकत्र करके सुरक्षित जगह मे रख देती है। स्त्रियो की यह दया प्रशस्त है। किन्तु जो स्त्रिया ऐसे जीवो पर भी इतनी दया रखती है उन्हे अपने घर मे किस प्रकार वर्त्तना चाहिए और कितनी अधिक स्वच्छता रखनी चाहिए? अगर वे अपने घर मे गन्दगी रखती हैं तो दया का उपहास कराती है। उनका व्यवहार देखकर

लोग यही कहेगे कि जैनो की यह कैसी दया है जो घर मे तो गन्दगी रखते है और बाहर इस प्रकार जीव बचाते है। यहा लोगो के घरो मे इतनी गन्दगी रहती है कि न पूछो बात। शास्त्र मे गन्दगी रखने का विधान कही नही है, प्रत्युत शास्त्र तो शौच–स्वच्छता–पवित्रता को ही प्रधानता देता है। केवल नहाना–धोना या पानी बहाना ही शोच नही है किन्तु 'शोचात् स्वा जुगुप्सा परैरससर्ग' अर्थात् शरीर की अशुचि का विचार करने से अपने अग पर जुगुप्सा और दूसरे के अग पर असगभाव उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुद्धि ही सच्ची शुचि है।

कहने का साराश यह है कि शौच का सदैव ध्यान रखना चाहिए। शौच का ध्यान रखने से पाचवी समिति का बराबर पालन हो सकता है। इसी प्रकार तीन गुप्तियो का भी भली–भाति पालन करना चाहिए। असबल चारित्रवान् पुरुष भगवान् द्वारा प्ररूपित आठ प्रवचनो का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता हैं।

पहले कहा जा चुका है कि प्रतिक्रमण करने से व्रतो के छिद्र बन्द हो जाते हैं और छिद्र बन्द होने से कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता हे ओर आत्मा 'निरुद्धास्रव' बन जाता हे, निरुद्धास्रव होने से आत्मा पाच समिति ओर तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनो का पालन करने मे दत्तचित्त वनता हे ओर प्रवचनो के पालन मे दत्तचित्त होने से सयम–योग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती हे। अर्थात् आत्मा सयम के योग से जो भिन्न जान पडा हे वह भिन्नता नही रह जाती। पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता हे तब तक उसमे ओर समुद्र मे जुदाई जान पडती हे, परन्तु जब पानी समुद्र मे मिल जाता हे तो जुदाई मिट जाती हे। समुद्र मे मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता हे क्योकि बीच मे पात्र हे। पानी जब तक पात्र मे हे, तब तक वह समुद्र म नही मिल सकता ओर इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता हे। बीच मे पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी म कोई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह के कारण सयम योग से भिन्न हो रहा हे। या तो आत्मा स्वरूपत सयमयोग से भिन्न नही हे, किन्तु भिन्नता आ गई हे ओर उस भिन्नता का कारण मोह ह। आत्मा किस प्रकार सयम योग स भिन्न जा पडा हे, इसके विषय मे सूयगडागसूत्र मे कहा हे–

जेसि कुले समुपन्ने जेहि वास वसे नरे,
मम्माइ लुप्पई बाले, अन्नमन्नेण जीविणो।।

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल मे उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है उदाहरणार्थ नीचे माने जाते लोग भी अपनी जाति म रचे–पचे रहते हैं जब नीच समझे जाने वाले प्राणी भी अपनी जाति मे रचे पचे रहते हैं तब स्पष्ट जान पडने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल म उत्पन्न होता है वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस पकार मान बैठने का कारण मोह है। आत्मा मे जो ममत्व और अज्ञान है उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त–मास हू? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा सयम योग से जुदा पड गया है। जब आत्मा आठ पवचनो का पालन करता हुआ भाव प्रतिक्रमण करता है तब उसकी सयम योग से भिन्नता नही रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा को सयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार मे कैसे समझे? जैनसिद्धान्त मे ऐसी–ऐसी विशेषताए भरी पडी है कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड बैठते है कि व्यवहार की ओर आंख उठाकर भी नही देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी है जो व्यवहार मे ही रह जाते हैं और निश्चय का विचार तक नही करते। परन्तु जैन–सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार–दोनो को एक साथ रखता है। इसीलिए यहा यह देखना है कि भाव प्रतिक्रमण से आत्मा की सयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार मे किस प्रकार समझ सकते है? प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र का कथन है कि जब भाव प्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रिया सुप्रणिहित होगी अर्थात् इन्द्रियो मे भीतर–बाहर ऐसी शान्ति आ जायेगी कि देखने वाले के हृदय मे भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह बाह्य परीक्षा होने से भाव प्रतिक्रमण के नाम पर होने वाली ठगाई रुक जाती है। जैसे बगुला धीरे से एक पैर रखने के बाद दूसरा पैर उठाता है, किन्तु उसके हृदय मे भावना कुछ और ही रहती है, उसी प्रकार बहुत से लोग दुनिया को अपना सयम योग दिखाने के लिए बाहरी रूप कुछ और ही दिखलाते हैं और इस प्रकार अपनी ठगाई जारी रखते है। किन्तु शास्त्र व्यवहार की यह परीक्षा बतलाता है कि जिनकी आत्मा सयमयोग से अभिन्न होगी उनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित होनी चाहिए अर्थात् उसकी इन्द्रियो मे भीतर

और बाहर ऐसी शान्ति होगी कि देखने वाले के दिल मे समाधि उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी।

साधारणतया ससार मे शुक्ल पक्ष भी हे और कृष्ण पक्ष भी हे, अर्थात् सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले भी हैं और सयमयोग के नाम पर ठगाई करने वाले भी हैं। शास्त्र दोनो की स्पष्ट परीक्षा बतलाकर कहता हे कि जिसकी आत्मा सयमयोग मे वर्तती होगी, उसकी इन्द्रियो का प्रणिधान होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी सयम योग मे वर्तने वाले की साक्षी देती है। उदाहरणार्थ—किसी जगह ढाल (उतार) है या नही, यह जानने मे कदाचित् तुम असमर्थ हो सकते हो, मगर पानी तत्काल उतार का पता लगा लेता है और जिधर उतार होता है उधर ही बहने लगता हे। उसी प्रकार शास्त्र मे कथित परीक्षा द्वारा सयमयोग मे वर्तने वाले की पहचान कदाचित् आप न कर सके मगर प्रकृति तो बतला ही देती है कि यह सयमयोग मे प्रवृत्ति करने वाला है या नही? आपने यह तो सुना ही होगा कि प्राचीन काल मे मुनियो की गोद मे सिह भी लोटा करते थे। सिह कपटी लोगो की गोद मे नही लोटते। वे उसकी गोद मे लोटते हैं, जिनकी आत्मा सयम योग मे वर्तती हे और जिनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित होती हैं। यह सयमयोगी की परीक्षा है। जो सयमयोग मे प्रवृत्त होगा उसकी परीक्षा प्रकृति भी इस रूप मे प्रकट कर देती हे।

जिनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित नही हैं अर्थात् विषयवासना की तरफ दोडती रहती हे, फिर भी जो लोग अपने को सयम योगी के रूप मे प्रकट करते हे वे ठग ओर पाखडी हैं। गीता मे भी कहा हे—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचार स उच्यते।

जिसके हृदय मे विकार भरे हें ओर जिसकी इन्द्रिया विषयवासना की ओर दोडा करती ह, वह ऊपर से अपने को भले ही सयमी प्रकट करे मगर वास्तव मे वह मिथ्याचारी, पाखडी हे।

इस प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्ति न होते हुए भी जो अपन को सयम योग मे प्रवृत्ति करने वाला प्रकट करता ह, उसकी निन्दा सभी ने की हे। इसी प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले महात्माओ की प्रशसा भी सभी न की हे। वास्तव मे सयमयोग मे वर्तने वाले महात्मा धन्य ह। ऐस महात्माआ का सत्सग भी सोभाग्य से प्राप्त होता हे। महापुरुषा का सत्सग हाना भी एक वडा साभाग्य ह।

अब हमे विचार करना है कि हमे क्या करना चाहिए? करना यही है कि जब आप देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक या सवत्सरी का प्रतिक्रमण करे तव यह देखे कि हम अपने व्रतो से कहा–कहा गिरे है? जहा–जहा आप गिरे हो उस जगह से अपने आपको हटाकर ठिकाने पर आइए। शास्त्र का कथन है कि जो पुरुष जिस योग मे प्रवृत्त हो रहा हो वह उसी योग मे अपनी आत्मा को सभाले रहे। जिसकी इच्छा सयमयोग मे वर्तने की होगी वह अपनी आत्मा को वरावर सभाल कर रखेगा।

शास्त्र की यह बात ध्यान मे रखते हुए अपनी आत्मा को सयमयोग मे प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्मा व्रत मे से जहा कही पतित हुआ हो उस स्थान से उसे हटाकर यथास्थान लाना चाहिए। जो चलता है कही न कही उसका पैर फिसल ही जाता है। एक वार पैर फिसलने से वह सावधान बन जाता है, मगर उसकी सावधानी वही होती है जहा उसका पैर फिसलता है।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है। प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घडी को चावी देना है। अगर कोई घडी ऐसी हो कि जब तक उसमे चाबी घुमाई जाती रहे तव तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाये, तो यही कहा जायेगा कि वह घडी बिगडी है। एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घडी ही अच्छी घडी कहलाती है इसी प्रकार एक वार प्रतिक्रमण रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए। अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभयोग मे रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभयोग से गिर जाये तो बिगडी घडी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए।

और बाहर ऐसी शान्ति होगी कि देखने वाले के दिल मे समाधि उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी।

साधारणतया ससार मे शुक्ल पक्ष भी हे ओर कृष्ण पक्ष भी है, अर्थात् सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले भी हैं और सयमयोग के नाम पर ठगाई करने वाले भी हैं। शास्त्र दोनो की स्पष्ट परीक्षा बतलाकर कहता है कि जिसकी आत्मा सयमयोग मे वर्तती होगी, उसकी इन्द्रियो का प्रणिधान होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी सयम योग मे वर्तने वाले की साक्षी देती है। उदाहरणार्थ—किसी जगह ढाल (उतार) है या नही, यह जानने मे कदाचित् तुम असमर्थ हो सकते हो, मगर पानी तत्काल उतार का पता लगा लेता है और जिधर उतार होता है उधर ही बहने लगता है। उसी प्रकार शास्त्र मे कथित परीक्षा द्वारा सयमयोग मे वर्तने वाले की पहचान कदाचित् आप न कर सके मगर प्रकृति तो बतला ही देती है कि यह सयमयोग मे प्रवृत्ति करने वाला है या नही? आपने यह तो सुना ही होगा कि प्राचीन काल मे मुनियो की गोद मे सिह भी लोटा करते थे। सिह कपटी लोगो की गोद मे नही लोटते। वे उसकी गोद मे लोटते हैं, जिनकी आत्मा सयम योग मे वर्तती हे और जिनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित होती हैं। यह सयमयोगी की परीक्षा हे। जो सयमयोग मे प्रवृत्त होगा उसकी परीक्षा प्रकृति भी इस रूप मे प्रकट कर देती हे।

जिनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित नही हैं अर्थात् विषयवासना की तरफ दोडती रहती हे, फिर भी जो लोग अपने को सयम योगी के रूप मे प्रकट करते ह वे ठग ओर पाखडी हे। गीता मे भी कहा हे—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचार स उच्यते।

जिसके हृदय मे विकार भरे हें ओर जिसकी इन्द्रिया विषयवासना की ओर दोडा करती हें, वह ऊपर से अपने को भले ही सयमी प्रकट करे मगर वास्तव मे वह मिथ्याचारी, पाखडी हे।

इस प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्ति न होते हुए भी जो अपने को सयम योग मे प्रवृत्ति करने वाला प्रकट करता हे, उसकी निन्दा सभी ने की हे। इसी प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले महात्माओ की प्रशसा भी सभी ने की हे। वास्तव मे सयमयोग मे वर्तने वाले महात्मा धन्य ह। ऐसे महात्माओ का सत्सग भी सोभाग्य से प्राप्त होता हे। महापुरुषो का सत्सग होना भी एक वडा साभाग्य ह।

अब हमे विचार करना है कि हमे क्या करना चाहिए? करना यही है कि जब आप देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक या सवत्सरी का प्रतिक्रमण करे तब यह देखे कि हम अपने व्रतो से कहा–कहा गिरे है? जहा–जहा आप गिरे हो उस जगह से अपने आपको हटाकर ठिकाने पर आइए। शास्त्र का कथन है कि जो पुरुष जिस योग मे प्रवृत्त हो रहा हो, वह उसी योग मे अपनी आत्मा को सभाले रहे। जिसकी इच्छा सयमयोग मे वर्तने की होगी वह अपनी आत्मा को बराबर सभाल कर रखेगा।

शास्त्र की यह बात ध्यान मे रखते हुए अपनी आत्मा को सयमयोग मे प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्मा व्रत मे से जहा कही पतित हुआ हो उस स्थान से उसे हटाकर यथास्थान लाना चाहिए। जो चलता है, कही न कही उसका पैर फिसल ही जाता है। एक बार पैर फिसलने से वह सावधान बन जाता है, मगर उसकी सावधानी वही होती है जहा उसका पैर फिसलता हे।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है। प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घडी को चाबी देना है। अगर कोई घडी ऐसी हो कि जब तक उसमे चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाये, तो यही कहा जायेगा कि वह घडी बिगडी है। एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घडी ही अच्छी घडी कहलाती है इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमण रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए। अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभयोग मे रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभयोग से गिर जाये तो बिगडी घडी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए।

बारहवां बोल

कायोत्सर्ग

आत्माशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय मे कहा जा चुका हे। प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता हे। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतो के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हे बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी ओषध लगाई जाती हे। जिस प्रकार मेले कपडे धोये जाते हें ओर उनका मेल दूर किया जाता हे, उसी प्रकार आत्मा के व्रतरूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मेल चढ गया हे, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पडता हे। यही कायोत्सर्ग हे। जिस किसी उपाय से शरीर को ही नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नही हे, वरन् शरीर सम्बन्धी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग हे।

कायोत्सर्ग के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया गया हे–

मूलपाठ

प्रश्न 12– काउस्सग्गेण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 12–काउसग्गेण तीय पडुप्पण्ण पायच्छित्त विसोहेइ विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय हियए ओहरिय भरूव्व भारवाहे पसत्थ धम्मज्झाणोवगए सुहसुहेण विहरइ।।2।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर–कायात्सर्ग करने स भूतकाल के आर वर्तमान काल क अतिचारा को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध करता ह आर इस प्रकार शुद्ध हुआ

जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान मे लीन होता हुआ, इहलोक और परलोक मे सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष–लाभ करता है।

व्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है? टीकाकार 'कायोत्सर्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है। काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नही है कि शास्त्र के आघात से विषपान से या अग्नि–पानी मे कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना। किन्तु शास्त्र मे कही हुई रीति के अनुसार काय का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के विषय मे शास्त्र मे खूब स्पष्टीकरण किया गया है। उन स्पष्टीकरणो को स्पष्ट रूप से कहने का अभी समय नही है, फिर भी यहा थोडा–सा विवेचन करना आवश्यक है।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए। जीवन भर के लिए किए जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद है। एक यावज्जीवन–कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा बिना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता हे। उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमे यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण अगर मै मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है, अगर मै जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है। निरूपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग मे ऐसा कोई आगार नही रहता। निरूपसर्ग यावज्जीव कायोत्सर्ग मे पादोपगमन सथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष मे से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती हे और सूख जाती है, उसी प्रकार यहा सथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं। इस प्रकार का सथारा न कर सकने वाले के लिए इगितमरण सथारा बताया गया है। लेकिन जो लोग इगितमरण सथारा भी नही कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है। किन्तु इस प्रकार के सब निरूपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते है जब ऐसा प्रतीत हो कि मरण काल समीप आ गया हे। मरणकाल सन्निकट न आया हो तो

इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् सथारा नही किया जा सकता। यो तो कायोत्सर्ग अर्थात् सथारा करना अच्छा ही हे किन्तु जब तक मरण समय सन्निकट नही है या सथारा करने का कोई कारण नही है, तब तक इस प्रकार के कायोत्सर्ग करने का विधान नही हे। अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर सथारा कराना ही उचित हे।

सिह वगैरह का कोई प्राण घातक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी सथारा किया जाता हे, किन्तु वह सथारा इस रूप मे किया जाता हे कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाए तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊ तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवन भर के लिए नही है।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है। अर्थात् उपसर्ग से न बचे तो त्याग हे, बच गये तो त्याग नही हे, भला यह भी कोई त्याग है? इसके उत्तर मे कहा जा सकता हे कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही भडकता। कायोत्सर्ग करने के बाद, उपसर्ग के कारण के प्रति इस प्रकार का क्रोध नही होता कि मैने इसका क्या बिगाडा था कि यह मुझे कष्ट पहुचा रहा हे। जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही आता और उपसर्ग दाता पर भी शान्तभाव बना रहता हे, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता हे। कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नही हे।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना सभावित था। लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नही किया, बल्कि अपना मित्र समझा। उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा हे, कि मुझ मे क्रोध हे या नही? म भगवान् का सच्चा भक्त हू या नही? अतएव हे प्रभो! मै तुम से यही प्रार्थना करता हू कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आये।

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्व यह हे कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नही आया। अब यह कहा जा सकता ह कि ऐसा हो तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यता ह? मर्यादित समय क लिए ही कायोत्सर्ग क्या न किया जाये? इस प्रश्न का उतर यह हे कि सम्भव ह कि उपसर्ग म ही मरण हा जाये। यह वात दृष्टि म रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता ह।

कहा जा सकता है कि फिर वह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यो नही रखा जाता? उपसर्ग से वचने के वाद वह त्याग क्या नहीं माना जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरणकाल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नही है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि म दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रखी जाती है कि अगर मैं उपसर्ग से बच जाऊ तो मेरे त्याग नही है। उपसर्ग से बचने के वाद शरीर की सभाल रखनी ही पडती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते ह और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का सथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते–सोते ही मेरा मरणकाल आ जाये तो मेरे यावज्जीवन सथारा है। सोते समय सथारा करने की ऐसी पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के सथारे मे भावना की प्रबलता होना आवश्यक है। ऐसा सथारा करने के पश्चात् मन सासारिक कामो मे नही लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि ससार के कारण स्वप्न तो आते ही होगे! मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए। अलबत्ता, जहा तक हो सके, सोते समय मन मे किसी भी प्रकार का सासारिक सस्कार नही रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्त्तमानकाल के पापो के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती हे। यहा प्रश्न किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि मे वर्त्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती हे? इस प्ररूप का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते है कि समीप का भूतकाल भी वर्त्तमानकाल ही कहा जाता हे। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्ती पिछला काल है। और वर्त्तमान का आशय समीपवर्तीकाल है। जैसे—दिन के चार प्रहर होते हे। आप सध्या समय प्रतिक्रमण करते हैं। उस समय सारा ही दिन भूतकाल ह लेकिन दिन का चोथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्नभूत काल को ही यहा वर्त्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया हे, उसके विषय मे दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् ने कहा हे कि कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती हे, लेकिन जिससे पाप का छेदन हो वही प्रायश्चित्त कहलाता

हे ओर इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि हे। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि केसे की जाती हे? इसका उत्तर यह हे कि यहा प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारो के लिए किया गया हे। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत सम्वन्धी अतिचारो की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती हे।

कुछ लोगो का कहना कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पडता हे। मगर जव सब चीजो की विशुद्धि होती हे तो पाप की ही विशुद्धि क्यो न होगी? जव ससार की समस्त वस्तुओ की विशुद्धि हो सकती हे तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण हे।

ससार की समस्त वस्तुए शुद्ध की जा सकती ह ओर दूसरे लोगा ने इस प्रकार की शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है, मगर हिन्दूजाति ने यह शुद्धि नही अपनाई ओर इसी कारण उसे हानि उठानी पडी। हिन्दूजाति ने यह समझ लिया कि एक वार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नही हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता हे लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता हे। अगर कोई चोकसी (सर्राफ) सोने के शुद्ध करने के वजाय फेक दे ओर यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसकी शुद्धि हो ही नही सकती तो उस का दीवाला निकल जायेगा या नही? वास्तव मे यह मानना भूल हे कि किये हुए पापो की शुद्धि नही हो सकती। पापो की विशुद्धि अवश्य हो सकती हे अगर पापो की विशुद्धि असम्भव होती ता सामायिक–प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता। पापो की विशुद्धि होती हे मगर जेसा पाप हो वेसा ही प्रायश्चित्त हाना चाहिए। कपडे पर जव तक किसी प्रकार की अशुद्धि लगी हो तव तक उसके प्रति घृणा बनी रहती हे मगर कपडा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता हे। इसी प्रकार अपने पापो को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हा जाता हे।

व्रतो मे अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए वोझरूप हो जात ह, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस वोझ से निवृत्त हो जाता हे। कायोत्सर्ग करन पर भी आत्मा पाप से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि कायात्सर्ग म कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई। दवा लेने पर भी वीमारी न मिट ता यही समझा जाता ह कि या ता दवा म काई दोप ह या दवा लेने वाले म काई त्रुटि हे। इसी प्रकार कायात्सर्ग करन पर भी आत्मा पाप क भार से हल्का न हा ता समझना चाहिए कि आत्मा न सम्यक्प्रकार स कायात्सर्ग नही किया ह।

कायात्सर्ग करन स आत्मा क ऊपर लदा हुआ भार उतर जाता ह आर तव आत्मा का एसा आनन्द प्राप्त हाता ह जस वाझ उतरन पर मजदूर का आनन्द हाता ह। श्रीस्थानागसूत्र क चाथ स्थानक म आत्मा क लिए चार

विश्रान्तिस्थान बतलाये गये है। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से, शान्ति मिलती है उसी प्रकार आत्मा पर लदा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखरूप विचरता है। इतना ही नही, शान्त होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान मे तल्लीन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान मे तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुखी नही होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जावे। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन पुत्र वगैरह मे सुख समझते है अर्थात् जिनके ऊपर पाप का भार लदा है उन्ही को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये है उन्हे दुखी माना जाता है। यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव मे वही है जिस के सिर पर पाप का भार नही रहा, जो पाप का बोझ उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा मे अनन्त शक्तिया छिपी हुई है। उन्हे प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते हैं। भगवान् कहते हैं—कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुखलाभ करता है और प्रशस्त धर्मध्यान मे लीन होकर मुक्ति के समीप पहुचता है। काय के प्रति ममता भाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुख नही रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन्! तुझमे ओर परमात्मा मे जो भेद है, वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक से इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा ओर परमात्मा के बीच भेद डालने वाला यह शरीर ही है। उदाहरणार्थ आग पर पानी रखने से पानी उबलता हे और उबलने पर सन् सन् की आवाज करता है। यह आवाज करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ मे आग बुझा देने की शक्ति हे, लेकिन मेरे और आग के बीच मे यह पात्र आ गया है। मै इस पात्र मे बन्द हू ओर इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड रहा हे। इसी प्रकार आत्मा तो सुखस्वरूप ही है परन्तु इस शरीर के साथ वद्ध होने के कारण वह दुख पा रहा हे। कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर सम्बन्धी ममत्वभाव त्याग दिया जाता हे तब आत्मा मे किसी प्रकार का दुख नही रह पाता।

तेरहवां बोल

प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुखपूर्वक विचरता हे और प्रत्याख्यान करने योग्य बनता हे। प्रत्याख्यान वही कर सकता हे तो कायोत्सर्ग करता हे। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया जाता हे–

मूलपाठ

प्रश्न–पच्चक्खाणेणं भते!जीवे कि जणयई?

उत्तर–पच्चक्खाणेण आसव दाराइ निरूभई, पच्चक्खाणेण इच्छानिरोह जणयइ, इच्छानिरोह गए य ण जीवे सव्व दव्वेसु विणीय तण्हे सोईभूए विहरइ।।13।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर–प्रत्यखयान करन स (अर्थात मूलगुण आर उत्तरगुण धारण करने से) हिसा आदि आस्रव द्वार बन्द हो जाते ह आर इच्छा का निराध हा जाता ह। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्या की तृष्णा स रहित हाता ह आर इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता ह।

व्याख्यान

भगवान न जा उत्तर दिया ह उसक आशय पर विचार करन स पहल इस बात का विचार कर लना आवश्यक ह कि कायात्सर्ग कर लेन पर भी प्रत्याख्यान करन की क्या आवश्यकता ह? शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करन क उद्दश्य स कायात्सर्ग किया जाता ह। अन्य जनता न मृत्यु का जा

प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनुष्य "जीवियासा–मरण भय विप्पमुक्क" अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीतकाल के पापो की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते है। इस प्रकार कायोत्सर्ग से भूतकालीन पापो की शुद्धि होती है, परन्तु भविष्य मे होने वाले पापो को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि मूलगुणो और उत्तरगुणो को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पाच मूलगुण है और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण है। अर्थात् साधुओ के लिए पाच महाव्रत मूलगुण है और नवकारसी आदि उत्तरगुण है। इसी प्रकार श्रावको के लिए पाच अणुव्रत मूलगुण है और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण है। स्थूल हिसा न करना, स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्री गमन न करना और परिग्रह की मर्यादा करना, यह पाच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं। और सात व्रत उत्तरगुण है। उत्तरगुण कहलाने वाले सात व्रत मूलगुणो के लिए बाड के समान है। मगर ध्यान रखना चाहिए कि बाड उसी खेत मे लगाई जाती है, जिसमे कुछ हो। जिस खेत मे कुछ भी नही होता, उस खेत के चारो ओर बाड लगाना व्यर्थ समझा जाता है। किसी श्रावक मे उत्तरगुण न हो परन्तु मूलगुण हो तो उसे शास्त्र इतना अनुचित नही मानता, जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है। मूलगुणो के प्रति तनिक भी सावध ाानी न रखते हुए केवल उत्तरगुणो से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोग है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य व्यवहार मे हिसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परध ान का हरण करता रहता है और धर्मस्थान मे जाकर सामायिक करने का दिखावा करता हे, तो उसका यह दिखावा ठीक नही कहा जा सकता। इतना ही नही, ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है। इससे विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नही करता किन्तु स्थूल हिसा भी नही करता–बल्कि दुखी जीवो पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रमाणिकता रखता हे और इसी प्रकार अन्य मूलगुणो का पालन करता है तो वह घर मे बैठा–बेठा भी साधुओ की महिमा बढाता है। इस प्रकार उत्तरगुणो के लिए मूलगुणो का होना आवश्यक हे और मूलगुण होने पर उत्तरगुणो को अपनाने की इच्छा स्वत उत्पन्न होगी। जिसमे मूलगुण होगे, वह अपने

मूलगुणो को विकसित करने के लिए उत्तरगुणो को अपनाएगा ही। इस प्रकार मूलगुणो के साथ ही उत्तरगुणो की शोभा है। प्रत्याख्यान करने से मूलगुणो ओर उत्तरगुणो को धारण किया जा सकता हे।

प्रत्याख्यान करने से जीव का क्या फल मिलता है? भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया हे। वास्तव मे प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक हे। फल देखे–जानें बिना किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति नही हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने से क्या फल मिलता है, यह जानना भी आवश्यक हे। प्रत्याख्यान के फल के सम्बन्ध मे पूछे हुए प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि–प्रत्याख्यान करने से आस्रव–द्वारो का निरोध होता है।

हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पाच आस्रव हैं। प्रत्याख्यान इन पाच आस्रवो को रोकता है। जो हिसा का त्याग करेगा, वह किसी जीव को मारेगा नही और न दु ख ही देगा। वह स्वय कष्ट सहन कर लेगा पर दूसरो को कष्ट नही पहुँचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नही बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नही चुराएगा। मेथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप मे कदापि नही पडेगा।

अभया रानी ने सुदर्शन सेठ को कितना भय ओर प्रलोभन दिया, फिर भी सुदर्शन ने व्यभिचार का सेवन नही किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यो पर मन नही करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दु ख का अनुभव नही करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्व ही यह हे कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तेयार नही होगा ओर न उसे स्वीकार करेगा। उदाहरणार्थ अरणक श्रावक को किसी देव ने कुण्डलो की जोडिया दी थी। वे कुण्डल कितने कीमती हागे? फिर भी उसने कुण्डल अपने पास नहीं रखे। उसने राजाओ को भेंट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुण्डल की जोडी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जा परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा, क्याकि यह अमूल्य वस्तुए उसका त्याग भग

करने वाली है। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुए भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर ले तो ससार मे किसी प्रकार की अशान्ति ही न रहे। आज ससार मे जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फैल रही है। इस व्रत के पालन न करने के कारण ही बोलशेविज्म–साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष मे भी साम्यवाद का प्रचार बढ रहा है। धनवान् लोग पूजी दबाकर बैठे रहे और गरीब दु ख पाये तब गरीबो को धनिको के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वभाविक है। गरीबो के हृदय मे इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम तो मुसीबते उठा रहे है और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे है। तुम ठूस–ठूस कर पेट भरो और बचे तो फेक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य भूखो मर रहा हो और उसकी खोजखबर तक न लो। इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रको मे भरे पडे रहे और दूसरा मनुष्य कडकडाती हुई ठण्ड मे सिकुडकर मर रहा हो फिर भी उसे कपडा न दो। तब इन दु खी मनुष्यो मे तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेष भाव से प्रेरित होकर वे तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाए यह स्वाभाविक है। कदाचित् तुम कहो कि कगाल लोग हमारा क्या बिगाड सकते है? मगर यह समझना भूल है। यह कगाल लोग थोडे नही है और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह इन्ही से तुम्हारे पास आया है। अतएव तुम्हे विचारना चाहिए कि जब वस्तु भेद नही करती तो फिर मुझे भेद करने का क्या अधिकार है? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नही करती। जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरो की भूख नही मिटा सकता? इस प्रकार जब वस्तु भेद नही करती तो तुम क्यो भेद करते हो? प्राचीनकाल मे तो ऐसे–ऐसे लोग हो गये है, जिन्होने स्वय भूखे रहकर भी दूसरो को भोजन दिया। अगर तुम उन सरीखे नही बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो उसे दबाकर मत बैठे रहो। तृष्णा के वश होकर दूसरो के दु ख की अपेक्षा तो मत करो। तृष्णा की पूर्ति न कोई कर सका है और न कभी हो ही सकेगी। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको। इस विषय मे जो बात जैन शास्त्र कहता ह। वही बात महाभारत मे भी कही गई हे। महाभारत मे कहा है–

यच्च कायसुख लोके, यच्च दिव्य महत्सुख।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हन्ति षोडशी कलाम्।।

इस श्लोक का आशय यह हे कि इस लोक मे किसी को चक्रवर्ती जेसा पद भले ही प्राप्त हो जाये ओर देव सम्बन्धी दिव्य सुख भी मिल जाये, इन दोनो सुखो को तराजू के एक पलडे मे रख दिया जाये, ओर दूसरे पलडे मे इच्छा निरोध का सुख रखा जाये, तो यह दोनो सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना मे सोलहवी कला भी प्राप्त नही कर सकते। तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवे भाग के बराबर भी नही हे।

यद्यपि तृष्णाविजय का सुख ऐसा ही हे, फिर भी ससार के लोग तृष्णा मे ही सुख मानते हं, मगर तृष्णा से न किसी को सुख मिला है ओर न ही मिल सकता हे। ज्ञानीजन कहते हैं कि तृष्णा से सुख कदापि नही मिल सकता। अतएव अगर सुखी बनना चाहते हो तो तृष्णा को जीतो।

तुम जिस वस्तु की कल्पना करते हो वह तृष्णा के लिए ही है और जिस चीज मे सुख मानते हो वह भी तृष्णा का पोषण करने के लिए ही है। किसी भी चीज मे जो कोई सुख मानता हे—सो वह तृष्णा ही सुख मानती है। तुम सुख नही मानते। उदाहरणार्थ कान मे पहने हुए मोतियो को तुम न देख सकते हो ओर न चख या सूघ ही सकते हो, फिर भी मोती पहन कर कान को किस कारण कष्ट देते हो। केवल तृष्णा के ही वश होकर। जिस वस्तु मे कोई स्वाद नही आता ओर न जिससे भूख—प्यास ही मिटती हे, उसे पहनना दु खरूप हे या सुखरूप? तुम धन को सभाल कर रखते हो सो किसके लिए? इसलिए कि मे धन के द्वारा अमुक काम करूगा। इसी बात को ध्यान मे रखकर श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा हे—

इम च मे अत्थि इम च नत्थि, इम च मे किच्चमिम अकिच्च।।
तमेवगेव लालप्पमाण, हरा हरंतीति कह पमाए?।।

अर्थात्—यह मेरा हे ओर यह मेरा नही हे, इस प्रकार की तृष्णा बनी रहती हे। यह हे ओर यह नही हे इस प्रश्न का क्या किसी भी दिन—समाधान हो सकता हे? एक वस्तु हुई तो उसी के साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खडी हो जाती हे। सुना हे, एक आदमी ने नीलाम म सस्ता मिलने के कारण एक पलग खरीदा। पलग अच्छा था। अत उसके साथ साठ हजार रुपय का नया सामान खरीदा, फिर भी अमुक चीज बाकी रह गई हे, एसी आवश्यकता बनी ही रही। तब उस आदमी ने विचार किया जिस पलग क पीछे इतना अधिक खर्च करना पड रहा ह, उसको ही क्या न निकाल दिया जाय?

आखिरकार पलग निकाल दने पर ही उस सन्तोष हुआ। इस प्रकार एक वस्तु हुई कि उसके साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खडी हो जाती

है। ऐसे होने पर भी तृष्णा का त्याग करके सुखी बनने के बदले बहुतेरे लोग तृष्णा मे ही सुख मानते है, किन्तु वास्तव मे तृष्णा से सुख का मार्ग ही बन्द हो जाता है। कम से कम तृष्णा होने पर तो सुख मिल ही नही सकता। जब किसी वस्तु की इच्छा नही होती तब उस वस्तु मे गति होती है ओर वह पास आती है। परन्तु जब तृष्णा उत्पन्न होती है तब वह वस्तु दूर भागती है।

कहने का आशय यह है कि सुख तृष्णा मे नही, तृष्णा जीतने मे है। हिसा, असत्य आदि पाप भी तृष्णा से ही होते है। तृष्णा मिटाने से यह पाप भी रुक जाते है। इन पापो का रुकना ही आस्रव का निरोध करने से, किस फल की प्राप्ति होती है, यह बतलाया जा चुका है। यहा सिर्फ इतना ही कहना है कि तृष्णा को जीतने के लिए अपनी आवश्यकताए कम कर डालनी चाहिए। आवश्यकताए जितनी कम की जाएगी, तृष्णा भी उतनी ही कम होती जायेगी। अगर तुम इतना नही कर सकते तो आवश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओ की ही तृष्णा रोको। इससे भी बहुत लाभ होगा। आवश्यक वस्तुओ की तृष्णा से जितनी हानि होती है, उससे कही अधिक हानि अनावश्यक वस्तुओ की तृष्णा से होती है। पहले चौदह नियम चितारने का जो उपदेश दिया जाता था उसका उद्देश्य यही था कि अनावश्यक वस्तुओ की तृष्णा रोकी जाये और आवश्यकताए कम की जाए। ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है, क्रमश तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतएव अपनी आवश्यकताए घटाओ। ज्यो-ज्यो आवश्यकताए घटाओगे त्यो-त्यो तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जायेगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे। इससे विपरीत आवश्यकताए जितनी बढाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढेगी और तृष्णा बढने से दु ख भी बढेगा। अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताए कम करो और तृष्णा को जीतो। तृष्णाविजय ही सुख का एकमात्र राजमार्ग है।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता हे। भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान ने मूलगुणो पर अधिक जोर दिया है क्योकि मूलगुणो से ही आस्रव का निरोध होता हे। हिसा का निरोध अहिसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवो का निरोध भी मूलगुणो से ही होता है इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुणोरूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा हे कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारो का निरोध होता हे ओर उससे जीव मुक्ति से सन्निकट पहुचता

है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याख्यान आस्रव निरोध के साथ ही पूर्व–कर्मों को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अग माना है। इस विषय मे टीकाकार कहते है–

पच्चक्खाणे वि ण सेविऊण भावेण जिणवरूद्दिट्ठ।
पत्ताणता जीवा, सासय सोक्ख लहु मोक्ख।।

अर्थात्–मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भावपूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हस का भाग कौवा खा जाये। अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनो से किया जाये। मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवो का निरोध हो सकता है। बहुत से लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक नही होता। वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो ओर जो भावपूर्वक किया जाये। जो राग ओर द्वेष से अतीत हो चुके ह वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते है, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता हे। वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट उस प्रत्याख्यान के आधार पर अनत जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हे, करते हे, करेगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया हे, प्राप्त करते हे ओर प्राप्त करेगे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अग माना गया हे ओर इससे स्पष्ट हे कि वह आस्रवो का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापो को भी नष्ट करता हे। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वालो को चारित्र शील कहा ह ओर चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करना होता हे। इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता हे कि प्रत्याख्यान आस्रवद्वारा का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मो को भी नष्ट करता हे।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता हे? इस प्रश्न क उत्तर मे भगवान् ने कहा हे प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार बन्द होता हे ओर इच्छा का निरोध होता हे। इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान करने स होता हे अत राग द्वष भी नही होता। प्रत्याख्यान स किस प्रकार इच्छा का निराध होता हे यह वात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती ह।

कल्पना कीजिए किसी मनुष्य न आम खान का प्रत्याख्यान किया। आम खाने का त्याग करन क पश्चात् जगत म आम ह या नहीं इस वर्ष आम

की फसल कैसी आई है, आम किस भाव बिकते है, ऐसी बातो का वह कोई विचार तक नही करता। आम खाने का त्याग करने वाला आम के भाव-ताव की चिन्ता क्यो करेगा? आम के प्रति उसकी कोई रुचि या इच्छा ही नही होती। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा का निरोध हो जा ा है। ससार के सारे काटे बीने नही जा सकते, परन्तु पैर मे मजबूत जूता पहनने वाले के लिए मानो जगत् के काटे रहते ही नही। इसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थ नष्ट नही हो सकते, लेकिन प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा, प्रत्याख्यान की हुई वस्तु की ओर जाती ही नही है। इस प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा इच्छा का निरोध होता है।

कितनेक लोगो का कहना है कि प्रत्याख्यान मे क्या रखा है। किन्तु प्रत्याख्यान मे कुछ रखा है या नही यह बात गाधीजी से पूछो तो मालूम हो जायेगी। गाधीजी ने प्रत्याख्यान न किया होता तो वह महात्मा बन सकते या नही, यह एक प्रश्न हैं। प्रत्याख्यान लेने के कारण ही वह बीमारी के अवसर पर भी मास-मदिरा वगैरह के पाप से बच सके थे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा के निरोध से आत्मा को अत्यन्त लाभ पहुचता है। प्रत्याख्यान करने मे भी विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा नही चाहिए कि बकरी निकालने मे ऊट घुस जाये। अर्थात् छोटे पापो का तो प्रत्याख्यान किया जाये और उनके बदले बडे पाप अपनाये जाये। अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेकपूर्वक प्रत्याख्यान करने से लाभ के बदले हानि अधिक होती है। वही प्रत्याख्यान प्रशस्त है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा-इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नही रहती। तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दु ख दायक है, इसलिए तृष्णा को जीतो। तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया ही है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो। इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है। आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा- निरोध होता है, इच्छा निरोध से तृष्णा मिट जाती हे, तृष्णा मिटने से सताप का शमन हो जाता है और सन्ताप के शमन से जीव को सुख शान्ति प्राप्त होती है। भगवान् ने जगत् के जीवो का सुख का यह मार्ग बतलाया हे।

'थव का अर्थ स्तव ओर 'थुइ' का अर्थ स्तुति है। स्तव मे ऐसा नियम होता है कि स्तव अमुक प्रकार का ही होना चाहिए लेकिन स्तुति के लिए ऐसा कोई नियम नही है। करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार स्तुति कर सकता है। जैसे भगवान् का स्तव करते हुए कहा गया है–

णमोत्थुण, अरिहंताण, भगवताण, आइगराण, तित्थयराण, सयसबुद्धाण, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाण, पुरिस वर पुडरियाणं पुरिस वर गधहत्थीण, लोगुत्तमाण, लोगनाहाणं, लोगहियाणं लोगपईवाण लोग पज्जोयगराण, अभय दयाण, चक्खु दयाण,मग्ग दयाण, सरण दयाण, जीव दयाण, बोहि दयाण, धम्म दयाणं, धम्म देसियाण, धम्म नायगाणं, धम्म सारहीणं, धम्मवर चाउरत चक्कवट्टीण, दीवोताण, सरणगई पइट्ठाणं, अप्पडिहय वरणाणदसण धराण, वियट्ट छउमाण, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाण, बुद्धाण, बोहियाण, मुत्ताण, मोयगाण, सव्वन्नूण, सव्व दरिसीण, सिव मयल मरूय मणत मक्खय मव्वावाह मपुणरावित्ति सिद्ध गई नामधेयं ठाण सपत्ताण णमो जिणाण जियभयाणं।।

यह शक्रस्तव है। शक्रेन्द्र इसी स्तव द्वारा भगवान् की प्रार्थना करता हे, अत इसे शक्रस्तव या शक्रेन्द्रस्तव भी कहते हे। आज हम लोगो मे पामर दशा व्याप गई हे, इसीलिए हमारे सामने उत्तम वस्तु का भी आदर नही होता। शक्रेन्द्र जो प्रार्थना करता था वही प्रार्थना हमे प्राप्त हुई हे। 'अत यह प्रार्थना बोलते समय हमे कितनी प्रसन्नता होनी चाहिए? जो शब्द इन्द्र के मुख मे से निकले थे, वही शब्द मेरे मुख से निकल रहे हैं इस विचार से प्रार्थना करते समय हमारे अन्दर कितना उत्साह ओर कितना आल्हाद होना चाहिए? लेकिन आज तो स्थिति ऐसी हे कि मानो महाराणा प्रताप का भाला तो पडा हे मगर उसे उठाने वाला कोई नही हे। इसी प्रकार शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रार्थना तो हे लेकिन उसे बोलने वालो मे जो उत्साह चाहिए, वह बहुत थोडे लोगो मे ही पाया जाता हे।

कहा जा सकता हे कि शक्रेन्द्र द्वारा किया हुआ स्तव हमे किसलिए दिया गया हे? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र का कथन ह कि आध्यात्मिक दृष्टि से शक्रेन्द्र की अपेक्षा भी श्रावक का पद ऊचा हे ओर शक्रेन्द्र साधु साध्विया को नमस्कार करते ह। ऐसी स्थिति मे शक्रेन्द्र का स्तव उन्हे न दिया जाये तो किसे दिया जाये? इस उत्तर के आधार पर आशका हो सकती ह कि यदि शक्रेन्द्र की अपेक्षा साधु श्रावक का पद ऊचा हे तो फिर साधु–श्रावक का

स्तवन शक्रेन्द्र को दिया जाना चाहिए था। जब शक्रेन्द्र हम से नीची श्रेणी का है तो उसके द्वारा किया हुआ स्तवन हमे किस उद्देश्य से दिया गया है? बडो की चीज छोटो को दी जाती है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शक्रेन्द्र एक ही है और मनुष्य बहुत है। इसी कारण उसका दिया हुआ स्तव हमे दिया गया है, क्योकि उसका स्तवन व्यवस्थित है। अगर मनुष्यो का किया हुआ स्तव उसे दिया गया होता तो यह झगडा उत्पन्न हो जाता कि यह मेरा स्तवन है। इसी प्रकार मनुष्यो का बनाया हुआ स्तवन मनुष्यो को दिया जाता तो भी इसी प्रकार का झगडा पैदा होता। अतएव हमे शक्रेन्द्र का स्तव दिया गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य मे इहलोक सम्बन्धी भावना भी होती है और इस कारण मनुष्य के प्राय प्रत्येक कार्य मे इहलौकिक भावना चिपटी रहती है। मनुष्य के बनाये स्तव मे ऐहलोकिक भावना भी आ सकती है।

शक्रस्तव मे कहा गया है कि मैं अरिहन्त भगवान् को नमस्कार करता हू। इसके पश्चात् भगवान् कैसे है, यह बतलाया गया है। लेकिन इस स्तव के प्रारम्भ पर से यह शका हो सकती है कि जब 'अरिहत' पद दिया है तो फिर 'भगवान् कहने कि क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए श्री रायपसेणीसूत्र की टीका मे श्री मलयगिरि आचार्य ने कहा है–अरिहत नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपो से होते है। यह स्तवन भावअरिहत को ही करना है, इसी कारण अरिहत के साथ भगवन्त विशेषण भी लगाया गया हे।

तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि नाम, स्थापना और द्रव्य को छोडकर भाव अरिहन्त का स्तव करो। भाव अरिहन्त का स्तव करने से क्या लाभ होता है, यह भगवान् ने बतलाया है।

मान लीजिए, किसी मनुष्य को लाख रुपये मिले और किसी मनुष्य को बुद्धि मिली। अब इन दोनो मे से कौन बडा कहलाएगा? आज तो यह कहावत प्रचलित हे कि बुद्धिमान् लखपति के यहा विद्वान् पानी भरते है। अर्थात् विद्वान् भी लखपति की नोकरी करते हैं। किन्तु नौकरी करने के कारण विद्वानो की बुद्धि का अनादर नही हो सकता। अगर कोई अज्ञानी किसी वस्तु का अनादर करता है तो उससे उस वस्तु का महत्व नही घट जाता। अगर बन्दरो की टोली मे एक आदमी एक मुट्ठी बेर ओर एक मुट्ठी हीरे फेके तो बन्दर हीरे छोडकर बेर ही लेगे। बन्दर हीरे का महत्त्व नही जानते, इस कारण हीरे नही लेते। मगर इसी कारण हीरे का महत्व और उसका मूल्य क्या कम हो

जाता है? इसी प्रकार जो लोग ससार की कामना मे फसे हैं, वे स्तव द्वारा भी सासारिक कामना ही पूरी करना चाहते है। इसी तरह वे भावस्तव का महत्व नही जानते किन्तु इस कारण भावस्तव का महत्व कुछ कम नही हो जाता।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है ओर वह यह है कि स्तव के साथ स्तुति शब्द का सम्बन्ध किस उद्देश्य से जोडा गया हे? जब स्तव किया जाता है तो उसके साथ स्तुति करने की क्या आवश्यकता हे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी लोग सतव नही कर सकते, मगर कल्याण सभी चाहते हैं। ज्ञानीजन यह चाहते है कि सभी का कल्याण हो, इसीलिए स्तुति के विषय मे पूछा गया है।

स्तव तो शक्रेन्द्र द्वारा किया जाता है परन्तु स्तुति एक श्लोक से लेकर सात श्लोक तक ओर सस्कृत, प्राकृत, बालभाषा वगैरह किसी भी भाषा मे की जा सकती है। शास्त्र सभी के कल्याण के लिए हैं और सभी को उनकी शक्ति के अनुसार कल्याण का मार्ग बतलाता है। इसी हेतु से स्तव के साथ स्तुति का भी कथन किया है। अर्थात् यह कहा है कि शक्ति हो तो स्तव करो अन्यथा स्तुति करो। जैसी शक्ति हो वही करो, लेकिन जो भी कुछ करो भावपूर्वक ही करो। भाव से की हुई स्तुति मे या स्तव मे त्रुटि रह जाये तो भी कल्याण है। इस विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार हे–

किसी राजा ने एक चोर को शूली की सजा दी। उसने दूसरे लोगो पर अपराध के दण्ड का आतक जमाने के लिए शूली चढाने की जगह नागरिक जनता को भी बुलाया ओर सब लोगो को आज्ञा दे दी कि कोई भी मनुष्य चोर की सहायता न दे। चोर को शूली चढाने का हुक्म दिया गया ओर सब लोग अपने–अपने घर लोट गए। जिस जगह चोर को शूली दी जानी थी, उस जगह से निकलते हुए सभी चोर की निन्दा करते जाते थे। एक श्रावक भी उसी जगह से निकला। चोर को देखकर उसने सोचा कि मुझे चोर की निन्दा नही करनी चाहिए किन्तु चोरी की निन्दा करनी चाहिए। चोरी करके दण्ड भोगने वाला पुरुष तो करुणा का पात्र हे।

कितने ही लोग दु खी को देखकर कहते ह कि यह तो अपने कर्मो का फल भुगत रहा हे। इस पर करुणा केसी? लेकिन वास्तव मे करुणा का पात्र तो दु खी जीव ही हे। दूसरे के दु ख को अपना मानना ही करुणा हे।

उस श्रावक को चोर पर करुणा आई। वह चोर के पास जाकर उससे कहने लगा भाई! तुम्हारे ऊपर मुझे अत्यन्त दया हे। मगर मे तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हू?'

श्रावक का यह कथन सुनकर चोर प्रसन्न हुआ और मन ही मन मे कहने लगा–बहुत से लोग इस रास्ते से निकले पर इस सरीखा दयालु कोई नही था।

ऐसे दु खी मनुष्य को देखकर तुम्हे उस पर करुणा उत्पन्न होगी या नही? ऐसी दु खद अवस्था इस आत्मा ने न जाने कितनी बार भोगी होगी। इस प्रकार आज आत्मा जो करुणा दूसरे पर प्रकट कर रहा है सो न जाने कितनी बार स्वय उस करुणा का पात्र बन चुका है। ऐसी अवस्था मे भी आज लोगो के हृदय से करुणाभाव की कमी हो रही है। करुणा की कमी का खास कारण स्वार्थभावना है। स्वार्थभावना जब हृदय मे घर कर बैठती है तब करुणामूर्त्ति माता मे भी भेदभाव आ जाता है और उस मे से भी करुणा निकल जाती है। माता की भी जब ऐसी स्थिति हो सकती है तो स्वार्थभावना के कारण अगर दूसरो मे भी दु खियो के प्रति करूणा न रहे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

सेठ के मीठे बोल सुनकर चोर को बडी प्रसन्नता हुई सेठ ने उस चोर से कहा– 'मै तुम्हारी कुछ सेवा कर सकू तो कहो।' चोर बोला–'आपको और तो क्या कहू। हा, इस समय मैं बहुत प्यासा हूँ। पीने के लिए थोडा पानी दे दो।' सेठ ने कहा–बहुत अच्छा। मै अभी पानी लाता हूँ। राजा की ओर से मुझे जो दण्ड मिलना होगा सो मिलेगा, लेकिन मै पानी लाने जाऊ और इतने ही समय मे कदाचित् तुम्हारे प्राण–पखेरू उड जाएँ तो तुम्हे न जाने क्या गति मिलेगी। इस कारण तुम मेरा उपदेश सुनकर ध्यान मे रखो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

चोर ने सेठ की बात मानना स्वीकार किया। सेठ ने उसे णमोकारमन्त्र सुनाया और कहा मैं पानी लेकर आता हूँ, तब तक इस मन्त्र का जाप करते रहना। चोर ने पहले कभी यह मन्त्र नही सुना था और इस समय वह घोर कष्ट मे था। उसे णमोकारमन्त्र याद नही रहा। वह उसके स्थान पर इस प्रकार कहने लगा–

आनू तानू कछू न जानू, सेठ वचन परमानू।

उसने इस प्रकार णमोकारमन्त्र का जाप किया। यह स्तव नही तो स्तुति तो हुई। चोर मर कर न जाने किस गति मे जाता लेकिन स्तुति के प्रभाव से वह देव हुआ। यह स्तुति का ही प्रताप है।

कहने का आशय यह है कि नियमित शब्दो मे या पक्तिबद्ध जो हो वह स्तव है और जिसके लिए कोई नियम विशेष नही हे तथा जिसमे जिस

किसी भी प्रकार के हृदय के भाव प्रकट किये जाए वह स्तुति हे। अगर आप स्तव नही कर सकते हो तो स्तुति करो मगर जो करो भावपूर्वक ही करो। भावपूर्वक की गई स्तुति भी आत्मा का कल्याण करती हे।

'थवथुइमगल' अर्थात् स्तव स्तुति मगल शव्द के विषय मे व्याकरण की दृष्टि से एक प्रश्न उपस्थित होता हे कि थुइ (स्तुति) शव्द स्त–प्रत्ययान्त होने के कारण पहले आना चाहिए ओर थव (स्तव) शव्द वाद मे। लेकिन शास्त्र मे इससे विपरीत क्रम किस उद्देश्य से रखा गया हे? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार का यह कथन हे कि यह आर्षवचन हे। आर्षवचन मे व्याकरण के नियमो का पालन होना अनिवार्य नहीं हे ओर पालन न होना अनुचित नही हे। आर्षवचन पर व्याकरण के नियमो का प्रभाव नही पडता। अलबत्ता अर्थ करते समय इस क्रम का ध्यान रखना चाहिए।

स्तव और स्तुतिमगल करने से जीव का क्या लाभ होता हे? इसके सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा है यह भावमगल हे। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि स्तव ओर स्तुति भावमगल के लिए करना चाहिए। किसी भी सासारिक कामना से किया जाने वाला स्तव या स्तुति भावमगल नही हे। भावमगल स्तव या स्तुति सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

स्तव ओर स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव को क्या लाभ होता हे? इस सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा हे–स्तव–स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव का ज्ञान, दर्शन ओर चारित्ररूप वोधि का लाभ होता हे। ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र जेनधर्म का सार हे। अगर आप जेनधर्म के सारभूत ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र की प्राप्ति करना चाहते हे तो शास्त्र कहता हे कि स्तव ओर स्तुतिरूप भावमगल करो। शास्त्र का यह कथन दृष्टि मे रखते हुए आपसे वराम्वार यह कहा जाता हे कि इस कलियुग मे परमात्मा की प्रार्थना का शरण लो। हालाकि मे जो प्रार्थना बोलता हूँ वह वालभाषा मे हे, इसलिए उसका स्तुति मे समावेश होता हे ओर इस प्रकार की स्तुति का फल भगवान् ने ज्ञान, दर्शन ओर चारित्ररुप वोधि प्राप्त होना वताया हे।

सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाला प्रार्थी, प्रार्थ्य (जिसकी प्रार्थना की जाये) के सर्वस्व का अधिकारी वन जाता हे। एकाग्रचित्त से ध्येय पर पहुचने का ध्यान करने से ध्येय तक पहुच सकते ह, इसी प्रकार सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर परमात्ममय वना जा सकता ह।

भगवान् कहते ह कि स्तव–स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव ज्ञान, दर्शन आर चारित्ररूपी वोधि प्राप्त कर सकता ह। रत्नत्रयरूप वोधि प्राप्त

करने से जीव अन्तक्रिया कर सकता है। अन्तक्रिया का सामान्य अर्थ है–अन्तिम क्रिया। अन्तिमक्रिया अर्थात् वह क्रिया जिसके बाद फिर कोई भी क्रिया न करनी पडे। अथवा जिस क्रिया से भव का अन्त हो जाये और फिर कभी भव न धारण करना पडे उसे अन्तक्रिया कहते है।

ससार मे पुन–पुन जन्मना और मरना भव कहलाता है। इस प्रकार के भव का अन्त हो जाना अन्तक्रिया है। अतएव स्तव–स्तुतिरूप भावमगल का फल उसी भव मे मोक्ष जाना है। कदाचित् उसी भव मे मोक्ष प्राप्त न हो तो जीव कल्पविमान मे, अनुत्तरविमान मे या नवग्रैवेयक वगैरह मे जाता है। स्तव और स्तुतिमगल करने ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि का लाभ प्राप्त होने पर भी कभी कभी हृदय के भाव ठीक नही रहते, इस कारण उसी भव मे मोक्ष नही मिलता। फिर भी ऐसा जीव विश्रान्ति लेकर मोक्ष जाता है और विश्रान्ति लेने के लिए वह श्रेष्ठ विमान मे ही जन्म लेता है।

उदाहरणार्थ–रेलवे के प्रथमश्रेणी के यात्री को कही विश्राम लेना हो तो उसे धर्मशाला या साधारण मुसाफिरखाने मे विश्राम लेने की आवश्यकता नही होती–क्योकि उसे प्रथम श्रेणी (First Class) का विश्रान्तिगृह (Waiting Room) मिलता है। इस व्यावहारिक उदाहरण के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि प्राप्त करने वाले मोक्ष के मुसाफिर को अगर विश्राम लेना पडता है तो वह कल्पविमान आदि मे जन्म लेकर ही विश्राम करता है और फिर मोक्ष जाता है। अन्तक्रिया करने वाला प्रथम तो उसी भव मे मोक्ष जाता है, अगर उसी भव से मोक्ष न गया तो भी वह अच्छी स्थिति प्राप्त करता है–अर्थात् कल्पविमान, ग्रैवेयक या अनुत्तरविमान मे ही विश्रान्ति के लिए रुकता है। वहा से च्युत होकर वह मनुष्य ही होता है और ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की श्रेष्ठ आराधना करके मोक्ष जाता है।

स्तव–स्तुति रूप भावमगल करने का ऐसा श्रेष्ठ फल मिलता है। अतएव प्रत्येक समय परमात्मा की प्रार्थना करते रहना चाहिए। भले ही मुख से परमात्मा का नाम लिया जाये या न लिया जाये, लेकिन हृदय मे तो ध्यान बना ही रहना चाहिए। कितनेक लोग 'मुख मे राम बगल मे छुरी' की कहावत चरितार्थ करते है और फिर कहते है कि हमे राम का नाम लेने का या प्रार्थना करने का कोई फल ही नही मिला। लेकिन इस प्रकार खोटी प्रार्थना करने वालो को समझना चाहिए कि तुच्छभावना के साथ की हुई प्रार्थना या स्तुति से इष्टसिद्धि नही हो सकती। सच्चे अन्त करण से की गई प्रार्थना या स्तुति ही फलदायिनी सिद्ध होती है। अतएव सच्चे हृदय से निष्कपटभाव से प्रार्थना

या स्तुति करनी चाहिए। परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए? इसके लिए कहा गया है—

धर्मजिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो, प्यार प्राण समान,
कबहू न विसरूं चितारूं नही, सदा अखडित ध्यान,
ज्यो पनिहारी कुम न वीसरे, नटवी वृत्तनिदान,
पलक न वीसरे पदमणि पियु भणी,चकवी न वीसरे भान।

पनहारिन मस्तक पर खेप रखकर बाते करती चली जाती हे पर क्या वे बाते करते समय खेप को भूल जाती हें? नट बास पर खेल करता हे परन्तु क्या वह अपने शरीर का सन्तुलन भूल जाता हे? पतिव्रता स्त्री अन्यान्य कार्यो मे प्रवृत्त होने पर भी अथवा सकट मे पडने पर भी क्या अपने पति को भूल जाती है? सीता, द्रौपदी, दमयन्ती आदि सतिया घोर कष्टो मे पडकर भी अपने पति को विसरी नही थी। सच्ची स्त्री अपने पति को कदापि नही भूल सकती ओर न अन्य पुरुषो को अपने हृदय मे स्थान दे सकती हे। इस प्रकार सच्चा पति भी परस्त्री को अपने हृदय मे स्थान नहीं दे सकता।

सुना है कि गाधी जी ने अपनी पत्नी कस्तूरबा को उनकी बीमारी के समय एक पत्र लिखा था कि—'मैं कार्य मे अत्यन्त व्यस्त होने के कारण, वीमारी के समय भी तुम्हारे पास उपस्थित नही हो सकता। लेकिन मे तुम्हे विश्वास दिलाता हूँ कि कदाचित् तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी तो में कदापि दूसरी पत्नी नही करूगा। इस प्रकार में तुम्हारी मृत्यु का स्वागत करूगा ओर अपने मे किसी प्रकार की उदासीनता नही आने दूगा।'

आज तुम्हारे समक्ष ऐसा उच्च आदर्श उपस्थित हे फिर भी तुम्हारे हृदय मे केसी कायरता आ गई हे! जिसमे कायरता होती हे वह न तो किसी भी नियम का पालन कर सकता हे ओर न किसी निश्चय पर दृढ ही रह सकता हे। कायरो के हाथ मे न कुछ रहता हे ओर न कुछ रह ही सकता हे। कायरो के हाथ मे व्यवहारिक सत्ता भी तो नही रह सकती! आज स्वराज्य की माग की जाती हे पर कायरो के हाथ मे कोन स्वराज्य देगा ओर कोन रहने देगा! इसी प्रकार भगवान् की भक्ति भी कायरो मे ओर गुलामो मे किस प्रकार टिक सकती हे?

आजकल लोग अपनी सन्तान मे जान—बूझकर कायरता भरते ह। वालकों को वचपन मे ही इस प्रकार दबाया जाता हे कि वे दवते ही रहे। मगर लोग यह नही देखते कि उनकी इस करतूत के कारण वालक कितने कायर वन रहे ह! इसी प्रकार पुरुष, स्त्रियो को दबाते ह ओर कायर बनाते ह।

माताओ मे कायरता होगी तो बालको मे कायरता आना स्वाभाविक है। जिस माता–पिता मे वीरता होती है उन्ही की सन्तान वीर बनती है। सिहनी ही सिह को जन्म देती है। इसी प्रकार वीर माता वीर पुत्र को जन्म देती है और कायर माता कायर सन्तान उत्पन्न करती है।

कायरता के साथ ही साथ नागरिक जनो मे ऐसे कुसस्कार घर कर बैठे है कि उनकी बात न पूछिए। जैसे कुसस्कार नगरो मे नजर आते है वैसे ग्रामो मे क्वचित् ही दृष्टिगोचर हो सकते है। ग्रामो मे जैसी पवित्रता दिखाई देती है वैसी पवित्रता शहरो मे शायद ही कही दीख पडे।

पतिव्रता केवल अपने एक पति का ही चित्त प्रसन्न रखना चाहती है और वेश्या अनेक पुरुषो का चित्त प्रसन्न रखने की कोशिश करती है। इन दोनो मे से आपकी दृष्टि मे कौन बडा है? कहने को तो तुम पतिव्रता को ही बडी कहोगे, मगर अपने कथन के अनुसार आचरण भी करते हो या नही? तुम पतिव्रता को इसलिए बडी मानते हो कि वही पतिव्रताव्रत का भलीभाति पालन करती है, लेकिन यही बात तुम अपने लिए क्यो नही अपनाते? पतिव्रता स्त्री को सिनेमा की नटी के समान नाज–नखरे नही आते लेकिन ससार को टिकाये रखने की और गार्हस्थ जीवन को सुखी बनाने की जो शक्ति पतिव्रता मे है, वह वेश्या या सिनेमा की नटी मे नही है।

कहने का आशय यह है कि जैसे पतिव्रता के हृदय मे प्रत्येक समय पति का ही ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय मे प्रतिक्षण परमात्मा का ही ध्यान होना चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि अमुक इस प्रकार नही करता तो मै ही ऐसा क्यो करू? तुम्हारे कान मे कीमती मोती है और दूसरे के कान मे नही है, इसी कारण तुम मोती फैंक नही देते वरन् उस मोती को पहन कर अपने को भाग्यशाली समझते हो। व्यवहार मे जब ऐसा विचार नही रखते तो फिर धर्म के कार्य मे यही विचार क्यो नही रखते कि दूसरा कोई धर्म करे या न करे, मै तो धर्म करूगा ही। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा धर्म करने मे स्वतन्त्र हे। अतएव कोई दूसरा धर्मकार्य करे या न करे तो भी अपने को तो धर्मकार्य करना ही चाहिए। जैसे दूसरो के पास मोती न होने पर भी लोग मोती पहनते हे और अपने को भाग्यशाली मानते है, उसी प्रकार सद्गुणो को अपनावे या न अपनावे, में तो अपनाऊगा ही। सद्गुणो को अपनाने से अवश्य लाभ होता हे। सद्गुणो का लाभ हुए बिना रह ही नही सकता। अतएव सद्गुण धारण करके परमात्मा की प्रार्थना करो तो तुम्हारा कल्याण ही होगा। धर्म समाज गत ही नही, व्यक्ति गत भी है। अतएव जो

धर्म का पालन करेगा उसी को लाभ होगा। धर्म सदेव कल्याणकारी हे। धर्म को जीवन मे स्थान देने से कल्याण अवश्य होगा।

ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र रूपी बोधि की प्राप्ति स्तव स्तुतिरूप मगल से होती है, यह बात पहले कही जा चुकी हे। बोधि की प्राप्ति होना सम्पूर्ण जैन–धर्म की प्राप्ति होने के वरावर हे। इस प्रकार स्तव ओर स्तुति रूप मगल से सम्पूर्ण की प्राप्ति होती हे। कहा भी हे–

भत्तिए जिणवराण परमाए खीण दोसाण।
आरूग्ग बोहिलाभं समाहिमरण च पावेति।।

अर्थात् जिनके राग और द्वेष क्षीण हो गये हैं, उन जिनवरो की परमभक्ति करने से जीव सशय आदि दोषो से रहित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन ओर सम्यक्चारित्र का लाभ करता है ओर अन्त मे समाधि मरण पाता है। ज्ञान, दर्शन ओर चारित्ररूप–बोधि से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया का फल प्राप्त करता हे।

अन्तक्रिया का अर्थ बतलाते हुए कहा जा चुका हे कि जिस क्रिया द्वारा भव या कर्म नष्ट होते हैं वह क्रिया अन्तक्रिया कहलाती हे। इस प्रकार अन्तक्रिया करता है, यह कहने का अर्थ यह हुआ कि स्तव ओर स्तुति रूप भावमगल करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन ओर चारित्ररूप बोधि का लाभ करके मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति का कारण अन्तक्रिया ही हे इसलिए वह अन्तक्रिया भी कहलाती है।

शास्त्रकारो ने सामग्री के भेद से चार प्रकार की अन्तक्रिया बतलाई हें। जेसा कि स्थानागसूत्र मे कहा हे–

चत्तारि अत किरियाओ पण्णत्ताओ, तजहा–त खलु इमा पढमा अत किरिया अप्पकम्म पचाएया वि भवइ, से ण मुडेभवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइए, सजम बहुले सवरबहुले, समाहि बहुले, लूहे, तीरट्ठी उवहाणव, दुक्खक्खवे तवस्सी तस्स ण णो तहप्पगारे तवे भवइ,णो तहप्पगारा वेयणा भवइ, तह प्पगारे पुरिसजाए दीहेण परियावेण सिज्झई, बुज्झई, मुच्चई परिणिव्वायई, सव्वदुक्खाणमत करेई, जहा से भरहे राया चाउरत्त चक्कवट्टी, पढमा अतकिरिया।

अर्थात् एक होने पर भी सामग्री के भेद से अन्तक्रिया के चार भेद किये गये ह। इस चार प्रकार की अन्तक्रिया मे से पहली अन्तक्रिया का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया हे कि इस ससार मे कोई–कोई पुरुष ऐसा होता हे कि जो सम्भवत देवलोक आदि मे गमन करके, अल्पकर्मी होकर अर्थात् अनेक कर्मों का उच्छेद करने के पश्चात् मनुष्य लोक मे आता हे। वह

मनुष्य लोक मे मुडित होता है अर्थात् द्रव्य से घर–द्वार छोडकर के शलोच करके और भाव से अविवेकरूप राग–द्वेष से बाहर निकलकर अनगारप्रव्रजित होता है। इस प्रकार प्रव्रज्या लेकर वह पृथ्वीकाय आदि की रक्षा करता हुआ सयमवान् बनता है और परिपूर्ण सयमी होकर आस्रव रोकने के लिए अथवा इन्द्रियो और कशायो का दमन करने के लिए अनेक प्रकार के सवर धारण करता है। तथा समभाव और ज्ञानादि उत्पन्न करने वाली समाधि को धारण करके वह शातिरूप और ज्ञानादिरूप समाधि से समाधिवान् बनता है और वह शरीर एव मन से रूक्षवृत्ति वाला बनता है अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति नही रखता। वह कर्मो को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील तथा सतत जागृत रहता है। इस प्रकार ससारसमुद्र को पार करता हुआ वह किनारे पहुचता है और तप मे उद्यत होकर दु ख का नाश करता है। वह शुभध्यानरूप तप का तपस्वी होने के कारण तपस्वी कहलाता है। ऐसे तपस्वी पुरुष का तप सतापजनक घोर नही होता। उसे देवादि का भी उपसर्ग नही होता। लघुकर्मी होने के कारण वह पुरुष दीर्घकाल तक दीक्षा का सम्यक् प्रकार से पालन करके सिज्झई, अर्थात् मोह कर्म नष्ट करके सिद्ध गति के योग्य बनता है बुझई अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करके तत्त्वबोध पाता है मुच्चई अर्थात् भवभ्रम कराने वाले कर्मो को नष्ट कर मुक्त होता है और परिनिव्वाई अर्थात् समस्त उपाधियो से छुटकारा पाकर शान्त हो जाता है। ऐसा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त पुरुष समस्त दु खो का अन्त कर डालता है अर्थात् सब दु खो से रहित हो जाता है।

प्रथम अन्तक्रिया के लिए शास्त्रकारो ने भरत चक्रवर्ती का उदाहरण दिया है। उनका कथन है प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती पूर्वभव मे लघुकर्मी होकर सर्वार्थसिद्धविमान मे गए थे और फिर वहा से च्युत होकर मनुष्य लोक मे भरत चक्रवर्ती हुए तथा केवलज्ञान प्राप्त करके, एक लाख पूर्व तक सयम पाल कर सिद्धगति को प्राप्त हुए थे। यह पहली अन्तक्रिया का स्वरूप हुआ।

पहली ओर दूसरी अन्तक्रिया मे यह अन्तर है कि दूसरी अन्तक्रिया मे तप और वेदना प्रबल होती है किन्तु दीक्षा कम होती है अर्थात् अल्प प्रव्रज्या से ही मोक्ष हो जाता है। गजसुकुमार मुनि ने यह अन्ताक्रिया की थी।

तीसरी अन्तक्रिया मे दीक्षा भी लम्बे समय तक पाली जाती हे और कष्ट भी वहुत सहन करना पडता हे, तब मोक्ष प्राप्त होता हे। जैसे सनत्कुमार चक्रवर्ती को दीर्घकाल तक सयम का पालन करने के बाद मोक्ष मिला था।

सनत्कुमार चक्रवर्ती की मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है। किसी आचार्य के मत से वह मोक्ष गये हे और किसी के मत से देवगति मे गये हैं।

चौथी अन्तक्रिया पहली के ही समान है। उसमे केवल यही अन्तर हे कि चौथी अन्तक्रिया मे अल्प काल की और अल्प कष्ट की दीक्षा से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे मरुदेवी माता को हाथी के होदे पर बैठे बेठे मोक्ष मिल गया था।

माता मरुदेवी का जो उदाहरण दिया गया है, उसके सम्बन्ध मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले मुडित होना आदि जो गुण बतलाये गये हे, ये मरुदेवी मे कहा थे? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने यह दिया है कि यहा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे पूर्ण समानता नही खोजनी चाहिए।

भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र मे जो उत्तर दिया है, उसमे ऐसा पाठ आया है–

अत किरिय कप्पविमाणोव वत्तिय आराहण आराहेइ।

कतिपय आचार्य इस पाठ का अर्थ यह करते है कि 'अन्त किरिया' शब्द मे का 'अ' अक्षर प्र लेश होकर 'अ अन्तकिरिया शब्द बन जाता हे, जिसका अर्थ यह है कि जीव उसी भव मे मोक्ष नही जाता किन्तु परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिस आराधना से देवलोक या विमान मे उत्पत्ति होती हे उस आराधना से कल्प या अनुत्तर विमान मे उत्पत्ति होती हे ओर फिर परम्परा से जीव मोक्ष पाता हे।

कहने का आशय यह हे कि स्तव ओर स्तुति रूप मगल से सम्पूर्ण जेनधर्म की प्राप्ति होती हे, फिर भले ही मोक्ष उसी भव मे मिले या परम्परा से, किन्तु जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त होती हे उस सम्पूर्ण जेनधर्म की प्राप्ति तो स्तव ओर स्तुति मगल से ही होती हे। अतएव एकान्त भाव से स्तुति ओर स्तव रूप मगल करते रहना चाहिए। अगर बडी स्तुति या स्तव हो सके तो ठीक ही हे, अन्यथा परमात्मा की स्तुति मे कहे दो शब्द भी पर्याप्त हे। वास्तव मे महापुरुषो के प्रति अपने भाव समर्पित कर देना चाहिए। जेसे चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उडद के छिलके दान दिये थे। यहा विचारणीय यह हे कि कीमत उडद के छिलको की थी या भावो की? वास्तव मे कीमत उडद के छिलको की नही, हृदय के भावो की थी। अतएव तुम भी भगवान् को अपने भाव समर्पित कर दो। तुम्हे सब प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई हे, फिर अपने भाव भगवान् के प्रति क्यो अर्पित नही करते?

बहुत से लोग कहा करते है—अभी धर्मकरणी करके क्या करे? आजकल मोक्ष तो मिलता नही, मिलता है सिर्फ स्वर्ग, सो वह बहुत धर्मक्रिया से भी मिल सकता है और थोडी धर्मक्रिया से भी मिल सकता है। ऐसा कहने वालो से ज्ञानीजनो का कथन है कि ऐसा समझकर धर्मक्रिया करने मे आलस्य करना भूल है। धर्मक्रिया करते समय इसी भव मे मोक्ष मिलेगा, ऐसा मानना ही हितकर है। इसी भव से मोक्ष न मिला तो न सही, धर्मक्रिया करने से तुम मोक्ष के पथिक तो बनोगे ही। अतएव धर्मक्रिया करने मे प्रमाद मत करो। शास्त्र का कथन है कि जीव अगर आराधक हो, फिर भी इसी भव मे मोक्ष न जाये तो पन्द्रहवे भव मे तो अवश्य ही मोक्ष जायेगा। अतएव आराधक बनने मे प्रमाद करना योग्य नही है। तुम्हे जो सामग्री मिली है उसका उपयोग धर्मक्रिया मे करना ही आराधक होने का मार्ग है। परमात्मा की भक्ति करना, स्तुति करना सरल से सरल काम है। अगर इतना सरल काम भी तुम न कर सके तो दूसरे काम कैसे कर सकोगे?

इस ससार मे एक तो शुद्धता है और दूसरी अशुद्धता है। अशुद्धता से निकल कर शुद्धता मे प्रवेश करना ही हमारा कर्तव्य है। या मान लीजिए, आप के गाव मे दो तालाब है। एक तालाब का पानी मलीन और दूसरे का निर्मल है। ऐसी स्थिति मे आप किस तालाब मे स्नान करना चाहेगे? आप यही कहेगे कि निर्मल तालाब मे ही स्नान करना उचित है। इस विषय मे आप भूल नही करते। मगर यही बात अपने हृदय मे शुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को स्नान करा सकते है और अशुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को उसमे नहला सकते है। तो फिर अगर आप शुद्ध विचार लाकर उसमे आत्मा को स्नान कराए तो आपकी क्या हानि है? क्या ऐसा करने के लिए कोई धर्मशास्त्र निषेध करता है? चित्त शुद्धि के लिए सभी कहते है फिर चित्त को शुद्ध करके उसमे आत्मा को क्यो स्नान नही कराते? भगवान् ने कहा है—स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव आराधक होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् के इस कथन पर विश्वास रखकर स्तव और स्तुतिरूप मगल का अभ्यास कर देखो तो पता चलेगा कि स्तव—स्तुतिमगल से कितना अधिक लाभ होता है।

मुझे बचपन से ही णमोकार मन्त्र पर विश्वास था। जब मै समझता कि मुझ पर किसी प्रकार का सकट आ पडा है, तब मैं इस महामन्त्र का स्मरण करके शरण लेता था। णमोकार मन्त्र की शरण लेने से मेरा सकट मिट भी जाता था। लोग कहते हैं बालक णमोकारमन्त्र मे क्या समझे? मगर शास्त्र का

सनत्कुमार चक्रवर्ती की मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है। किसी आचार्य के मत से वह मोक्ष गये है ओर किसी के मत से देवगति मे गये हैं।

चौथी अन्तक्रिया पहली के ही समान है। उसमे केवल यही अन्तर हे कि चोथी अन्तक्रिया मे अल्प काल की ओर अल्प कष्ट की दीक्षा से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर बैठे बैठे मोक्ष मिल गया था।

माता मरुदेवी का जो उदाहरण दिया गया है, उसके सम्बन्ध मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले मुडित होना आदि जो गुण बतलाये गये ह, वे मरुदेवी मे कहा थे? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने यह दिया है कि यहा दृष्टान्त ओर दार्ष्टान्तिक मे पूर्ण समानता नही खोजनी चाहिए।

भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र म जो उत्तर दिया है, उसम ऐसा पाठ आया है–

अत किरिय कप्पविमाणोव वत्तिय आराहण आराहेइ।

कतिपय आचार्य इस पाठ का अर्थ यह करते ह कि 'अन्त किरिया' शब्द मे का 'अ' अक्षर प्र लोश होकर 'अ अन्तकिरिया शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ यह हे कि जीव उसी भव मे मोक्ष नही जाता किन्तु परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता हे। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र की जिस आराधना से देवलोक या विमान मे उत्पत्ति होती हे उस आराधना से कल्प या अनुत्तर विमान मे उत्पत्ति होती हे ओर फिर परम्परा से जीव मोक्ष पाता हे।

कहने का आशय यह हे कि स्तव ओर स्तुति रूप मगल से सम्पूर्ण जेनधर्म की प्राप्ति होती हे, फिर भले ही मोक्ष उसी भव मे मिले या परम्परा से, किन्तु जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त होती हे उस सम्पूर्ण जेनधर्म की प्राप्ति तो स्तव ओर स्तुति मगल से ही होती हे। अतएव एकान्त भाव से स्तुति ओर स्तव रूप मगल करते रहना चाहिए। अगर बडी स्तुति या स्तव हो सके तो ठीक ही हे, अन्यथा परमात्मा की स्तुति मे कहे दो शब्द भी पर्याप्त ह। वास्तव मे महापुरुषो के प्रति अपने भाव समर्पित कर देना चाहिए। जेसे चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उडद के छिलके दान दिये थे। यहा विचारणीय यह हे कि कीमत उडद के छिलको की थी या भावो की? वास्तव मे कीमत उडद के छिलको की नही, हृदय के भावो की थी। अतएव तुम भी भगवान् को अपने भाव समर्पित कर दो। तुम्हे सब प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है, फिर अपने भाव भगवान् के प्रति क्यो अर्पित नही करते?

बहुत से लोग कहा करते है–अभी धर्मकरणी करके क्या करे? आजकल मोक्ष तो मिलता नही, मिलता है सिर्फ स्वर्ग, सो वह बहुत धर्मक्रिया से भी मिल सकता है और थोडी धर्मक्रिया से भी मिल सकता है। ऐसा कहने वालो से ज्ञानीजनो का कथन है कि ऐसा समझकर धर्मक्रिया करने मे आलस्य करना भूल है। धर्मक्रिया करते समय इसी भव मे मोक्ष मिलेगा, ऐसा मानना ही हितकर है। इसी भव से मोक्ष न मिला तो न सही, धर्मक्रिया करने से तुम मोक्ष के पथिक तो बनोगे ही। अतएव धर्मक्रिया करने मे प्रमाद मत करो। शास्त्र का कथन है कि जीव अगर आराधक हो, फिर भी इसी भव मे मोक्ष न जाये तो पन्द्रहवे भव मे तो अवश्य ही मोक्ष जायेगा। अतएव आराधक बनने मे प्रमाद करना योग्य नही है। तुम्हे जो सामग्री मिली है उसका उपयोग धर्मक्रिया मे करना ही आराधक होने का मार्ग है। परमात्मा की भक्ति करना, स्तुति करना सरल से सरल काम है। अगर इतना सरल काम भी तुम न कर सके तो दूसरे काम कैसे कर सकोगे?

इस ससार मे एक तो शुद्धता है और दूसरी अशुद्धता है। अशुद्धता से निकल कर शुद्धता मे प्रवेश करना ही हमारा कर्तव्य है। या मान लीजिए, आप के गाव मे दो तालाब है। एक तालाब का पानी मलीन और दूसरे का निर्मल है। ऐसी स्थिति मे आप किस तालाब मे स्नान करना चाहेगे? आप यही कहेगे कि निर्मल तालाब मे ही स्नान करना उचित है। इस विषय मे आप भूल नही करते। मगर यही बात अपने हृदय मे शुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को स्नान करा सकते है और अशुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को उसमे नहला सकते है। तो फिर अगर आप शुद्ध विचार लाकर उसमे आत्मा को स्नान कराए तो आपकी क्या हानि है? क्या ऐसा करने के लिए कोई धर्मशास्त्र निषेध करता है? चित्त शुद्धि के लिए सभी कहते है फिर चित्त को शुद्ध करके उसमे आत्मा को क्यो स्नान नही कराते? भगवान् ने कहा है–स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव आराधक होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् के इस कथन पर विश्वास रखकर स्तव और स्तुतिरूप मगल का अभ्यास कर देखो तो पता चलेगा कि स्तव–स्तुतिमगल से कितना अधिक लाभ होता है।

मुझे बचपन से ही णमोकार मन्त्र पर विश्वास था। जब मै समझता कि मुझ पर किसी प्रकार का सकट आ पडा है, तब मैं इस महामन्त्र का स्मरण करके शरण लेता था। णमोकार मन्त्र की शरण लेने से मेरा सकट मिट भी जाता था। लोग कहते हैं बालक णमोकारमन्त्र मे क्या समझे? मगर शास्त्र का

कथन है कि गर्भ का बालक भी श्रद्धावान् होता है। जब गर्भस्थ बालक भी श्रद्धावान् होता है तो चलता–फिरता बालक श्रद्धावान् क्यो नही हो सकता? गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि मेरी रम्भा धाय ने परमात्मा के नाम के विश्वास का जैसा प्रभाव मेरे ऊपर बचपन मे डाला था, वैसा प्रभाव अनेक ग्रन्थ पढने पर भी नही पड सकता।

इस प्रकार बालको पर भी परमात्मा के नाम का प्रभाव पडता है ओर वे भी परमात्मा के नाम पर विश्वास करते हैं। हा, उन्हे विश्वास कराने की आवश्यकता रहती है। क्या आप अपने बालको के लिए ऐसा प्रयत्न करते ह कि वे परमात्मा के नाम पर विश्वास रखे? तुम बालको को फैंसी कपडे तो पहनाते हो मगर उनसे बालको की आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्म–कल्याण तो धर्म पर श्रद्धा रखने से ही होता है। तुम अपने बालको को धनदोलत आदि की विरासत तो सापते हो मगर साथ ही साथ अपने धर्म की विरासत भी सापो। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा।

पन्द्रहवां बोल

कालप्रतिलेखन

स्तव–स्तुतिमगल करने के बाद स्वाध्याय किया जाता है, मगर स्वाध्याय यथासमय होना चाहिए। अकाल मे स्वाध्याय करने का निषेध है। इस कारण अब कालप्रतिलेखन के विषय मे प्रश्न किया जाता है।

मूलपाठ

प्रश्न 15–काल पडिलेहणयाए णं भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 15–कालपडिलेहणयाए ण णाणावरणिज्ज कम्म खवेई।

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन्! स्वाध्याय आदि कालप्रतिलेखन से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–काल मे स्वाध्याय आदि करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

भगवान् के इस उत्तर पर विचार करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि काल का अर्थ क्या हे?

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु हे किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम हैं। काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ओर काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार मे ज्योतिष शास्त्र बना ह। काल को समझने के लिए ही घडी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले हे। शास्त्र मे कहा है कि काल भी छह द्रव्यो मे से एक द्रव्य

कथन है कि गर्भ का बालक भी श्रद्धावान् होता हे। जव गर्भस्थ बालक भी श्रद्धावान् होता है तो चलता–फिरता बालक श्रद्धावान् क्यो नही हो सकता? गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा हे कि मेरी रम्भा धाय ने परमात्मा के नाम के विश्वास का जैसा प्रभाव मेरे ऊपर बचपन मे डाला था, वेसा प्रभाव अनेक ग्रन्थ पढने पर भी नही पड सकता।

इस प्रकार बालको पर भी परमात्मा के नाम का प्रभाव पडता हे ओर वे भी परमात्मा के नाम पर विश्वास करते हैं। हा, उन्हे विश्वास कराने की आवश्यकता रहती है। क्या आप अपने बालको के लिए ऐसा प्रयत्न करते है कि वे परमात्मा के नाम पर विश्वास रखे? तुम बालको को फेसी कपडे तो पहनाते हो मगर उनसे बालको की आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्म–कल्याण तो धर्म पर श्रद्धा रखने से ही होता है। तुम अपने बालको को धनदौलत आदि की विरासत तो सोपते हो मगर साथ ही साथ अपने धर्म की विरासत भी सौपो। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा।

पन्द्रहवां बोल

कालप्रतिलेखन

स्तव–स्तुतिमगल करने के बाद स्वाध्याय किया जाता है, मगर स्वाध्याय यथासमय होना चाहिए। अकाल मे स्वाध्याय करने का निषेध है। इस कारण अब कालप्रतिलेखन के विषय मे प्रश्न किया जाता है।

मूलपाठ

प्रश्न 15–काल पडिलेहणयाए णं भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 15–कालपडिलेहणयाए ण णाणावरणिज्ज कम्म खवेई।

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन्! स्वाध्याय आदि कालप्रतिलेखन से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–काल मे स्वाध्याय आदि करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

भगवान् के इस उत्तर पर विचार करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि काल का अर्थ क्या है?

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम हैं। काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार मे ज्योतिष शास्त्र बना है। काल को समझने के लिए ही घडी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले है। शास्त्र मे कहा है कि काल भी छह द्रव्यो मे से एक द्रव्य

है, किन्तु काल स्वतन्त्र द्रव्य नही वरन् औपचारिक द्रव्य है। पचास्तिकाय की षड्गुणहानि वृद्धि का माप काल कहलाता है, अतएव काल स्वतन्त्र द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है–भाव– साधन धञन्त से, कर्मसाधन धञन्त से और कारण साधन धञन्त से। भावसाधन धञन्त से काल की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'कलन काल' अर्थात् गणना को काल कहते हैं। 'कल्यते य स काल' अर्थात् जिसकी गणना की जाये वह काल है यह काल शब्द की कर्म साधन धञन्त व्युत्पत्ति है। करणसाधन धञन्त की दृष्टि से काल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–'कल्यतेऽनेन इति काल' अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाये वह काल है। इस प्रकार काल की व्युत्पत्ति भिन्न–भिन्न प्रकार से की जाती है। इन सब व्युत्पत्तियो का सग्रह करते हुए एक गाथा मे कहा गया है–

कलण पज्जायाणं कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु।
कलयंति तयं तम्मिव समशइ कला समूहो वा।

इस गाथा का भाव यह है कि यह नया है, यह पुराना है, इत्यादि व्यवहार को भी काल ही कहते है। समय घडी, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, ओर सवत्सर आदि के व्यवहार का कारण भी काल ही है। यह एक मास का हे यह दो महिने का है, यह शरदऋतु का हे इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा किया जाता है, वह काल है। ज्ञानीजन जिसे समय कहते हे वह भी काल ही है। समय कला आदि जिसका काल से विभाग नही हो सकता–का समूह भी काल ही कहलाता है।

अन्य दर्शनकारो ने काल को बहुत अधिक महत्व दिया हे। यहा तक कि कोई–कोई दर्शनकार तो उसे ईश्वर के समान मानत ह। उनका कथन हे कि यह सारा ससार काल के गाल म समाया हुआ हे। काल ही विश्व की सृष्टि करता हे। किन्तु जेनदर्शन अनेकान्तवाद का समर्थक हे। यह किसी अपेक्षा से ऐसा मानता हे ओर दूसरी अपेक्षा से इस कथन का निषध भी करता हे। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार गणना को या जिसक द्वारा गणना की जाये उसे अथवा जिसकी गणना की जाये उसे काल कहत ह। काल द्रव्य रूप भी हे ओर पर्याय रूप भी हे। काल का पर्यायसमय आदि, जिनका दूसरा भाग नही हो सकता, वह भी काल ही कहलाता ह अथवा जिसक द्वारा वस्तु का ज्ञान हो, वह भी काल हे।

काल की सहायता के बिना वस्तु का ज्ञान नही हो सकता। वस्तु को ग्रहण करने मे काल का विचार करना ही पडता है। इसी प्रकार विवाह सम्बन्ध आदि मे भी काल की सहायता ली जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तुओ का माप काल द्वारा ही किया जाता है।

काल तो प्रवर्त्त हो रहा है परन्तु भगवान् से जो प्रश्न पूछा गया है, वह यह है कि काल का प्रतिलेखन करने से अर्थात् विचार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि काल का विचार करना आवश्यक है। काल का प्रतिलेखन न करने से बहुत अनर्थ होते है। काल कैसा है और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात का विचार न करने से अत्यन्त हानि होती है। काल के विरुद्ध व्यवहार करने के कारण हानि होना स्वाभाविक है।

कितने ही लोग ऐसे है जो किसी काम के बिगड जाने पर सारा दोष काल के मत्थे मढ देते हैं, मगर यह उनकी भूल है। उसमे काल के विरुद्ध कार्य करने वाले का दोष है, काल का नही। काल खराब हो तो उसका सुध ार भी किया जा सकता है। काल का सुधार अगर सभव न होता तो शास्त्र मे उसका उपक्रम और द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, यह चार भेद न बतलाये गये होते। काल का भी उपक्रम होता है, फिर भले ही वह परिकर्म अर्थात् सुध ार के रूप मे हो या वस्तुविनाश के रूप मे हो। यद्यपि काल का प्रभाव अवश्य पडता है किन्तु उद्योग करने से काल मे सुधार किया जा सकता है।

इस काल मे कौन–सा कार्य करना चाहिए और कौन–सा कार्य नही करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। काल को दृष्टि मे रखकर रहन–सहन और खान–पान मे भी परिवर्त्तन करना आवश्यक हो जाता है। काल को दृष्टि के सम्मुख रखकर उचित परिवर्त्तन न करने से अनेक प्रकार की हानिया होती हे। काल तो अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता ही जाता है मगर काल का विचार न रखने वाले ओर अकाल कार्य करने वाला अवश्य दु खी होता है। यह बात ध्यान मे रखते हुए भगवान् से यह प्रश्न किया गया ह कि–भगवन्! काल का प्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है? शास्त्रकार कहते हैं–

काले काल समायरे

अर्थात्–जिस काल मे जो कार्य करना योग्य हे, उस काल मे वही कार्य करना चाहिए। स्वाध्याय करते समय सध्या आदि का ध्यान रखना

चाहिए ओर देखना चाहिए कि यह काल स्वाध्याय करने का हे या प्रतिक्रमण करने का। इस प्रकार विचार कर जो काल, जिस कार्य के लिए नियत हो उस काल मे वही कार्य करना चाहिए। ऐसा न हो कि स्वाध्याय के समय प्रतिक्रमण किया जाये और प्रतिक्रमण के समय स्वाध्याय किया जाये। प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना उचित हे, अकाल मे नही। अकाल मे कार्य करने का निषेध किया है।

शास्त्र मे इस वात पर विचार किया गया हे कि किस दिन सवत्सरी और पक्खी वगैरह मानना चाहिए। इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि सवत्सरी या पक्खी किस प्रमाण के अनुसार मानना चाहिए? इस प्रश्न का सामान्य समाधान यह है कि सवत्सरी आदि आगमानुसार माननी चाहिए। लेकिन मेरी मान्यता के अनुसार शास्त्र मे ज्योतिप सम्वन्धी जो वाते आई हे, उनके आधार पर कोई ठीक पचाग निकल सकना सभव नही है। फिर यह प्रश्न किया जा सकता हे कि अगर वर्त्तमानमे विद्यमान अगोपागो के आधार पर अगर कोई पचाग नही बन सकता तो ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि वर्त्तमान मे जो अगोपाग मोजूद हे उनके आधार से, मेरी मान्यता के अनुसार पचाग नही बन सकता। अतएव अगर सूत्र का नाम लेकर कोई यह कहता हे कि हम पक्खी सवत्सरी की आराधना सूत्रोक्त तिथि आदि के आधार पर करते हे तो उनका यह कथन मिथ्या हे, क्योकि वर्त्तमान मे सूत्रो द्वारा यह निर्णय नही हो सकता कि किस प्रकार या किस रीति से ज्योतिष सम्बन्धी गणना करनी चाहिए या तिथि माननी चाहिए। आजकल लोकिक ओर जित व्यवहार के आधार पर पक्खी सवत्सरी आदि की आराधना की जाती हे, वह ठीक हे ओर एक प्रकार से सूत्रसम्मत हे। पक्खी सवत्सरी आदि का आराधन इसी प्रकार करना उचित हे।

शास्त्र मे पाच प्रकार के व्यवहार कहे गये ह– (1) आगम–व्यवहार (2) सूत्र–व्यवहार (3) आज्ञा–व्यवहार (4) धारण–व्यवहार आर (5) जित–व्यवहार। जब आगम–व्यवहार वगेरह कम होत जात ह या हा जात हे तब पाच आचार्य मिलकर जो नियम बनाते ह, उसे जित–व्यवहार कहत हे। पक्खी–सवत्सरी आदि जित–व्यवहार के अनुसार ही करनी चाहिए किन्तु आगम के नाम पर इस वात को घोटकर चिकना करना उचित नही ह। पक्खी या सवत्सरी के दिन तो अपने पापो की ही आलोचना करनी होती ह ता फिर इस वात को लेकर निकम्मे झगडे खडे करना कसे उचित कहा जा सकता हे?

टीकाकार का कथन है कि काल के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण हो सकता है और काल के अनुसार ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ साधु दिन रहते ही भोजन कर सकते है, रात्रि के समय नही, परन्तु दिन कितना बडा होता है और कब से कब तक दिन समझना चाहिए, इसका कोई एकान्त निश्चय नही हो सकता। अतएव यही कहा जाता है कि कालानुसार जितने मुहूर्त्त का दिन हो तदनुसार दिवस की मर्यादा मे ही साधु भोजन कर सकते है, क्योकि दिन छोटा भी होता है और बडा भी होता है। ऐसी दशा मे यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि इस समय से इस समय तक या इतने काल को दिवस मानना चाहिए। मान लीजिए कि एक आदमी चौविहार का त्यागी है। वह रात्रि को खाता–पीता नही है। वह कार्यवश भारत से अमेरिका गया। भारत मे जिस समय दिन होता है, वहा रात्रि होती है, ऐसा सुना जाता है और जब वहा रात्रि होती है तब यहा दिन होता है। ऐसी स्थिति मे वह चौविहार के प्रत्याख्यान का पालन किस जगह के दिवस के अनुसार करेगा? ऐसे मनुष्य के विषय मे यही कहा जायेगा कि वह जब तक अमेरिका मे रहे तब तक वहा के दिन के अनुसार ही चौविहार का प्रत्याख्यान करे। इस पर विचारणीय बात यह उपस्थित होती है कि जब यह बात व्यवहार के अनुसार ही मानी जाती है तो सवत्सरी या पक्खी वगैरह भी लौकिक और जित–व्यवहार के अनुसार न मान कर आगम के नाम पर झगडा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?

साधु–सम्मेलन के समय सवत्सरी–पक्खी आदि का प्रश्न सामने आया था। तब सब ने मिलकर यह निर्णय किया था कि यह विषय कान्फ्रेस को सौप दिया जाये और कान्फ्रेस जो निर्णय करे तदनुसार ही सवत्सरी–पक्खी आदि की आराधना किया जाये। इस प्रकार का प्रस्ताव करके साधुओ ने अपने हस्ताक्षर करके यह विषय कान्फ्रेस को सौप दिया है। फिर भी अगर कोई साधु इस निर्णय के विरुद्ध कोई बात कहता है, तो कैसे उचित कही जा सकती है? यो तो प्रत्येक का मस्तिष्क और विचार जुदा–जुदा होता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने विचारो की बात करने लगे और निश्चय की हुई बात के विरुद्ध मत प्रकट करे तो कैसे काम चल सकता है? शास्त्र मे जितव्यवहार ही माननीय बतलाया है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है–

धम्मं जिय च ववहार बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं गरह नामिगच्छई।।

अर्थात्–धर्म के लिए आचार्यों ने मिलकर जो जिताचार बनाया हे, उसी जिताचार के अनुसार व्यवहार करने वाला कदापि निन्दापात्र नही बनता बल्कि आराधक ही रहता है।

इस कथन के अनुसार पाच महापुरुष मिलकर, निस्पृहतापूर्वक विचार करके जो नियम–निर्णय करते हैं, यह जिताचार कहलाता हे और जिताचार के अनुसार चलना उचित है। आजकल के लोगो की बुद्धि मे उत्पात भरा रहता है। अतएव सवत्सरी वगैरह के नाम पर बेकार क्लेश खडा किया जाता है। बुद्धिमान पुरुषो को इस प्रकार के क्लेश से बचना चाहिए।

कालप्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा हे कि कालप्रतिलेखन से जीव के ज्ञानावरण आदि कर्मो की निर्जरा होती है।

भगवान् ने कालप्रतिलेखन का कितना लाभ बतलाया है? अतएव कालप्रतिलेखन करना चाहिए ओर जिस काल मे जो काम करने योग्य हो उस काल मे वही कार्य करना चाहिए। कालानुसार कार्य करने से आत्मा का कल्याण होता हे।

सोलहवां बोल

प्रायश्चित्त

शास्त्र मे कालप्रतिलेखन के विषय मे विचार किया गया है। अगर कालप्रतिलेखन करने मे कोई त्रुटि रह गई हो अर्थात् अकाल मे स्वाध्याय आदि किया हो तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतएव यहा प्रायश्चित्त पर विचार किया जाता है। प्रायश्चित्त के सम्बन्ध मे भगवान से प्रश्न किया गया है–

मूलपाठ

प्रश्न16–पायच्छित्त करणेण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 16–पायच्छित्त करणेण पावकम्म विसोहि जणयइ, निरइयारे यावि भवइ, सम्म च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्ग च मग्गफल च विसोहेइ, आयार च आयारफल च आराहेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन्! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–प्रायश्चित्त करने से पाप की विशुद्धि होती है और जीव व्रतो मे लगे अतिचारो से रहित हो जाता है, शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण करके कल्याणमार्ग और फल की भी विशुद्धि करता है तथा क्रमश चारित्र एव चारित्र के फल (मोक्ष) का आराधन कर सकता हे।

व्याख्यान

सन्मति प्राप्त करना या पाप का छेदन करना एक ही बात हे। भले ही इनमे शाब्दिक अन्तर हो मगर वास्तविक अन्तर नही हे। प्रायश्चित्त का

अर्थ पाप का छेदन करना या चित्त की शुद्धि करना हे। पाप का छेदन करना, चित्त की शुद्धि करना अथवा सन्मति प्राप्त करना एक ही बात हे।

प्रायश्चित्त के प्रश्न के पहले कालप्रतिलेखन का प्रश्न आया हे। स्वाध्याय आदि के लिए काल का प्रतिलेखन करने से या स्वाध्याय न करने से अथवा अकाल मे स्वाध्याय करने से प्रायश्चित्त आता हे।

जो मनुष्य कोई कार्य करता है, उसी के कार्य मे गुण या दोष हो सकता है। काम ही न करने वाले के काम मे गुण–दोष कहॉ से आयेगा! घोडे पर सवारी करने वाला ही कभी गिर सकता है। जो कभी घोडे पर सवार ही नही होता, उसके लिए गिरने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। इसी प्रकार जो स्वाध्याय करता है, उसी को स्वाध्याय सम्बन्धी अतिचार लग सकता हे और अतिचार को दूर करने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। सब व्युत्पत्तियो को बतलाने का समय नही है, अतएव सक्षेप मे सिर्फ इतना ही कहता हू कि 'प्राय ' और 'चित्त' इन दो शब्दो के मेल प्रायश्चित्त शब्द बना है। टीकाकार ने इनका अर्थ करते हुए कहा हे–

प्राय· पाप विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।

प्राय का अर्थ हे–पाप। अत्यन्त रूप से आत्मा का अतिचार या दोषो मे गमन करना पाप हे और 'चित्त शुद्धि' धातु से चित्त शब्द बना हे, जिसका अर्थ विशोधन है। इस प्रकार जिस अनुष्ठान से या व्रत से पाप का विशोधन हो उसे प्रायश्चित्त कहते है। इस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया हे कि प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

प्रायश्चित्त चार प्रकार का हे– (1) नाम (2) स्थापना (3) द्रव्य ओर (4) भाव से। नाम प्रायश्चित्त ओर स्थापना प्रायश्चित्त तो केवल उच्चार या कथन रूप ही हे। द्रव्य प्रायश्चित्त लोकरजन के लिए किया जाता हे। वह एक प्रकार से लोक–दिखावा ही हे। हृदय के पापो को नष्ट करने की भावना से जो व्रत या अनुष्ठान किया जाता हे, वह भाव प्रायश्चित्त हे।

प्राय शब्द का अर्थ 'विशेष' भी हे। इस पर प्रश्न हो सकता हे कि विशेष पाप किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि सूक्ष्म अर्थात् जिसका प्रतिकार न किया जा सके उस अप्रतिकारी पाप का प्रायश्चित नहीं होता, वरन् जो पाप प्रतिकारी हे अर्थात् जिस पाप का प्रतिकार करना शक्य हे ओर जो कार्य का प्रायश्चित्त होता हे। यहा विशेष शब्द स उसी पाप का ग्रहण करने का सकेत किया गया हे। उदाहरणार्थ–कोई–कोई प्राणातिपात

ऐसा होता है, जिसका प्रतिकार नही किया जा सकता। जैसे, शास्त्रीय विधि के अनुसार एक जगह से पैर उठाकर दूसरी जगह रखने से भी हिसा होती है। किन्तु इस प्रकार की हिसा का निवारण नही हो सकता। यह हिसा शरीर के साथ लगी हुई है।—जब तक शरीर तब तक यह हिसा भी अवश्यभावी है। अतएव इस प्रकार की हिसा का प्रायश्चित्त भी नही है। एक हिसा शास्त्र द्वारा निषिद्ध है और दूसरी शरीर के साथ लगी है। दोनो प्रकार की हिसा मे से शास्त्रनिषिद्ध हिसा का तो प्रतिकार हो सकता है परन्तु शरीर के साथ लगी हुई हिसा का प्रतिकार नही हो सकता। अतएव शरीर के साथ लगी हिसा का प्रायश्चित्त भी नही है।

शास्त्र मे जिन पापो का वर्णन है, उन सब के दो कारण हैं। कोई—कोई कप्पिया पाप हैं और कोई—कोई दप्पिया पाप है। अर्थात् कोई पाप तो लाचार होकर करना पडता है और कोई पाप अहकार से किया जाता है। पाप भले ही लाचार होकर किया जाये या अहकार से किया जाये, पर पाप तो दोनो ही है। पाप का प्रकार कोई भी क्यो न हो मगर पाप आखिर है तो पाप ही। इस प्रकार के पाप के लिए भावप्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—भावप्रायश्चित्त द्वारा जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पाय' या प्राय' का अर्थ पाप है और प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का विशोधन करना है। प्रायश्चित्त करने से पाप विशोधन होता है और जीव निरतिचार बनता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मर्यादा का उल्लघन होना अतिचार कहलाता है। प्रायश्चित्त से अतिचार मिट जाता है और जीव निरतिचार बनता है।

भगवान् द्वारा दिये गये उत्तर मे यह पाठ आया है—

सम्म च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेई।

इस पाठ का अर्थ यह है कि आगमोक्त विधि से प्रायश्चित्त करने वाला जीव कल्याणमार्ग और उसके फल का विशोधन करता है।

सम्यग्दर्शन मार्ग है और ज्ञानादि गुण उसका फल है। प्रायश्चित्त से यह मार्ग और उसके फल की विशुद्धि होती है। मगर यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान से दर्शन होता है या दर्शन से ज्ञान होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय से तो दर्शन से ज्ञान होता है परन्तु व्यवहार मे ज्ञान से दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यहा निश्चय—नय को दृष्टिगोचर रखकर कहा गया है कि दर्शन मार्ग है और ज्ञान उसका फल है, क्योकि दर्शन

से रहित ज्ञान प्रमाण नही माना जाता। जिस ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा वही अज्ञान है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर मे ऐसा पाठ आया है कि–

'आयारं च आयारफलं च आराहेइ।'

अर्थात् जीव आचार और उसके फल का भी आराधक बनता है। आचार अर्थात् सयम का फल मोक्ष हे। इस प्रकार भावप्रायश्चित्त करने वाला दर्शन की भी विशुद्धि करता है, ज्ञान की भी विशुद्धि करता है और आचार तथा उसके फल मोक्ष का भी आराधक बनता है।

प्रायश्चित्त शब्द इतना व्यापक है कि उसे समस्त दर्शनकारो ने स्वीकार किया हे। जेनशास्त्रो के अनुसार प्रायश्चित्त से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि होती है। श्री स्थानागसूत्र मे तीसरे स्थानक मे प्रायश्चित्त के तीन भेद, आठवे स्थानक मे आठ भेद, नोवे स्थानक मे नो भेद और दसवे स्थानक मे दस भेद बतलाये हैं। इन सब का सार यही है कि प्रायश्चित्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अत प्रायश्चित्त करना चाहिए। अन्य दार्शनिको ने भी प्रायश्चित्त को स्वीकार किया हे, पर जेनशास्त्र कहते ह कि प्रायश्चित्त द्वारा पाप का विशोधन करो। पाप के सन्ताप से बचते रहने की इच्छा करना ओर पाप का त्याग न करना प्रायश्चित्त नही हे। पाप के परिणाम से अर्थात् पाप के दण्ड से घबराने की आवश्यकता नही, वरन् पाप से भयभीत होना चाहिए।

कितनेक दर्शनकार कहते हैं पाप तो होता ही रहता हे। पाप से बचना शक्य नही हे, अत पाप के परिणाम से बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए। मगर जेनदर्शन कहता हे कि पाप के फल स बचन का प्रयत्न नही करना चाहिए। अन्य दर्शनकारा का कथन ओर उसकी असगतता आजकल के युगप्रवर्तक माने जाने वाले गाधीजी की आत्मकथा का उदाहरण देकर बतलाता हू।

गाधीजी जब विलायत जा रहे थे तब राजकोट म उन्हान अपनी माता के आग्रह से अपने सम्प्रदाय के बेचरजी स्वामी नामक जन–साधु क समक्ष मदिरा, मास आर परस्त्री का त्याग किया था। इस त्याग क प्रभाव स गाधीजी विलायत म मदिरा आदि अपवित्र वस्तुआ क सवन क पाप स बच सके थे। विलायत से भारत लोटने के पश्चात् वही फिर दक्षिण अफ्रीका गय थे। वहा का अनुभव लिखते हुए गाधीजी कहत ह–

कोट्स नामक ईसाई ने ईसाई धर्म के विषय मे मुझ से बहुत तर्क-वितर्क किया और मैने भी उसके सामने बहुतेरी दलीले दी। मगर मेरी दलीले उसके समझ मे नही आई-क्योकि उसे मेरे धर्म पर अश्रद्धा ही थी। वही तो उलटा मुझे ही अज्ञान-कूप से बाहर निकालना चाहता था। उसका कहना था कि दूसरे धर्मो मे भले ही थोडा-बहुत सत्य हो मगर पूर्ण सत्य स्वरूप ईसाई धर्म स्वीकार किये बिना तुम्हे मुक्ति नही मिल सकती। ईसु की कृपादृष्टि के बिना पाप धुल नही सकते और तमाम पुण्यकार्य निरर्थक हो जाते हैं। जब मैं कोट्स की दलीलो से प्रभावित न हुआ तो मेरा परिचय ऐसे ईसाइयो के साथ कराया गया जिन्हे वह अधिक धर्मचुस्त समझता था। जिनके साथ उसने मेरा परिचय कराया, उनमे एक प्लीमथ ब्रदरन का कुटुम्ब था। प्लीमथ ब्रदरन नामक एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स ने कुछ ऐसे परिचय कराये जो मुझे बहुत अच्छे लगे। उनके परिचय से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग ईश्वर से डरते थे, मगर इस परिवार ने मेरे सामने यह दलील रखी कि तुम हमारे धर्म की खूबी समझ नही सकते। तुम्हारे कहने से हम जान सकते हैं कि तुम्हे क्षण-क्षण अपनी भूल का विचार करना पडता है और सुधार करना पडता है। अगर भूल न सुधरे तो तुम्हे पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना पडता है। इस क्रियाकाड से तुम कब छुटकारा पाओगे और कब तुम्हे शाति मिल सकेगी। हम सब पापी हैं, वह कितना परिपूर्ण है। हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी आखिर मुक्ति, तो हमे चाहिए ही। हम पाप का बोझ कैसे उठा सकते है। इसलिए हम उस पाप का बोझ ईसु पर लाद देते है। ईसु ईश्वर का एकमात्र निष्पाप पुत्र है। ईसु को ईश्वर का वरदान है जो ईसु को मानता है उसका पाप ईश्वर धो डालता है। यह ईश्वर की अगाध उदारता है। ईसु की मुक्ति सम्बन्धी योजना हमने स्वीकार की है, अतएव हमे हमारे पाप लगते ही नही है। पाप तो होता ही है। इस जगत् मे पाप किये बिना रह ही किस प्रकार सकते है? अतएव ईसु ने सारे ससार के पाप एक ही बार प्रायश्चित्त करके धो डाले है। ईसु के इस महाबलिदान को जो लोग स्वीकार करते है, वे उस पर विश्वास करके शाति-लाभ कर सकते है। कहा तुम्हारी अशाति और कहा हमारी शान्ति।

यह दलील मेरे गले न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उन्हे उत्तर दिया-अगर सर्वमान्य ईसाईधर्म यही हे तो मुझे वह नही चाहिए। में पाप के परिणाम से मुक्ति नही चाहता, मै पापवृत्ति से और पापकर्म से मुक्त होना चाहता हू।'

गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे इस आशय का उल्लेख किया है। इस उल्लेख का सरल अर्थ यह है कि गाधीजी कहते थे कि पाप के परिणाम से नही बचना चाहिए वरन् पापवृत्ति से बचना चाहिए। पापवृत्ति से बचकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। जब उनके ईसाई मित्रो का कहना था कि पाप का सारा बोझ ईसु पर ही डाल देना चाहिए। ईसु पर विश्वास रखने से वह हमारे समस्त पाप धो डालता है। गाधीजी ने इस दलील के उत्तर मे कहा था कि पाप तो करना मगर उसके दड न भोगना, यह उचित कैसे कहा जा सकता है? मैं तो पाप के दड से नही बचना चाहता। मै पापवृत्ति से ही बचना चाहता हूँ।

इस प्रकार दूसरे लोग पाप से बचने के बदले पाप के फल से बचना चाहते हैं, परन्तु जैनधर्म कहता है कि पाप के परिणाम से बचने की कामना मत करो, पाप से ही बचने की इच्छा करो ओर उसके लिए प्रायश्चित्त करो।

नरक मे दो प्रकार के जीव है—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझते हैं, नरक को नही। मगर मिथ्यादृष्टि नरक को बुरा समझ कर गालिया देते है। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझता है और पाप को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करता है, मगर मिथ्यादृष्टि नरक को खराव समझता है ओर उसे गालिया देकर ओर अधिक पापकर्म उपार्जन करता हे। जेनशास्त्र का आदेश हे कि पाप से बचो, पाप के परिणाम से बचने की इच्छा मत करो।

इस कथन को दृष्टि मे रखकर तुम अपने कर्त्तव्य का विचार करो। इस कथन का सार यही हे कि पापवृत्ति से बचते रहना चाहिए, फिर भी कदाचित् पाप हो जाये तो उसके फल से बचने की कामना नही करनी चाहिए वरन् फल भोगने के लिए तेयार रहना चाहिए। मानना चाहिए कि मे जो दुख भोग रहा हू वह मेरे ही पाप का परिणाम हे, चाहे वह फल इसी जन्म के पाप का हो अथवा किसी ओर जन्म का हो। भगवतीसूत्र म इस सम्बन्ध म प्रश्न पूछा गया हे—

से नून भते! सकडा कम्म वेदयति, परकडा वेदयति?

अर्थात् हे भगवन्! जीव अपने किये कर्मों स दुख पात ह या दूसरा के किये कर्मों से दुख पाते ह?

इस प्रश्न के उत्तर म भगवान् ने कहा—

गोयमा! सकडा कम्म वेदयति नो परकडा।

अर्थात् हे गोतम! जीव अपन कर्मों का ही भागता हे दूसरा क किय कर्मों को नही भोगता।

यद्यपि भगवान् ने ऐसा कहा है लेकिन आजकल तो यह देखा जाता है कि अगर कोई खभे से टकराता है तो वह खभे को ही दोष देने लगता है, मगर अपनी असावधानी का ख्याल नही करता। इसी प्रकार अज्ञानी अपने पापकर्मो की ओर नजर नही डालते बल्कि दूसरो को दोष देने को तैयार रहते है। इससे विरुद्ध ज्ञानीजन अपने ही पापो को देखते है ओर उनका प्रायश्चित्त करते है। तुम भी अपने पापो को देखो और उनका प्रायश्चित्त करो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

सत्तरहवां बोल

क्षमापना

प्रायश्चित्त के विषय मे विचार किया जा चुका है। यहा क्षमापणा के सम्बन्ध मे विचार करना है। प्रायश्चित्त ओर क्षमापणा मे आपस मे क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि जब प्रायश्चित्त द्वारा पाप का छेदन कर डाला जाता हे तब चित्त समतोल बन जाता हे। चित्त की समतोल अवस्था होने पर यह विचार उत्पन्न होता हे कि मेने अमुक–अमुक का अपराध किया है ओर अमुक का अमुक प्रकार से दिल दु खाया हे। अतएव मै उससे क्षमायाचना करके निर्वेर बनूं। इस प्रकार विचार उत्पन्न होने से क्षमा मागने का निश्चय होता हे। इसी कारण प्रायश्चित्त के पश्चात् क्षमापणा के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा गया हे।

मूलपाठ

प्रश्न 17– खमावणयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 17– खमावणयाए ण पल्हायणभाव जणयइ, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाण भूय जीव सतेसु मित्तीभाव मुप्पाएइ मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भाव विसोहि काऊण निब्भए भवइ।।

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवान्! क्षमा मागने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर–क्षमा मागने से चित मे प्रसन्नता होती हे ओर चित म प्रसन्नता होने से जीव जगत् के समस्त प्राणी, भूत, जीव ओर सत्व–इन चारा प्रकारा के जीवों मे मित्रभाव उत्पन्न कर सकता ह। ओर मित्रभाव पाकर अपनी भावना विशुद्ध करके अन्त मे निर्भय बनता हे।

व्याख्यान

सबसे पहले यह विचारना चाहिए कि क्षमापणा का मतलब क्या है? किसी के ऊपर द्वेष उत्पन्न हुआ हो, वैमनस्य हुआ हो या किसी का दिल दु खाया हो तो उस दु ख आदि को दूर करने के लिए और उसके चित्त को शान्ति पहुचाने के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, उस क्रिया को क्षमापणा कहते है। क्षमा वही दे सकता है और वही माग सकता है, जिसने प्रायश्चित्त द्वारा अपना मन शान्त कर लिया हो। इस प्रकार दूसरे के मन को जिसके द्वारा शान्ति पहुचाई जाती है, उसी क्षमापणा के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया गया है कि हे भगवन्! क्षमापणा करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है–हे शिष्य! क्षमापणा करने से प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न होती है।

प्राण धारण करने वाला प्राणी कहलाता है। जो भूतकाल मे भी था उसे भूत' कहते हैं। जो भूतकाल मे जीवित था, वर्त्तमान मे जीवित है और भविष्य मे जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। और जो अपनी ही सत्ता से जीवित है उसे 'सत्व कहते हैं। प्राणी शब्द से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवो का बोध होता है। भूत शब्द से वनस्पति आदि का बोध होता है। सत्व शब्द से पृथ्वी, पानी, वायु और अग्निकाय के जीवो का ग्रहण होता है। जीव शब्द से पचेन्द्रिय प्राणियो का ग्रहण होता है। भेद –विचार से इस प्रकार का बोध होता है।

भगवान् का कथन है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को खमाने वाला सभी जीवो के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न करता है।

अपनी परम्परा मे तो चौरासी लाख जीवयोनियो को खमाने की रीति प्रचलित है, मगर जहा विरोध उत्पन्न हुआ हो वहा क्षमा मागना ही सच्ची क्षमायाचना की कसौटी है। दूसरे के दिल को दु ख पहुचाया हो, हृदय मे कलुषता उत्पन्न की हो, इसी प्रकार दूसरे की तरफ से अपने हृदय मे विरोध या कलुषता की उत्पत्ति हुई हो तो उस विरोध और कलुषता को क्षमा के आदान–प्रदान द्वारा शान्त कर डालना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय अथवा द्वीन्द्रिय आदि जीवो की ओर से तुम्हे किसी प्रकार का सताप हुआ हो तो उसे भूल जाना चाहिए ओर हृदय मे किसी भी प्रकार की कलुषता नही रहने देना चाहिए। अपना हृदय सर्वथा वेरहीन बना लेना ही क्षमापणा का उद्देश्य है। विश्व के समस्त जीवो के प्रति निर्वेरभाव रखना ओर विश्वमेत्री पनपाना एव विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श ओर उद्देश्य हे। सब

जीव तो खैर, दूर रहे, किन्तु मनुष्यो का ससर्ग विशेष रूप से रहता है और इस कारण मनुष्य–मनुष्य के बीच कलुषता होना अधिक सभव है। अत मनुष्यो के प्रति निर्वैरभाव प्रकट करने के लिए, सर्वप्रथम अपने घर के लोगो के साथ अगर कलुषता हुई हो या उनके द्वारा कलुषता हुई हो तो उसे हृदय से निकाल कर क्षमा धारण करनी चाहिए और इस प्रकार हृदय शुद्ध करके धीरे–धीरे विश्वमैत्री का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह विश्व के जीवमात्र के प्रति क्षमा का आदान–प्रदान करने से चित्त मे प्रसन्नता होती हे और चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है। अगर दूसरे की ओर से तुम्हारे हृदय को चोट पहुची हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षमा देना चाहिए ओर यदि तुम ने किसी का हृदय दु खी किया हो तो तुम्हे नम्रतापूर्वक क्षमा मागनी चाहिए। यही सच्ची क्षमापणा है।

तुम प्राय हमेशा ही क्षमापणा करते हो परन्तु सब से पहले यह देखो कि तुम्हारी क्षमापणा सच्ची है–हृदय पूर्वक है अथवा केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही है? देखना, कही ऐसा तो नही होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय मे तो भाई के साथ क्षमापणा का व्यवहार करो मगर उपाश्रय से बाहर निकलने के बाद भाई पर दावा किया हुआ मुकदमा चालू रखते हो? इस तरह बाहर से क्षमाभाव बतलाओ ओर भीतर–भीतर वेरभाव रखो ता वह सच्ची क्षमापणा नही हे। सच्चे भाव से क्षमापणा की जाये तो आपसी झगडे आगे चालू नही रह सकते। सच्ची क्षमापणा करने वाला तो यही कहेगा कि अब तुम्हारे ओर मेरे बीच केस नही चल सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो हमारा देना दे जाना, नही तो तुम्हारी इच्छा! तुम्हारे प्रति अब मेरे अन्त करण म किसी प्रकार का वेरभाव नही हे। अब तुम्हारे ऊपर मेरा मेत्रीभाव हे। सच्चा सम्यग्दृष्टि ऐसी क्षमापणा करता हे।

तुम गृहस्थ ठहरे। तुम्हारी आपस मे खटपट हो जाना स्वाभाविक हे। मगर कभी–कभी हम साधुओ मे भी खटपट हो जाती ह। जहा दा चूडिया होगी, आवाज होगी ही। इस कथन के अनुसार साधुआ म भी परस्पर खटपट हो जाती हे। मगर साधुओ के लिए शास्त्र कहता हे कि अगर किसी क साथ तुम्हारी खटपट हो गई हो तो जब तब उससे क्षमा न माग ता तब तक दूसरा काम मत करो। इसके लिए शास्त्र म कहा हे–

भिक्खाय अहिगरण कट्टु अवि ओस्मिता (?) नो से कप्पई गाहावई कुल मत्ताय पाणय वा निक्खमितिए वा पविसित्तए वा बहिया विहारभूमि वा अविहार भूमि निक्खमितए वा पविसितए वा।

इस सूत्र पाठ का भावार्थ यह है कि अगर साधुओ मे आपस मे अनबन हो गई हो तो, हे साधुओ! पहले उस अनबन को दूर कर क्षमापणा करो। जहॉ तक तुम अपना अपराध क्षमा न करवा लो तहॉ तक किसी के घर आहार पानी लेने न जाओ, शौचादि मत जाओ और न स्वाध्याय भी करो।

इस प्रकार शास्त्र की आज्ञा है कि अगर साधुओ मे आपस मे किसी तरह की अनबन हो गई हो तो उसी समय खमा लेना चाहिए। जब तक साधु क्षमापणा न कर ले तब तक वह आहार–पानी के लिए कही नही जा सकते, इतना ही नही, पर स्वाध्याय भी नही कर सकते। शौच जाना आवश्यक माना गया है लेकिन क्षमापणा किये बिना साधु शौच भी नही जा सकते। सब से पहले अपने आत्मा मे दूसरो की तरफ से असमाधि उत्पन्न हुई हो उसे दूर करो फिर भले ही दूसरा काम करो। जब तक असमाधि दूर न हो दूसरा कोई काम मत करो।

तुम्हारे घर मे आग लगी हो तो पहले आग बुझाने का प्रयत्न करोगे या कहोगे कि पहले भोजन कर ले और फिर आग बुझाते रहेगे? तुम तत्काल सब काम छोडकर पहले आग बुझाने का ही प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार शास्त्र कहता है, हे साधुओ! तुम्हारे अन्त करण मे जो भाव–अग्नि लग रही है, उसे सब से पहले शान्त करो। उसके बाद दूसरे काम करो।

कदाचित् कोई कहे कि मैं तो अमुक को खमाता हूँ पर वह मुझे क्षमा नही देता, ऐसी स्थिति मे मै क्या करू? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है–

भिक्खू य अहिगरण कट्टु तं अहिगरण विवसमित्ता विओसइय पाहुडे इच्छा य परो आढाइज्जा इच्छा य परो न आढाइज्जा, इच्छा य परो अब्मुट्ठेज्जा, इच्छा य परो न अब्भुट्ठेज्जा इच्छा य परो वदेज्जा, इच्छा य परो न वदेज्जा इच्छा य परे सभुज्जेज्जा, इच्छा य परो न सभुज्जेज्जा, इच्छा य परो सवसिज्जा, इच्छा य परो न सवसिज्जा, इच्छा य परो उवसमिज्जा, इच्छा य परो न उवसमिज्जा। जो उवसम्मइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसम्मइ नत्थि तस्स आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसम्मिएव, स किमाहु भते! उवसम उवसमसारं सामण्ण। –बृहत्कल्पसूत्र

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह हे कि जिसके साथ तुम्हारी अनबन या बोलचाल हा गई हो उसकी इच्छा हो तो तुम्हारा आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे उनकी इच्छा हो तो तुम्हे वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना

न करे' उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो साथ भोजन न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ रहे, इच्छा न हो तो साथ न रहे, उसकी इच्छा हो तो उपशात हो जाय, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो। तुम उसके इन कृत्यो को मत देखो, अपनी ओर से क्षमायाचना कर लो। तुम तो अपनी ओर ही देखो। दूसरा खमाता है या नहीं, यह देखने की आवश्यकता नहीं। तुम तो अपने अपराध के लिए क्षमा माग लो और उसके अपराध के लिए अपनी ओर से क्षमा कर दो। वह तुम्हारा अपराध क्षमा करे या न करे, तुमसे क्षमायाचना करे या न करे, मगर तुम अपनी ओर से तो क्षमा माग ही लो और क्षमा दे भी दो।

यह कथन सुनकर शिष्य ने भगवान् से पूछा—भगवान्! ऐसा किस लिए करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—श्रमणता का सार उपशान्त होना है, अत तुम उपशान्त हो जाओ।

शास्त्र मे यह कहकर साथ ही यह भी कहा है कि तुम उसे खमाओ और वह तुम्हे न खमावे तो तुम उसकी निन्दा मत करो। अगर तुम उसे खमाकर उसकी निन्दा करते हो तो समझना चाहिए कि तुमने सच्चे रूप मे खमाया ही नही है। वह नही खमाता तो उसके कर्म भारी होगे, मगर तुम तो अपनी ओर से क्षमापणा करके उपशान्त हो जाओ। अगर तुम हृदयपूर्वक दूसरे से खमाते हो तो तुम आराधक ही हो।

कहने का आशय यह हे कि कोई दूसरा खमावे या न खमावे लेकिन तुम तो दूसरे को खमा ही लो। अगर तुम दूसरे को खमा लेते हो तो तुम अपने हृदय की कलुषता दूर करते हो। जिस के चित्त की कलुषता दूर हो जाती है उसका चित्त प्रसन्न हो जाता हे। योगसूत्र मे कहा हे—

'भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

अर्थात्—भावना से चित्त को प्रसन्नता प्राप्त होती हे। चित्त का प्रसन्न करने वाली भावनाए चार हे—करुणाभावना, मध्यस्थभावना, प्रमोदभावना ओर मेत्रीभावना। क्षमापणा करने से मेत्रीभावना प्रकट हाती हे। दूसरे क साथ वेरविरोध या क्लेश—ककास हो गया हो तो उससे क्षमा का आदान—प्रदान करके हृदय मे मेत्रीभावना प्रकट करनी चाहिए। ऊपर—ऊपर स क्षमापणा की जाये तो वह सच्ची मेत्रीभावना नही हे।

भगवान् कहते ह—क्षमापणा करने स हृदय का पश्चाताप आर क्लेश—कलह मिट जाता ह तथा हृदय मे प्रसन्नता एव प्राणीमात्र क प्रति मेत्रीभावना उत्पन्न होती ह। इस प्रकार क्षमापणा द्वारा प्रसन्नता आर मेत्री भावना प्रकट हो जाने के फलस्वरूप किसी प्रकार का भय नही रह जाता अर्थात् निर्भयता प्राप्त होती हे।

भगवान् ने क्षमापणा का यह फल बतलाया है मगर इस फल की प्राप्ति उन्हे होती है जो सच्चे हृदय से क्षमायाचना करते हैं और क्षमादान करते है। केवल प्रथा का पालन करने के लिए क्षमा मागना और देना एक बात है और हृदय से क्षमा का आदान–प्रदान करना दूसरी बात है। किस प्रकार हृदय से क्षमायाचना की जाती है और दी जाती है, इस विषय मे एक प्रसिद्ध उदाहरण देना उपयोगी होगा।

सोलह देशो के महाराजा उदायन की स्वर्णगुटिका नामक दासी को उज्जैन का राजा चडप्रद्योत चुरा ले गया। दासी चुराई गई है, यह बात उदायन के कानो मे पडी फिर भी श्रावक होने के कारण उसने चडप्रद्योत को सहसा दड देने की व्यवस्था नही की। उसने दासी को लौटा देने का सन्देश चडप्रद्योत के पास भेजा। उदायन के इस सदेश के उत्तर मे अभिमान से भरे चडप्रद्योत ने कहला भेजा–

'हम राजा है। रत्नभोक्ता है। श्रेष्ठ रत्न प्राप्त करके भोगने का हमे अधिकार है। दासीरत्न को हम अपने बलबूते पर ले आये है। क्षत्रिय किसी चीज की याचना करना नही जानते। हम अपनी शक्ति के भरोसे दासीरत्न लाये है और उसे लौटा नही सकते। अगर उदायन राजा मे शक्ति हो तो वह अपनी दासी को वापिस ले जावे। मागने से दासी नही मिल सकेगी।'

चडप्रद्योत ने अपने सैन्य बल के अभिमान मे मस्त होकर यह उत्तर दिया। उदायन ने चडप्रद्योत का यह उत्तर सुनकर कहा–'चोरी करना क्षत्रियो का धर्म है। और मागना क्षत्रियो का धर्म नहीं है। उसने मुझे कायर समझा होगा, मगर देखता हूँ वह दासी को कैसे नहीं सौपता। यह कहकर उदायन ने चडप्रद्योत के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया।

अपने निश्चय के अनुसार उदायन राजा ने उज्जैन पर चढाई कर दी और उज्जैन पर विजय प्राप्त करके चडप्रद्योत को कैद कर लिया। उदायन राजा विजय प्राप्त करके अपने देश की ओर लौट रहा था कि सवत्सरी पर्व निकट आने पर उसकी आराधना करने के लिए दशार्णपुर (वर्त्तमान मन्दसौर) नगर मे ठहर गया। उदायन ने अपनी सेना से कहा– 'कल मेरा महापर्व है। मै उस पर्व मे आराधना करूगा और प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव धारण करूगा। अतएव इस बात का ख्याल रखना कि कल किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। सेना से यह कहकर उसने अपने रसोइये को बुलाया और चडप्रद्योत की ओर सकेत करके कहा 'यद्यपि इस समय यह मेरे कब्जे मे है फिर भी राजा है। अत कल इनकी इच्छा के अनुसार भोजन की व्यवस्था करना और ध्यान रखना कि इन्हे किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। मै कल सवत्सरी–पर्व की आराधना करूँगा।'

चडप्रद्योत को पता था कि उदायन राजा सवत्सरी के दिन सब जीवो के प्रति मैत्रीभाव धारण करके, सबसे क्षमायाचना करते है और उदारभाव से क्षमादान देते है। उसने सोचा– बस, कल का दिन ही मेरे लिए बन्धन से मुक्त होने के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार विचारकर चडप्रद्योत ने उदायन से कहा– 'कल मैं भी आपके साथ सवत्सरी महापर्व की आराधना करूँगा और आपके साथ ही पौषध करूगा।' उदायन ने कहा। 'आपने पहले कभी पौषध नही किया है, अत कष्ट होगा। बलात्कार से किसी से धर्म करवाना धर्म नही कहा जा सकता। इसलिए पोषध करने के विषय मे अच्छी तरह विचार कर लो।' चडप्रद्योत बोला–'आप पोषध करेगे और मैं नही कर सकूँगा? नही, मै भी आपके साथ पौषध करूँगा।' उदायन ने कहा–'तो जैसी आपकी इच्छा।

उदायन ओर चडप्रद्योत ने एक ही जगह और एक ही विधि से पोषध व्रत अगीकार किया, मगर दोनो के भाव जुदा–जुदा थे। सध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण किया ओर समस्त जीवो से क्षमायाचना की। चडप्रद्योत ने भी इसी प्रकार किया। जब उदायन ने सब जीवो के प्रति क्षमायाचना की तव चडप्रद्योत पास ही था। उदायन ने उससे कहा–'ससार बहुत विपम हे ओर यहा साधारण बात मे भी क्लेश हो जाता है। तुम्हारे साथ जो युद्ध हुआ वह भी साधारण सी बात के लिए ही था। में हृदय से चाहता था कि किसी प्रकार युद्ध टल जाये, लेकिन तुमने जो उत्तर दिया उसने राजकर्तव्य की रक्षा क लिए मुझे युद्ध करने के लिए विवश कर दिया। मेरे लिए क्षत्रियधर्म ओर राजनीति का पालन करना आवश्यक था ओर इसी कारण तुम्हारे साथ युद्ध करना पडा ओर तुम्हे कष्ट देना पडा। ससार सम्बन्धी प्रपच के कारण ही तुम्हे कष्ट देना पडा, लेकिन उस कष्ट के लिए अब म क्षमायाचना करता हू।'

अगर अपराध था तो चडप्रद्योत का ही था, फिर भी उदायन न उसके लिए क्षमा मागी। जेनधर्म कहता हे–तू अपना अपराध देख, दूसरा का मत देख। अगर तू दूसरो के अपराध देखेगा तो दूसरो स क्षमा नही माग सकेगा और न उन्हे क्षमा दे ही सकेगा। इसलिए तू अपने ही अपराधा की ओर दृष्टिपात कर ओर उनके लिए क्षमाप्रार्थी वन। चडप्रद्योत न उदायन का कितना अपराध किया था? किसी ने तुम्हारा भी तो अपराध किया होगा परन्तु वह चडप्रद्योत जसा शायद ही हा। फिर क्या तुम दूसरा क अपराध क लिए भी क्षमा नही कर सकते? तुम दूसरो के अपराध न दखकर अपन ही अपराध को देखो ओर सबसे क्षमायाचना करके प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित करो।

उदायन ने कहा–मैने आपको कैद किया और आपका राजपाट छीन लिया है, इस अपराध के लिए मुझे क्षमा दीजिए।

इसे कहते है क्षमापणा! इस प्रकार की सच्ची क्षमापणा ही हृदय को प्रसन्नता प्रदान करती है। उदायन के मन मे यह अभिमान आना स्वाभाविक था कि मैं मालव–नरेश को जीत कर कैद कर लाया हूँ। मगर नही, उसने यह अभिमान नही किया, यही नही वरन् अपनी इस विजय को पश्चात्ताप का कारण बनाया।

चडप्रद्योत को पहले मालूम हो गया था कि सवत्सरी का दिन ही इस बन्धन से मुक्त होने का स्वर्ण अवसर है। अतएव उसने उदायन के कथन के उत्तर मे कहा–'महाराज! इस प्रकार क्षमायाचना करने से मुझे किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? आखिर तो मै भी क्षत्रिय राजा हूँ। इस समय मै राजपद से भ्रष्ट होकर कैदी जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस स्थिति मे मेरे हृदय मे कैसे भाव उठते होगे? पदभ्रष्ट राजा कैद करने वाले को किस प्रकार क्षमा कर सकता है? उसका हृदय तो सताप से धधकता रहता है। फिर भी ऊपर से क्षमा करना तो एक प्रकार का दम्भ कहा जा सकता है। मैं इस प्रकार का दम्भ नही करना चाहता।'

चडप्रद्योत की इस बात पर उदायन को क्रोध आ सकता था, मगर उदायन ने अपने मन मे सोचा–इसका कहना तो ठीक है। उसने चडप्रद्योत से कहा–'मै तुम्हारा अभिप्राय समझता हू। वास्तव मे तुम अपने पद से भ्रष्ट हो गये हो और इस समय मेरी कैद मे हो, अतएव तुम्हारे हृदय मे शान्ति कैसे हो सकती हैं? इस समय तो मैं कुछ नही कर सकता, लेकिन विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ मैने तुम से जीत लिया है, वह सब तुम्हे लौटा दूँगा और कुछ अधिक भी दे दूँगा। इतना ही नही वरन् तुम्हे पहले की तरह सम्मान भी दूगा। लो, अब तो मेरा अपराध क्षमा करोगे न?'

उदायन की यह उदारता देखकर चडप्रद्योत की आखो मे आसू आ गये। वह अपने मन मे कहने लगा–'कितनी उदारता है!' वस्तुत उदायन की इस प्रकार की उदारता का महत्व चडप्रद्योत ने ही समझा था। उस समय उदायन, चडप्रद्योत को कितना प्रिय लगा होगा, यह तो चडप्रद्योत ही जाने। सीता को राम और दमयन्ती को नल कितने प्यारे लगते थे, सो सीता और दमयन्ती को छोड और कोन अनुमान कर सकता हे।

उदायन इस प्रकार की उदारता प्रदर्शित करके निर्भय हो गया। लोग समझते हे कि जो विजयी होता हे वह निर्भय बन जाता हे ओर पराजित

होने वाला, भयग्रस्त रहता है। पर वास्तविकता ऐसी नही है। विजयी, पराजित से अधिक भयभीत रहता है, क्योकि उसके मन मे सदैव यह शका बनी रहती है कि पराजित शत्रु कही बलवान् होकर वेर भजाने के लिए चढाई न कर दे।

मान लीजिए, एक राजा ने किसी मनुष्य को कैद कर लिया। अव विचार कीजिए, भय किसे अधिक है? राजा को या कैदी को? राजा सदैव भयभीत रहता है कि केदी कही छूट न जाये और वैर का बदला न ले बैठे। इस प्रकार कैदी की अपेक्षा कैद करने वाले को अपेक्षाकृत अधिक भय बना रहता है।

तुम धनवान हो और हमारे पास धन नही है। विचार करो भय किसे ज्यादा है? तुम्हे भय है या हमे? धन होने के कारण तुम दिन–रात भय से व्याकुल रहते हो। भयजनक धन का त्याग करने पर ही तुम निर्भय बन सकते हो।

चडप्रद्योत को आश्वासन देकर उदायन निर्भय हुआ। उदायन की यह उदारता देख चडप्रद्योत की ऑखो मे आसू बहने लगे। उसने कहा–मैने आपका अपराध किया और उस पर भी उद्दण्डतापूर्वक उत्तर दिया। इसी कारण आपको इतना कष्ट सहन करना पडा, फिर भी आपकी उदारता धन्य है! आपकी इस उदारता से मे इतना प्रभावित हू कि अब अगर आप मुझे कुछ भी न लोटाए तो भी मेरे हृदय मे आप के प्रति वेरविरोध नही है।

सवत्सरी के दूसरे दिन उदायन ने चडप्रद्योत को मुक्त करते हुए कहा–यह सवत्सरी महापर्व का ही प्रताप हे कि तुम मेरे हृदय को पहचान सके और मैं तुम्हारे हृदय को परख सका। सवत्सरी पर्व का सुअवसर न आया होता तो हम लोग एक–दूसरे के हृदय को न जान पाते।

चडप्रद्योत को साथ लेकर उदायन अपने राज्य मे आया। वहा उसने अपनी कन्या उसे ब्याह दी। उसने कन्यादान मे जीता हुआ और कुछ अपना राज्य चडप्रद्योत को दे दिया तथा वह सुवर्णगुटका दासी भी दे दी।

इसे कहते हैं क्षमापणा! क्षमा के आगे किसी भी प्रकार का वेर–विरोध या क्लेश–कलह नही ठहर सकता। तुम क्षमापणा तो करते हो, मगर जिस के साथ क्षमापणा करते हो, उसके प्रति वेरभाव तो अवशेष नही रहने देते? हृदय से की हुई क्षमापणा के सामने वेर–विरोध केसे टिक सकता हे? भगवान कहते हे सच्ची क्षमापणा करने वाला ही मेरा आराधक हे। अतएव सच्चे आराधक बनने के लिए सच्ची क्षमापणा करो। सच्चे हृदय से क्षमापणा करोगे तो तुम्हारा कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

अठारहवां बोल

स्वाध्याय

स्व–पर के कल्याण–साधन के लिए शास्त्र मे अनेक उपाय बतलाये है। क्षमापणा भी उनमे से एक उपाय है। पिछले प्रकरण मे उस पर विचार किया गया है। अब स्वाध्याय को कल्याण का सोपान गिन कर उस पर विचार किया जाता है। स्वाध्याय के सम्बन्ध मे भगवान् से इस प्रकार प्रश्न पूछा गया है–

मूलपाठ

प्रश्न 18–सज्झाएण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 18–सज्झाएण णाणा वरणिज्ज कम्म खवेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न– भगवान्! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–स्वाध्याय करने से जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का क्षय करता है।

व्याख्यान

स्वाध्याय पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि क्षमापणा और स्वाध्याय के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है? स्वाध्याय और क्षमापणा का सम्बन्ध बतलाते हुए टीकाकार कहते है कि स्वाध्याय करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है चित्त के विकार दूर करने की। लोक मे कहावत है कि प्रत्येक शुभ कर्म मे स्वच्छ होकर प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव शुद्ध होकर स्वाध्याय करना उचित है, मगर वह शुद्धता बाह्य नही आन्तरिक भी

होनी चाहिए। ससार मे बाह्य स्वच्छता देखी जाती हे आन्तरिक स्वच्छता उतनी नजर नही आती। मगर वास्तव मे आन्तरिक स्वच्छता की वडी आवश्यकता है। आन्तरिक स्वच्छता क्षमापणा द्वारा होती है। क्षमापणा आन्तरिक मैल को दूर कर, अन्तरग को स्वच्छ बनाने का सुन्दर से सुन्दर साधन है। क्षमापणा द्वारा आन्तरिक शुद्धि करने के पश्चात् निकम्मा नही बेठे रहना चाहिए, वरन् स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय करने से क्या लाभ होता है? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– हे शिष्य! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का क्षय होता है।

अब विचार करना है कि स्वाध्याय का अर्थ क्या है? सु+अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय स्वाध्याय कहलाता है। अध्याय का अर्थ है–पठन–पाठन। मगर पठन–पाठन तो कामशास्त्र आदि का भी हो सकता है। मगर यहा ऐसे पठन–पाठन का प्रकरण नही है। यह बात बतलाने के लिए 'अध्याय' शब्द के साथ 'सु' उपसर्ग लगाया गया है। 'सु' उपसर्ग का अर्थ सुष्ठु या श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ होता है– श्रेष्ठ पठन–पाठन। जेन शास्त्र के अनुसार वीतराग द्वारा कथित शास्त्र का, आगम का पठन पाठन करना स्वाध्याय हे। दूसरे द्वारा रचे ग्रन्थो या शास्त्रो का पठन पाठन करने से कभी–कभी भ्रम मे पड जाने का अन्देशा रहता हे, मगर वीतराग कथित आगम के पठन–पाठन से भ्रम मे पडने का कोई भय नही रहता। जिनवाणी का अध्ययन करने से आत्मा का कल्याण ही होता हे, अकल्याण नही हो सकता।

शास्त्रकारो ने स्वाध्याय के पाच भेद बतलाये हैं–(1) वाचना (2) पृच्छना (3) पर्यटना (4) अनुप्रेक्षा ओर (5) धर्मकथा। स्वाध्याय के यह पाच भेद हैं। सूत्र जेसा हे उसे वेसा ही पढना वाचना हे, परन्तु यह सूत्रवाचना गुरुमुख से ही लेनी चाहिए। गुरुमुख से वाचना न ली जाये तो प्रायश्चित आता हे। इस प्रकार गुरुमुख से ली जाने वाली वाचना स्वाध्याय का पहला भेद हे।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना हे। गुरुमुख से जो वाचना ली गई हे उसके विषय मे पूछताछ करना पृच्छना हे। जेसे जानवर देख–परख बिना घास खा जाता हे, उसी प्रकार देखे–परखे बिना सूत्र नही वाचना चाहिए। उसके विषय मे हृदय मे तर्क–वितर्क अथवा पूछताछ करना चाहिए। एसा करने से किसी को किसी प्रकार की शका ही नही रहगी। हृदय म उत्पन्न हुई शका को शका के ही रूप म नही रहन दना चाहिए, वरन् उस दूर करन

के लिए पूछताछ अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की पूछताछ करने को ही पृच्छना कहते है।

जो वाचना गुरुमुख से ली गई है और जिसके विषय मे पृच्छना करके हृदय की शका दूर की गई है, उस सूत्रवाचना को विस्मृत न होने देने के लिए परिवर्तन करते रहना चाहिए। सूत्रवाचना का परावर्त्तन करना स्वाध्याय का तीसरा भेद है।

स्वाध्याय का चौथा भेद अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का अर्थ तत्त्व का विचार करना है। सूत्रवाचना के विषय मे तात्त्विक विचार करना अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार सूत्रवाचना पृच्छना पर्यटना और अनुप्रेक्षा करने के बाद धर्मकथा करने का विधान किया गया है।

स्वाध्याय का स्पष्ट अर्थ करते हुए टीकाकार कहते है–

यत् खलु वाचनादेरासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम्।
धर्मकथान्त क्रमशः तत् स्वाध्याये विनिर्दिष्टः।।

अर्थात्–वाचना, पृच्छना से लेकर धर्मकथा पर्यन्त का विधिपूर्वक सेवन करना स्वाध्याय है।

टीकाकार ने वाचना आदि के विधिपूर्वक सेवन को स्वाध्याय कहा है। तो फिर स्वाध्याय की विधि क्या है, यह भी जानना चाहिए। मगर अन्य ग्रन्थो मे स्वाध्याय का कैसा महत्व बतलाया गया है, यह जान लेना आवश्यक है। योगसूत्र मे स्वाध्याय का महत्व प्रकट करते हुए कहा है–

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोग·।

अर्थात्– स्वाध्याय से इष्ट देवता का सप्रयोग होता है। मूलसूत्र मे तो सिर्फ यही कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता की कृपा होती है, मगर भाष्यकार इससे भी आगे बढकर कहते हैं कि स्वाध्याय करने वाले मनुष्य का दर्शन करने के लिए देवता भी दौड आते हैं और इस बात का ध्यान रखते है कि स्वाध्याय करने वाले की भावना किस प्रकार पूर्ण हो।

स्वाध्याय की विधि क्या है? और किस उद्देश्य से स्वाध्याय करना चाहिए? किसान खेत मे बीज फैकता है सो केवल फैक देने के उद्देश्य से ही वह नही फेकता है। एक दाने के अनेक दाने उत्पन्न करने के लिए वह बीज फेकता है। स्वाध्याय करने वाले को भी यह बात सदैव स्मरण मे रखनी चाहिए कि मै स्वाध्याय करके हृदय–क्षेत्र मे जिस बीज का आरोपण करता हू, वह विशेष रूप फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हू। अतएव मैं जेसे तेसे गलत स्वाध्याय न करू वरन् स्वाध्याय के द्वारा जो बात ग्रहण की गई है,

उसी के अनुसार व्यवहार करू। इस प्रकार सक्रिय स्वाध्याय करने से ही स्वाध्याय के फल की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध मे एक उदाहरण और दिया जाता है। जैसे फल की प्रप्ति के लिए ही वृक्ष की जडे सीची जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करने रूप फल प्राप्त करने के लिए ही स्वाध्याय किया जाता है। अतएव स्वाध्याय करने मे सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं वृक्ष को सीच तो रहा हूँ, मगर कही ऐसा न हो कि मैं फल से वचित रह जाऊ। मै दूसरो को सुनाने के लिए स्वाध्याय करूँ और लोग भी मेरी प्रशसा करे, मगर मै जैसा का तैसा ही न रह जाऊँ। मुझसे ऐसा न हो कि मूल को सीचने पर भी मुझे फल प्राप्त न हो। मुझे इस बात का ध्यान होना चाहिए कि मै शास्त्र का स्वाध्याय करके जिस धर्मरूपी कल्पवृक्ष का सीचन कर रहा हूँ, उसका फल ज्ञानावरण कर्म का क्षय होना है, अतएव वह फल मुझे प्राप्त करना है। इस बात पर लक्ष्य रखते हुए ही मुझे स्वाध्याय करना चाहिए।

दर्पण के ऊपर का मैल इसीलिए साफ किया जाता हे कि मुह भलीभाति दिखलाई दे सके यह माना जाता है कि जिस दर्पण मे मुह ठीक–ठीक दिखाई पडे वह दर्पण साफ हे। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता हे कि जिस स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो, वही सच्चा स्वाध्याय है।

प्राचीन काल मे विद्यार्थी जब विद्याध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से विदाई लेते थे, तब गुरु उन्हे यह शिक्षा देते थे–'हे शिष्यो! स्वाध्याय करने मे प्रमाद मत करना। स्वाध्याय द्वारा जो वस्तु हितकारी प्रतीत हो उसे स्वीकार करना ओर जो अहितकर प्रतीत हो उसे त्याग देना। स्वाध्याय से धर्म का भी स्वरूप विदित होता हे ओर अधर्म का भी। इन दोनो मे से धर्म को स्वीकार करना ओर पाप का परित्याग करना चाहिए। दीपक के प्रकाश म अच्छी वस्तु भी देखी जा सकती हे ओर सॉप–विच्छू वगेरह भी देख जा सकते ह। मगर अच्छी वस्तु देखकर ग्रहण की जाती हे ओर खराब वस्तु देखकर छाड दी जाती हे। दीपक के प्रकाश से अगर सॉप दिखाई देता हे तो लाग साप स दूर भाग जाते ह ओर यदि कोई अच्छी चीज नजर आती हे ता उस ग्रहण कर लेते ह। इसी प्रकार स्वाध्याय से अच्छी बात भी मालूम हाती ह आर बुरी वाते भी जानने मे आती हें। इन दोना अच्छी–वुरी बाता म स, ह शिष्या! अच्छी बात ग्रहण करो ओर वुरी वात त्याग दो।'

आप भी व्याख्यान सुनते है, मगर व्याख्यान सुनकर जो वस्तु लाभप्रद प्रतीत हो उसे अपनाने मे ही व्याख्यान सुनने की सार्थकता है और तभी व्याख्यान श्रवण स्वाध्याय रूप कहा जा सकता है। व्याख्यान सुनकर वाह-वाह करने मे ही रह गये और जीवन मे कुछ भी न अपनाया तो व्याख्यान सुनने मे क्या लाभ है?

कल्पना कीजिए, आपके पूर्वजो ने आपके घर मे सम्पत्ति गाड रखी है। यह बात आपको मालूम है, लेकिन आवश्यकता के अवसर पर भी वह आपके हाथ नही लगती। इतने मे कोई सिद्ध-योगी आकर आपकी सम्पत्ति आपको बतला दे तो आपको कितनी प्रसन्नता होगी? इसी प्रकार इस शरीर मे अनन्त गुणो वाला आत्मा विराजमान है। अगर कोई इस आत्मा का दर्शन आपको करा दे तो क्या आप को प्रसन्नता नही होगी। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म नष्ट होता है और ज्ञानावरण के नाश से आत्मा का दर्शन हो सकता है। अतएव स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करके आत्मा का दर्शन करो। ज्ञानीजन कहते हैं-आत्मा अनन्त गुण वाला और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। आत्मा के गुण इस मानव शरीर द्वारा ही प्रकट किये जा सकते है। आपको पुण्ययोग से मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, इसलिए आत्मा के उन गुणो को एव शक्तियो को प्रकट करने का प्रयत्न करो। केवल शरीर देखकर ही न रह जाओ। सुना है अमेरिका मे, मनुष्य की आकृति की मछली भी होती है मगर आप मनुष्य है, मछली नही हैं। यह बात तो तभी प्रतीत होगी जब आप अपने जीवन मे मनुष्यता प्रकट करेगे। जीवन मे मनुष्यता प्रकट करने के लिए और अपनी मनुष्यता सिद्ध करने के लिए आपको विचारना चाहिए कि-हे आत्मन्! तुझे यह मानव शरीर मिला है और ऐसे धर्मगुरुओ का सुयोग प्राप्त हो गया है। फिर भी अगर अपनी शक्ति को प्रकट नही करेगा तो कब करेगा? इस प्रकार विचार कर स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट करके आत्मा का स्वरूप पहचानो और आत्म शक्ति प्रकट करो।

तपस्वी मुनि श्री रघुनाथ जी महाराज फक्कड साधु थे। वह एक बार जोधपुर मे थे तब जोधपुर के सिघीजी ने उनकी प्रशसा सुनी और उनके दर्शन करने आये। रघुनाथ जी महाराज ने सिघीजी से पूछा-आप कुछ धर्मध्यान करते है या नही? सिघीजी ने उत्तर दिया-'महाराज! पहले बहुत

धर्मध्यान किया है, उसके फलस्वरूप सिंघी सरीखे उत्तम कुल मे जन्म पाया है, पैर मे सोने का कडा पहनने को मिला है, जागीर मिली है, हवेली हे ओर अच्छे कुल की कन्याए भी प्राप्त हुई हैं। ऐसी स्थिति मे पहले किये पुण्य का फल भोगे या अब नया करने बैठे।'

तपस्वीजी ने उत्तर दिया—सिंघीजी, यह सब तो ठीक हे कि आपने पहले जो धर्मध्यान किया है, उस का फल आप भोग रहे हैं। मगर यदि भविष्य के लिए धर्मध्यान न किया और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म धारण करना पडा तो आप को उस हवेली मे कौन घुसने देगा?

सिंघीजी—महाराज! ऐसी अवस्था मे तो हवेली मे कोई नही घुसने देगा।

तपस्वीजी—इसीलिए हम कहते हे, कि भविष्य के लिए धर्मध्यान करो।

म भी आप से यही कहता हू कि आपको उत्तम मनुष्यजन्म, उत्तम जेनधर्म, उत्तम धर्मक्षेत्र आदि का सुयोग मिला हे। इस अनमोल अवसर का लाभ उठाकर आत्मकल्याण साधो। इसी मे कल्याण हे। दूसरे आत्मकल्याण की साधना करे या न करे, उस पर ध्यान न देते हुए आप अपना कल्याण करने मे प्रयत्नशील रहे।

कहने का आशय यह हे कि स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करना हे। कोई कह सकता हे कि हमे शास्त्र वाचना नही आता। ऐसी स्थिति मे शास्त्र का स्वाध्याय किस प्रकार करे? ऐसा कहने वाले लोगो से यही कहा जा सकता हे कि अगर आपको शास्त्र पढना नही आता तो कम से कम णमोकारमन्त्र तो आप भी जानते हे? आप उसका जाप और आवर्त्तन वगैरह करे। णमोकारमन्त्र का आवर्त्तन करना भी स्वाध्याय ही हे। अन्य लोगो के कथनानुसार वेदाध्ययन या ओकार का जाप करना स्वाध्याय है। इसी प्रकार आप यह समझे कि द्वादशाग रूप जिन वाणी का पठन–पाठन करना या णमोकार का जाप करना भी स्वाध्याय है। अगर आप शास्त्र का स्वाध्याय नही कर सकते तो णमोकारमत्र का जाप रूप स्वाध्याय करे इससे भी कल्याण होगा।

शास्त्र मे स्वाध्याय नन्दन वन के समान बतलाया गया है। जो पुरुष स्वाध्याय द्वारा नन्दन वन सरीखा आनन्द लेता होगा वह दूसरी झझटो मे नही

पडेगा। मनुष्य जब व्यग्र हो जाता है तब व्यग्रता दूर करने के लिए बाग का आश्रय लेता है। इसी प्रकार ससार के प्रपचो से घबराने वाला स्वाध्याय का ही शरण लेगा और फिर दूसरे प्रपचो मे नही पडेगा। अगर आप व्यर्थ के प्रपचो मे पडना छोड स्वाध्याय का आनन्द ले तो आपको मालूम हो कि स्वाध्याय मे कैसा आनन्द है। पुरुषो की अपेक्षा बहिनो को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योकि उनकी आदत व्यर्थ के प्रपचो मे पडने की ज्यादा होती है, ऐसा देखा जाता है। बहिने अगर ऐसे प्रपचो मे पडना छोड दे तो वे पुरुषो का भी सुधार कर सकती है। अतएव बहिने सासारिक प्रपचो मे न पडकर परमात्मा के भजन रूप स्वाध्याय से आनन्दित रहे तो वे अपना और पराया अकल्याण रोक सकती है और कल्याण मार्ग मे प्रवृत्त हो सकती है।

उन्नीसवां बोल

वाचना

स्वाध्याय भी परमात्मा की प्रार्थना करने का एक साधन है। पिछले प्रकरण मे स्वाध्याय के पाच भेद बतलाये गये है। अब शास्त्रकार स्वाध्याय के प्रत्येक भेद पर विचार करते हैं। स्वाध्याय से जीव का क्या लाभ होता है, इस विषय पर समुच्चय रूप मे विचार किया जा चुका है। परन्तु इस प्रकार सामान्य रूप से कही हुई बात कभी–कभी साधारण लोगो की समझ मे नही आती। इसी कारण स्वाध्याय के प्रत्येक भेद के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार किया जाता हे। मनुष्य कहने से सभी मनुष्य का समावेश हो जाता है, फिर चाहे वह राजा हो, रक हो, गरीब या अमीर हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो। लेकिन साधारण लोग मनुष्य कहने मात्र से मनुष्य के सब भेदो को नही समझ सकते। उन्हे मनुष्य के भेद समझने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद स्पष्ट करके समझाने पडते है। इसी प्रकार स्वाध्याय के सम्बन्ध मे समुच्चय रूप से विवेचन किया गया है, मगर वह विवेचन साधारण लोग नही समझ सकते। इस विचार से स्वाध्याय के भेद करके प्रत्येक भेद के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया गया है। स्वाध्याय का पहला भेद वाचना है। अतएव सर्वप्रथम वाचना के विषय भगवान् से यह प्रश्न किया गया है–

मूलपाठ

प्रश्न 19–वायणाए ण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 19–वायणाए ण निज्जर जणयइ, सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टइ, सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थ धम्म अवलबइ, तित्थ धम्म अवलबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–शास्त्र की वाचना से कर्म की निर्जरा होती है। सूत्र–प्रेम होने से ज्ञान मे वृद्धि होती है और ऐसे सूत्र–प्रेम से तीर्थकरो के धर्म का अवलम्बन मिलता है। तीर्थंकरो के धर्म का अवलम्बन मिलने से कर्म की महान् निर्जरा होती है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है।

व्याख्यान

वाचना के विषय मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि वाचना का अर्थ क्या है? वाचना लेने के योग्य शिष्य को गुरु सिद्धान्त का जो वाचन करता है, उसे वाचना कहते है। वाचना का अर्थ सुगम करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि गुरु उपदेशक या प्रयोजक होकर शिष्य को शास्त्र पढाता है। यही शास्त्र पढाने की क्रिया वाचना कहलाती है।

वाचना लेने वाला शिष्य तो सुपात्र होना ही चाहिए, लेकिन वाचना देने वाले गुरु मे क्या गुण होना चाहिए यह विचार लेना आवश्यक है। वाचना देने वाला अच्छा हो तो वाचना लेने वाले और देने वाले–दोनो को ही लाभ होता है। भगवान् से वाचना के विषय मे यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवान्! वाचना देने वाले को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने पहली बात यह कही है कि वाचना देने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है।

सामान्यरूप से तो निर्जरा मन, वचन और काय इन तीनो से होती ह परन्तु यहा मन द्वारा निर्जरा होने की प्रधानता जान पडती है, क्योकि वाचना देने मे मन को एकाग्र रखना पडता है। कहा भी है–

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।

अर्थात्–मन ही मनुष्यो के बन्ध ओर मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार मन को बन्ध ओर मोक्ष का कारण बतला कर वाचना देने वाले को यह सूचित कर दिया है कि वाचना देने वाले को ऐसा नही मानना चाहिए कि म शिष्य को वाचना दे रहा हू या मैं शिष्य को पढा रहा हूँ, वरन् ऐसा समझना चाहिए कि मे सूत्र की वाचना देकर अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हू। ऐसा मानकर शिष्य को सूत्र की वाचना देने से वाचना देने वाले को अत्यन्त आनन्द होता ह, यही नही उसमे कायरता नही आती ओर साथ ही उसका उत्साह भी भग नही होता। इसका कारण यह हे कि इस स्थिति मे

सूत्र वाचना देने के कार्य को वह दूसरे का कार्य नही समझेगा बल्कि अपना ही कार्य समझेगा और अपने–अपने लाभ के कार्य मे जेसा आनन्द ओर उत्साह रहता है वैसा आनन्द ओर उत्साह दूसरे के कार्य मे नही रहता। उदाहरणार्थ–एक काम आपका नोकर करता हे ओर दूसरा काम आपका पुत्र करता है। इन दोनो मे से आपके पुत्र के मन मे काम के समय जैसा उत्साह होगा, वैसा उत्साह नोकर के मन मे नही होगा, यह स्वाभाविक हे। ऐसा होने का कारण भावना की भिन्नता हे। नोकर की भावना तो यही होती हे कि यह पराया काम है। पुत्र उसे अपना ही काम समझता हे। इस प्रकार भावना मे अन्तर होने से उत्साह मे भी अन्तर पड जाता हे। उत्साह होने से कार्य अच्छा होता हे। उत्साह के अभाव मे वेसा नही होता।

कहने का आशय यह है कि जैसे दूसरो के कामो को अपने ही काम मानने से उन्हे करने मे उत्साह अधिक रहता हे, उसी प्रकार वाचना देने के कार्य को अपना ही समझने से आत्मा मे उत्साह आता हे। इसी उद्देश्य से यह कहा गया हे कि वाचना देने का कार्य अपना ही समझना चाहिए।

सद्गुरु जैसी शिक्षा दे सकता हे वैसी शिक्षा भाडे का शिक्षक नही दे सकता। सद्गुरु की शिक्षा हृदय मे जेसी पेठ जाती हे, भाडे के शिक्षक की वेसी नही पेठ सकती। वेज्ञानिको का कथन हे कि छोटी उम्र के बालको के हृदय मे माता–पिता की शिक्षा के जेसे सस्कार पडते हैं, वैसे सस्कार बडे होने पर ही पड सकते। अगर माता–पिता सुसस्कारी हो तो बालको के अन्त करण मे शिक्षा के अच्छे सस्कार अकित कर सकते है। इसी प्रकार गुरु अगर सुसस्कारी हो और वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य माने ओर यह समझे कि शिष्य मेरे कर्मो की निर्जरा करने का साधन हे, अत वह मेरा उलटा उपकारी है, तो गुरू द्वारा दी गई वाचना शिष्य के हृदय मे स्थान बनाये बिना नही रह सकती। ऐसा समझकर शिष्य को वाचना देने वाला महात्मा धन्यवाद का पात्र है।

भगवान् ने कहा है–वाचना देने से एक तो कर्मों की निर्जरा होती है ओर साथ ही साथ सूत्र की अनासातना ओर अनुसृजना होती हे अर्थात् सूत्र की परम्परा जारी रहती हे सूत्र का ज्ञाता अगर दूसरे को सूत्र का ज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान विच्छिन्न हो जाये। इसके विरुद्ध एक दूसरे को सूत्र का ज्ञान देने से सूत्र की परम्परा चालू रहती हे। जो पुरुष सूत्र का ज्ञाता होने पर भी दूसरे को सूत्र का ज्ञान नही देता वह सूत्र का आसातना करता हे, अतएव दूसरे को सूत्र वाचना देते रहने से सूत्र की अनासातना भी होती हे ओर वाचना

देने वाले के द्वारा सूत्र की सृजना भी होती है। किसान बीज बोने के बदले अगर बीज को भी खा जाये तो अन्न की परम्परा आगे तक कैसे चल सकती है? इसी प्रकार सूत्र का जानकार अगर दूसरे को सूत्रज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान की परम्परा किसी प्रकार चल सकती है? जैसे किसान अन्न मे से बीज अलग रख छोडता है और शेष अन्न खाता है, उसी प्रकार स्वय सूत्र का लाभ लेकर दूसरे को भी वाचना देनी चाहिए, जिससे कि सूत्र की परम्परा बराबर चालू बनी रहे।

इसके अतिरिक्त भगवान् कहते है कि सूत्र वाचना देकर सूत्र की अनासातना और सृजना करने वाला तीर्थधर्म का पालन करता है। यहा तीर्थधर्म का मतलब गणधर के आचार से है। सूत्र का कथन तीर्थकर करते है मगर तदनुसार सूत्र की रचना करने वाले और उसकी परम्परा चलाने वाले गणधर है। जिस प्रकार गणधर सूत्रो की परम्परा चलाते हैं उसी प्रकार वाचना देने वाला भी सूत्रो की परम्परा चालू रखता है। इस कारण वह गणधर के आचार का अवलबन करता है–गणधर का कार्य करता है।

गणधरो ने सूत्र की रचना की। अगर वह सूत्र अपने ही पास रख छोडते और दूसरो को वाचना न देते तो क्या आज सूत्र विद्यमान रहते ? मगर गणधर कितने उदार थे? उन्होने सूत्रो की रचना को अपने पास नही छोडा, अपितु शिष्यो को उनकी वाचना दी। गणधरो द्वारा चलाई हुई वाचना की पद्धति का पालन आचार्य भी करते रहे और उसी के फलस्वरूप आज हमारे लिए सूत्र उपलब्ध हैं। अगर आगे इस पद्धति का पालन न किया जाये तो सूत्र का उच्छेद हो जायेगा। अतएव अपने पास जो सूत्र हैं, उनकी वाचना योग्य शिष्य को देनी चाहिए। सूत्र की वाचना देना भी तीर्थधर्म है। अर्थात् वाचना देना गणधर के धर्म का अवलबन करना है।

कल्पना कीजिए, एक नई मोटर तैयार कराई गई है, मगर उसे चलाने वाला कोई ड्राईवर नही है। अगर कोई मोटर न चला सकने वाला उसे चलाने का प्रयत्न करेगा तो सम्भव है वह किसी गड्ढे मे गिरा देगा। इसी कारण मोटर चलाना न जानने वाले को सरकार मोटर चलाने की आज्ञा नही दती। मोटर का तो दृष्टान्त ही समझिए। मेरी मान्यता तो यह है कि मोटर चलने स लाभ के बदले हानि हुई है। मगर इस दृष्टान्त द्वारा मैं यह बतलाना चाहता हू कि जसे ड्राईवर होने पर ही मोटर का उपयोग हो सकता है, ड्राइवर के अभाव मे मोटर बेकार पडी रहती है, इसी प्रकार शास्त्र रूपी मोटर चलाने वाला अर्थात् वाचना देने वाला कुशल और सस्कारी गुरु न हो तो

शास्त्र रूपी मोटर गड्ढे मे गिर जाये ओर उसका परिणाम भयकर हो, यह स्वाभाविक ही है। अतएव जिस प्रकार ड्राईवर मोटर चलाते समय सावधानी रहता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाले गुरु को भी वाचना देते समय पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिए। अगर कुशल ड्राईवर की तरह वाचना देने वाला गुरु कुशल ओर सस्कारी हो तो शास्त्ररूपी मोटर ठीक चल सकती है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार ड्राईवर मोटर चलाने मे सहायक कहा जा सकता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाला भी गणधर के धर्म का अवलम्बन करने वाला है अर्थात् सूत्र की वाचना देने वाला भी तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है।

इससे आगे भगवान् कहते हैं, तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाले की महान् निर्जरा होती है। दूसरे महान् तप से भी जो निर्जरा नही हो सकती, वह निर्जरा स्वाध्याय अर्थात् वाचनारूप तप से होती है। वाचना देना ओर स्वाध्याय करना भी एक प्रकार का तप हे। महान् निर्जरा करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है। महान् निर्जरा मोक्ष प्राप्ति का एक मार्ग है। वाचना देने वाले को वाचना देते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि में सूत्र की वाचना देकर महान् निर्जरा का कार्य कर रहा हूँ और मोक्ष प्राप्ति का कार्य कर रहा हू। ऐसा समझकर वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य मानना चाहिए।

वाचना देते समय कितनी सावधानी रखनी चाहिए ओर क्या समझना चाहिए, यह बात पहले कही जा चुकी हे। मगर वाचना लेने वाले की वाचना लेते समय कितनी सावधानी रखनी उचित हे ओर उस समय उसका कर्त्तव्य क्या हे इस सम्बन्ध मे कहा गया है-

पर्यस्तिकामवष्टम्भ, तथां पादप्रसारणम्।
वर्जयेद्विकथा हास्यमधीयन् गुरुसन्निधौ।।

वाचना देने वाले गुरु के सन्निकट वाचना लेने वाले शिष्य को केसी सावधानी रखनी चाहिए, यह बात इस गाथा मे बताई गई हे। इसमे कहा है-वाचना देने वाले गुरु के समक्ष शिष्यो को अकडकर या हाथ बध करके नही बैठना चाहिए, पैर फैलाकर नही बेठना चाहिए और विकथा तथा हसी-मजाक नही करना चाहिए। वाचना लेने वाला शिष्य इन सब अवगुणो का परित्याग कर दे।

अपने यहा वाचना लेने-देने मे अत्यन्त अन्तर आ गया हे। जेसे आजकल कितने लोग ऐसा मानते हे कि सिद्धान्त की वाचना देते समय पास मे घी का दीपक होना चाहिए। मगर जब सिद्धान्त से भाव-प्रकाश लेना हे तो

वहा द्रव्य–प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? इसके अतिरिक्त दीपक जलाना सावद्य है और शास्त्र निरवद्य है। ऐसी स्थिति मे निरवद्य शास्त्र की वाचना लेते समय सावद्य दीपक की क्या आवश्यकता है? शास्त्र भावरूप वस्तु है। उसकी भाव–पूजा ही हो सकती है। उसकी द्रव्य–पूजा की आवश्यकता नही है।

अब यह भी विचारना चाहिए कि शास्त्र सुनते समय किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए? प्राय देखा जाता है कि शास्त्र की वाचना के समय कुछ लोग दोनो हाथ बाध करके ऐसे बैठे रहते है मानो शास्त्र श्रवण करना कोई काम ही नही है। ऐसे लोगो के हृदय मे शास्त्र का रहस्य कैसे उतर सकता है? एक आदमी सावधान होकर शास्त्र सुनता है ओर दूसरा बेदरकारी के साथ सुनता है। इन दोनो के शास्त्र–श्रवण मे कितना अन्तर है, यह बात बकरी और भैस के पानी पीने के उदाहरण से समझी जा सकती है। बकरी भी पानी पीती है और भैस भी पीती है। मगर दोनो के पीने मे कितना अन्तर है? भैस निर्मल जल को भी गदला करके पीती है, जब कि बकरी निर्मल जल ही पीती है। वह गदला जल नही पीती। शास्त्र–श्रवण करने वाले भी दो प्रकार के है। कुछ लोग बकरी के समान निर्मल शास्त्र–श्रवण का रसपान करते है और कुछ लोग भैंस की भाति शास्त्र–श्रवण को मलीन करके रसपान करते है। जो लोग सावधानी के साथ शास्त्र का श्रवण करते है, वे महान् निर्जरा का कार्य करते है। अतएव शास्त्र सुनने मे पूरी–पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

बीसवां बोल

प्रतिपृच्छना

आत्मा के ऊपर अनादिकाल से जो आवरण चढे हैं, उन्हे दूर करने का एक उपाय स्वाध्याय भी है। स्वाध्याय के पाच भेदो मे से वाचना के विषय मे कहा जा चुका है। वाचना के पश्चात् प्रतिपृच्छना सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता हे। आगम का जो पठन–पाठन किया गया हो उसे उसी रूप मे न रखते हुए उसके सम्बन्ध मे विचार विनिमय करना ओर हृदय मे उठी हुई शका के विषय मे पूछताछ करना प्रतिपृच्छना हे। प्रतिपृच्छना के विषय मे प्रश्न करके यह सूचना दी गई हे कि जिस कथन मे किसी प्रकार की गडबड होती है अथवा जो अपने कथन का पूर्ण रहस्य नही जानता उसे सदेव यह भय बना रहता है कि अगर मेरे कथन के विषय मे कोई व्यक्ति कोई प्रश्न करेगा तो मै क्या उत्तर दूगा? इस तरह जिसके कथन मे किसी प्रकार की पोल या गडबड होती है, उसके कथन के विषय मे अगर कोई पूछताछ की जाये तो उसे भय होता है। किन्तु जेन शास्त्र मे किसी प्रकार की पोल या गडबड नही है। यही बतलाने के लिए कहा गया हे कि, जिस सूत्र की वाचना ली गई है, उसके विषय मे प्रतिपृच्छना अर्थात् पूछताछ या विचारविनिमय करना चाहिए।

कोई मनुष्य किसी को खोटा सोना दे तो वह लेने वाले से यही कहेगा कि यह सोना किसी को बतलाना नही, चुपचाप घर ही ले जाना। हा, सच्चा सोना देने वाला ऐसा नही कहेगा। वह कहेगा यह सोना सच्चा हे या नही इस बात की जाच चाहे जहा कर लेना। इसी प्रकार अगर जेनसिद्धान्त मे कही पोल या गडबड होती तो विचार विनिमय या पूछताछ करने की वात

नही कही होती। मगर जैन सिद्धान्त मे किसी प्रकार की पोल या गडबड नही है, इसीलिए कहा गया है कि–ली हुई सूत्र वाचना मे जो कुछ पूछना हो वह पूछो। इसी प्रकार प्रतिपृच्छना करने से अत्यन्त लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है। जो सूत्रवाचना ली गई है उस विषय मे पूछताछ करने से क्या लाभ होता है, इसी सम्बन्ध मे यह प्रश्न किया गया–

मूलपाठ

प्रश्न 20–पडिपुच्छणयाए णं भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर 20–पडिपुच्छणयाए ण सुत्तत्थ तदुभयाइ विसोहेइ, कखा मोहणिज्ज कम्म वुच्छिदइ।।

शब्दार्थ

प्रश्न– भगवान्! प्रतिपृच्छना से अर्थात् शास्त्रचर्चा से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–प्रतिपृच्छना से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का विशोधन होता और इससे जीव काक्षा मोहनीय कर्म को छेद डालता है।

व्याख्यान

गुरु के सन्निकट ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध मे गुरु से बारम्बार पूछताछ करना या शास्त्रचर्या अथवा विचारविनियम करना पृच्छना है। शास्त्र ओर गुरु का कहना है कि ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध मे पूछताछ करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है प्रतिपृच्छना करने से सूत्र, अर्थ आर सूत्रार्थ की विशुद्धि होती है। जो कोई जिज्ञासु प्रतिपृच्छना करता है वह सूत्र और उसके अर्थ के विषय मे थोडा जानकार होता ही है। अगर वह एकदम अनजान हो तो सूत्र या उसके अर्थ के सम्बन्ध मे क्या चर्चा करेगा! अत अगर कोई सूत्र के विषय मे या अर्थ के विषय मे कुछ–कुछ जानकार हो तभी वह प्रतिपृच्छना कर सकता हे। गुरु से बार–बार उस विषय मे पूछताछ करने से वह जो थोडा–सा जानता है, उसकी विशुद्धि होती है।

अर्थहीन सूत्र ओर सूत्रहीन अर्थ एक प्रकार से व्यर्थ माना जाता है। सूत्र का महत्व अर्थ से ह ओर अर्थ का महत्व सूत्र से हे। सूत्र उच्चारण रूप होता ह और अर्थ उस उच्चारण रूप सूत्र मे रही हुई विशेष वस्तु को प्रकट करता अर्थात् सूत्र का महत्व प्रकट करता हे।

सूत्र किसे कहते है? इस विषय मे टीकाकार कहते हैं–जिन थोडे अक्षरो मे बहुत अर्थगाभीर्य समाया हो, उन अर्थगाभीर्य वाले थोडे अक्षरो को सूत्र कहते है। सूत्र, अर्थ की रक्षा करने के लिए ही होता है। प्रत्येक वस्तु पात्र मे ही टिक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नही हो सकता। तिजोरी हो, मगर धन न हो तो तिजोरी किस काम की? इसी प्रकार धन हो पर तिजोरी न हो तो धन की रक्षा किस प्रकार हो सकती है? ठीक इसी तरह अर्थ के अभाव मे सूत्र किस काम का! और सूत्र न हो तो अर्थ किस काम का? सूत्र से ही अर्थ की रक्षा होती है और अर्थ होने के कारण ही सूत्र का महत्व है। इस प्रकार सूत्र ओर अर्थ दोनो की आवश्यकता हे।

शरीर हो मगर आत्मा उसमे न हो तो शरीर किस काम का? क्या मृत शरीर को भी कोई औषध देता है? इसी प्रकार शरीर–रहित आत्मा को भी दवाई दी जा सकती है? ससारी जीव का आधार शरीर हे और शरीर की स्थिति जीव पर टिकी है। जिस प्रकार जीव को शरीर ओर आत्मा दोनो की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूत्र और अर्थ की भी आवश्यकता हे। जैसे शरीर का महत्व उस मे रहने वाले जीव के कारण ही है, उसी प्रकार सूत्र का महत्व भी अर्थ होने के कारण हे। अर्थ के अभाव मे सूत्र व्यर्थ हे। भगवान् ने कहा है–प्रतिपृच्छना करने से सूत्र और उसके अर्थ की विशुद्धि होती है।

धन की रक्षा के लिए तिजोरी की मजबूती और जीव को आश्रय देने के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक समझा जाता है। इसी तरह शास्त्र के कथनानुसार सूत्र और अर्थ के विषय मे प्रतिपृच्छना करके उसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। इसके सिवाय सूत्र ओर अर्थ हीनाक्षर आदि दोषो से रहित होने चाहिए। वास्तविक सूत्र हीनाक्षर या निरर्थक शब्दो वाले नही होते। हीनाक्षर या निरर्थक शब्द होना सूत्र दोष हे। सूत्र का प्रत्येक अक्षर सार्थक और शुद्ध होना चाहिए।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार बारम्बार शरीर की सार–सभाल की जाती हे उसी प्रकार सूत्रवाचना के विषय मे भी बार–बार पूछताछ करना चाहिए ओर जिस सूत्र की वाचना ली गई हो उसकी भी सभाल रखनी चाहिए। सूत्र की भलीभाति सभाल रखने से ओर सूत्र के सम्बन्ध मे बार–बार पृच्छना करने से सूत्र ओर अर्थ की विशुद्धि होती हे ओर साथ ही साथ काक्षामोहनीय कर्म का नाश भी होता हे।

यहा काक्षा का अर्थ हे–सदेह। 'यह तत्व ऐसे हे या नही' अथवा 'यह सत्य है या असत्य'। इस प्रकार का सदेह उत्पन्न होना मोह का प्रताप

है। अनभिग्रहीत मिथ्यात्व ऐसा होता है कि वह जीव को मालूम नहीं होने देता। मगर ज्ञानीजन कहते है कि यह मोह का ही प्रताप है। वार-वार पूछताछ करने से कांक्षामोहनीय कर्म नष्ट होता है और 'यह तत्त्व ऐसा ही है या 'यह बात ऐसी ही है' इस प्रकार की दृढता उत्पन्न होती है।

किसी बात का निश्चय न होने से अत्यन्त हानि होती है और निश्चय हो जाने से अतीव लाभ होता है। मान लीजिए, कुछ मनुष्य जगल मे जा रहे है। उन्होने वहा सीप का टुकडा देखा। एक ने समझा-यह चादी है। तव दूसरे ने कहा-जगल मे चादी कहाँ से आई? वह सीप होनी चाहिए। इस प्रकार दोनो के अक्षरो मे और अर्थ मे भेद पड गया। बात सदिग्ध ही वनी रही। वह वास्तव मे चादी है या सीप, ऐसा निर्णय नही हुआ। निर्णय न होने से वे दोनो सदेह मे रहे। अगर दूसरा कोई उनसे पूछेगा कि वह चादी है या सीप? तो वे निश्चात्मक रूप मे कुछ भी नही कह सकेगे। उन्होने निश्चय कर लिया होता तो वे स्वय सदेह मे न रहते और दूसरो को भी सदेह मे न डालते।

किसी भी वस्तु मे सदेह रखने और निश्चय न कर लेने से विचार मे ऐसा अन्तर पड जाता है। सभी विद्याओ मे यह बात लागू पडती है। पढे और गुने मे कितना अन्तर होता है, यह तो आप जानते ही है। कहावत प्रसिद्ध है-'पढा है, पर गुना नही।' सूत्र की वाचना पढने और गुनने के विषय मे भी ऐसा ही अन्तर पड जाता है। एक आदमी ने सूत्र तो पढा है किन्तु सूत्र के सम्बन्ध मे उत्पन्न हुए सशय का निवारण नही किया है और दूसरे मनुष्य ने सूत्रवाचना लेकर अपना सशय निवारण कर लिया है। एक मनुष्य सूत्र वाचनाकर सदिग्ध रहता है और दूसरा सूत्र को वाचकर सूत्र और अर्थ के विषय मे पूछताछ करके सन्देहरहित हो जाता है। इस प्रकार दोनो के बीच बहुत अन्तर है।

दूसरे लोग अपने सिद्धान्त की बात कदाचित चुपके से बतलाते हो पर जेनशास्त्र कहता है कि सूत्र सिद्धान्त की बात चुपके-चुपके बतलाना उचित नही। अतएव आपको जो कुछ भी वतलाया जाये उसके विषय मे वार-बार पूछताछ करो और जो कोई शका हो उसका समाधान प्राप्त करो। बहुत वार अनुचित शकाए भी उठती है, लेकिन शका उत्पन्न हो जाने पर भी शका मे ही पडा रहना ठीक नही है। शकाए निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतएव सूत्र की जो वाचना ली हो उसके सम्बन्ध मे वार-बार पूछताछ करनी चाहिए। कोई भी वात किसी विशेषज्ञ से ही पूछी जाती है। इसलिए अपने से अधिक जानकार के कथन पर विश्वास रखकर उससे शका

का समाधान प्राप्त करना चाहिए। विशेषज्ञ के कथन पर विश्वास रखा जाता है। शरीर के विषय मे आप किसी डॉक्टर से ही प्रश्न करेगे।

अगर डॉक्टर को शरीर रोगी कहेगा तो उसके कथन पर आप विश्वास करेगे और उसकी सलाह मानेगे। इसी प्रकार अपने से अधिक ज्ञानी के कथन पर विश्वास किया ही जाता हे। वस्तु के परीक्षक सब लोग नही होते, थोडे ही होते हैं। परन्तु जो लोग वस्तु के परीक्षक नही हैं, वे परीक्षक के कथन पर विश्वास रखकर ही वस्तु ग्रहण करते हैं। रत्न के परीक्षक सब नही होते मगर रत्न का सग्रह कोन नही करना चाहता? सभी लोग रत्नो का सग्रह करना चाहते हे, परन्तु स्वय परीक्षक न होने के कारण रत्न–परीक्षक के कथन पर ही उन्हे विश्वास रखना पडता हे।

जव सभी कार्यों मे अपने मे विशेष जानकार के कथन पर विश्वास किया जाता है तब धर्म की बात पर भी विश्वास क्यो न किया जाये? धर्म की बात मे भी अपने से विशेष ज्ञानी के कथन पर विश्वास रखने की आवश्यकता हे। मगर धर्म के विषय मे प्राय ऐसा होता हे कि शका होने पर पूछताछ नही की जाती और हृदय मे शका को स्थान दिया जाता है। कुछ लोगो का यहा तक कहना हे कि अपने सामने जो भी कुछ आवे, खा जाना चाहिए। इस प्रकार देखे–भाले बिना पशु की तरह किसी भी वस्तु को डकार जाना उचित नही है। खाने मे भी कोई अयोग्य वस्तु आ जाये तो कितनी अधिक हानि होने की सभावना हो सकती है? इसी प्रकार चाहे जो बात बिना सोचे–विचारे मान बैठना भी अनुचित हे। किसी से पूछे–ताछे बिना चाहे जिसे साधु मान लेना भी हानिकर है। अगर कोई नया साधु आवे तो उससे पूछना चाहिए कि आप कौन है? कहा से आये हे? आपका आचार क्या हे? ओर आपका उद्देश्य क्या है? जेनशास्त्र प्रेरणा करते हे कि किसी भी बात को बिना विचारे नही मान लेना चाहिए, बल्कि पूछताछ के पश्चात उचित प्रतीत होने पर ही मानना चाहिए।

प्रतिपृच्छना का अर्थ सदा शकाशील ही बना रहना नही हे, बल्कि जो शका उत्पन्न हुई हो उसका समाधान करने के लिए बार–बार प्रश्न करना चाहिए और हृदय की शका का समाधान कर लेना चाहिए। इस तरह विचारविनिमय या शास्त्रचर्चा करने से हृदय की शका का समाधान कर लिया जाये तो कहा जा सकता है कि इसने प्रतिपृच्छना की है। अगर ऐसा न किया जाये तो यही कहा जायेगा कि या तो पूछने वाले के पूछने मे अथवा वताने वाले के वताने मे कोई त्रुटि हे, या दोनो की समझ मे कोई कमी हे। मान

लीजिए, एक वैद्य ने किसी रोगी को दवा दी। फिर भी रोग दूर न हुआ तो यही कहा जायेगा कि या तो दवा देने वाले मे कोई त्रुटि है या दवा लेने वाले ने दवा का भलीभाति सेवन नही किया, अथवा दी हुई दवा ही ठीक नहीं है। इस पकार प्रतिपृच्छना का फल शका–काक्षा से निवृत्त होना है। अगर शका दूर हो गई तो समझना चाहिए कि प्रतिपृच्छना ठीक की गई है।

आत्मा महान् है। कर्मरहित होने से ही आत्मा परमात्मा बनेगा। इसलिए आत्मा को शकाशील न बनाते हुए पूछताछ करके नि शक बनना चाहिए। जिज्ञासा करके शका का समाधान कर लेना कोई बुरी बात नहीं है परन्तु केवल कुतूहलवृत्ति से शकाए करके अपने आपको शकाशील बनाना अच्छा नही है।

जिज्ञासा पूर्वक शका करना एक प्रकार से अच्छा ही है, और कुतूहलवृत्ति से सशय करना ठीक नही। कहा भी है–

'संशयात्मा विनश्यति।'

अर्थात्–सशयात्मा पुरुष 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की तरह विनाश का पात्र बनता है। शास्त्र मे अनेक स्थलो पर गौतम स्वामी के लिए 'जायससए' कहा गया है अर्थात् गौतम स्वामी को सदेह उत्पन्न हुआ, यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति मे सशय होना अच्छा है या बुरा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शका को शका के रूप मे ही रखना तो दोष है, लेकिन उसका समाधान कर लेना गुण है। जानकारी प्राप्त करने के लिए शका करना छद्मस्थ के लिए आवश्यक है। शका किये बिना अधिक ज्ञान नही प्राप्त हो सकेगा। जिज्ञासा ज्ञानोपार्जन का एक उपाय है। आज विज्ञान का जो आधिपत्य दिखाई देता है उसका आविष्कार शका–जिज्ञासा से ही हुआ है। अलबत्ता व्यर्थ की शकाए करना और सदा शकाशील बने रहना ठीक नही। इससे लाभ के बदले हानि ही होती है। अतएव हृदय मे जो शका उत्पन्न हो उसे प्रश्न करके या शास्त्रचर्चा करके निवारण कर लेना चाहिए। इस प्रकार प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से हृदय की शकाओ का समाधान होता है और आत्मा नि शक बनता है। आत्मा जब नि शक बनता है तभी उसका कल्याण होता है।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

— एक परिचय —

स्थानकवासी जेन परम्परा मे आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा एक महान् क्रातिकारी सत हुए हे। आषाढ शुक्ला अष्टमी, सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पोषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई, जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए है। आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो के सकलित, सम्पादित ग्रथो को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणो का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा हे। इनमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य हे। आज गौरवान्वित है गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि, जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

सस्था द्वारा एक पुस्तकालय का सचालन किया जाता है जिसमे लगभग 5000 पुस्तके एव लगभग 400 हस्तलिखित ग्रथ हे। इसी से सम्बद्ध वाचनालय मे देनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकाए उपलब्ध करवाई जाती हे। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इनसे लाभान्वित होते है। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र मे पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हे ओर क्षेत्र मे अद्वितीय है।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई बुनाई, कढाई–प्रशिक्षण–केन्द्र का सचालन किया जाता हे, जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई, बुनाई कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता हे। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों मे योगदान दे सकती है ओर आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती ह।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयो पर पवचन आयोजित किए जाते है।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया–स्मृति–पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर हे।